दलित आंदोलन और जयप्रकाश कर्दम का साहित्य

(हैदराबाद विश्वविद्यालय की पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध)

2010

शोधार्थी
वेंकट. जी

शोध निर्देशक :

प्रो. वी. कृष्ण

हिन्दी विभाग,
मानविकी संकाय,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद - 500 046

विभागाध्यक्ष :

प्रो. रविरंजन

हिन्दी विभाग,
मानविकी संकाय,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद - 500 046

(Title of the Thesis DALIT ANDOLAN AUR JAYA PRAKASH KARDAM KA SAHITYA.

A thesis submitted during 2010 to the University of Hyderabad in Partial fulfillment of the award of a Ph. D. degree in Department of Hindi.

by

Mr.Venkat G. 04HHPH15

Department of Hindi.
School of Humanities

University of Hyderabad

(P.O.) Central University, Gachibowli

Hyderabad – 500 046

Andhra Pradesh

India

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled "DALIT ANDOLAN AUR JAYAPRAKASH KARDAM KA SAHITYA" submitted by Venkat. G. bearing Reg. No 04HHPH15 in partial fulfillment of the requirements for the award of Doctor of Philosophy in (subject) HINDI is a bonafide work carried out by him/her under my/our supervision and guidance

The thesis has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor/s

//Countersigned//

Ravi Ranjan 20/11/10

Head of the Department/Centre

Head
Department of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
Professor C.R. Rao Road
Central University P.O.
Hyderabad-500 046.

Dean of the School

12.1.11

DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
UNIVERSITY OF HYDERABAD
HYDERABAD - 500 046, A.P. INDIA

DECLARATION

I ____ hereby declare that this thesis entitled "____
____"
submitted by me under the guidance and supervision of Professor/Dr.____________ ________ is a bonafide research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma

Date

Name

Signature of the Student

Regd. No

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन I-V

अध्याय **पृ.सं.**

प्रथम अध्याय

दलित आंदोलन के विभिन्न चरण **1-61**

1.1. जाति-व्यवस्था का उद्‌भव एवं विकास 2

1.1.1. जाति-वर्ण-वर्ग का उत्स : आदिम कबिलाई व्यवस्था 3-4

1.1.2. वैदिक काल में जाति-व्यवस्था 4

1.1.3. आर्य-अनार्य : जाति व्यवस्था 5-8

1.1.4. मनुस्मृति और जाति व्यवस्था 9-10

1.1.5. रामायण एवं महाभारत काल में जाति-व्यवस्था 10-13

1.1.6. सामंती युग और जाति-व्यवस्था 13-14

1.1.7. हिन्दू साहित्य में वर्ण-व्यवस्था 14-20

1.1.8. आधुनिकयुग और जाति-व्यवस्था 20-23

1.2. दलित मुक्ति आंदोलन 23-31

1.3. दलित मुक्ति आंदोलन का आगाज़ : सन् 1857 32-39

1.4. डॉ. अम्बेडकर और दलित आंदोलन 39-42

1.5. महाड आन्दोलन - चवदार तालाब सत्याग्रह और दलित 42-48

1.6. कालाराम मंदिर सत्याग्रह और दलित 48-51

1.7. भारतीय गोलमेज परिषद और दलित 51

1.8. अस्पृश्यता निवारण और दलित 52-55

1.9. आरक्षण और दलित 56-58

1.10. दलित चेतना का विकास 59

निष्कर्ष 60-61

द्वितीय अध्याय

दलित आंदोलन और दलित साहित्य : डॉ. जयप्रकाश कर्दम **62-167**

2.1. दलित आंदोलन के पूर्व की स्थिति 63-79

2.2. दलित आंदोलन का उद्‌भव और विकास 80-93

2.3. 'दलित' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा 94-97

2.4. दलित साहित्य : नामकरण और स्वरूप 98-102

2.5. हिन्दी दलित साहित्य का आविर्भाव 103-105

2.6. दलित साहित्य आंदोलन के पूर्व के साहित्य में दलितवादी स्वर	106-107
2.7. दलित साहित्य आंदोलन के पूर्व के हिन्दी कथा-साहित्य में दलितवादी स्वर	108-116
2.8. दलित साहित्य आंदोलन का उद्‌भव और विकास	117-120
2.9. दलित साहित्य आंदोलन में दलित पैंथर की भूमिका	121-122
2.10. दलित साहित्य : दर्शन एवं धर्म	123-130
2.11. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र	131-136
2.12. दलित मुक्ति आंदोलन और दलित साहित्य : अंतःसंबंध	137-138
2.13. दलित साहित्य में दलित चेतना	139-146
2.14. दलित साहित्य और डॉ. जयप्रकाश कर्दम	147-148
2.15. डॉ. जयप्रकाश कर्दम का जीवन परिचय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	149-150
2.15.1. जन्म एवं पारिवारिक जीवन	150-151
2.15.2. शिक्षा-दीक्षा	151-155
2.15.3. वैवाहिक जीवन	155
2.15.4. रचना संसार	155-165
निष्कर्ष	166-167

तृतीय अध्याय

दलित आंदोलन : डॉ. जयप्रकाश कर्दम का काव्य	**168-217**
प्रस्तावना	169-177
3.1. ब्राह्मणवाद पर प्रहार	177-181
3.2. असमानता और अन्याय की ख़िलाफत	181-186
3.3. पुरातन मूल्यों का निषेध	186-188
3.4. शोषण का सामना	188-192
3.5. शिक्षा की छटपटाहट	193-195
3.6. आरक्षण	195-201
3.7. ईश्वरवादी मिथ्या चेतना पर प्रहार	201-203
3.8. वर्णवाद की आलोचना	203-204
3.9. स्वतंत्रता के दम्भ का पर्दाफाश	204-205
3.10. दलित नारी जीवन का सजीव चित्रण	206-208
3.11. मौलिक अधिकारों के प्रति सजगता	208-210
3.12. धर्मग्रंथों का बहिष्कार	211-212
3.13. दलित अस्मिता की खोज	212-214
निष्कर्ष	215-217

चतुर्थ अध्याय

दलित आंदोलन : डॉ. जयप्रकाश कर्दम का कथा-साहित्य **218-267**

प्रस्तावना 219-223

4.1. 'करुणा' उपन्यास का कथासार एवं विषय-वस्तु 224-229

4.1.1. मानव कल्याण की कामना 230-232

4.1.2. समाज की विद्रुपताओं पर कटाक्ष 232-238

4.1.2.1. दहेज प्रथा 238-239

4.1.2.2. पुरातनवादी मानसिकता 239-240

4.1.2.3. भ्रष्टाचार 240

4.1.5. संसार की असारता पर कटाक्ष 241

4.1.6. बौद्ध धर्म की महानता का परिचय 242

4.2. 'छप्पर' उपन्यास का कथासार एवं विषय-वस्तु 243-245

4.2.1. व्यवस्था की आलोचना 246-251

4.2.2. परंपरागत आस्था एवं ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न पर करारी चोट 251-253

4.2.3. सवर्ण की दम्भी मानसिकता की टीका 253-256

4.5. 'तलाश' स्वानुभूत या भोगे हुए यथार्थ की भावाभिव्यक्ति 257-265

निष्कर्ष 266-267

पंचम अध्याय

दलित आंदोलन : डॉ. जयप्रकाश कर्दम का अन्य साहित्य **268-293**

प्रस्तावना 269-274

5.1. 'इक्कीसवीं सदी में दलित आन्दोलन' - दलित आंदोलन की चुनौतियों का विश्लेषण 275-279

5.2. 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा' - परिवर्तनकामी चेतना का दस्तावेज 280-281

5.3. 'धर्मांतरण और दलित' - भ्रामक अवधारणा का मूल्यांकन 282-284

5.4. 'चमार' - चमार जाति की दयनीय स्थिति का सांख्यिकीय दस्तावेज 285-286

5.5. 'बौद्ध धर्म के आधार स्तम्भ' - बौद्ध परिव्राजकों का इतिहास 287

5.6. 'जाति : एक विमर्श' - परंपरागत जाति-व्यवस्था पर एक महत्वपूर्ण दस्तावेज 288-290

5.6. 'रागदरबारी का समाजशास्त्रीय अध्ययन' - वास्तविकता के अनपहचाने एवं अपरिचित पहलू 291-292

निष्कर्ष 293

उपसंहार **294-299**

आधार ग्रंथ सूची **300-301**

संदर्भ ग्रंथ सूची **302-306**

पत्र-पत्रिकाएँ **307**

प्रथम अध्याय

दलित आंदोलन के विभिन्न चरण

1.1. जाति व्यवस्था का उद्‌भव एवं विकास

1.1.1. जाति-वर्ण-वर्ग का उत्स : आदिम कबिलाई व्यवस्था

1.1.2. *वैदिक काल में जाति-व्यवस्था*

1.1.3. *आर्य-अनार्य काल में जाति व्यवस्था*

1.1.4. *मनुस्मृति और जाति व्यवस्था*

1.1.5. *रामायण एवं महाभारत काल में जाति-व्यवस्था*

1.1.6. *सामंती युग और जाति-व्यवस्था*

1.1.7. *हिन्दू साहित्य में वर्ण-व्यवस्था*

1.1.8. *आधुनिक युग और जाति-व्यवस्था*

1.2. दलित मुक्ति आंदोलन

1.3. दलित मुक्ति आंदोलन का आगाज़ : सन् १८५७

1.4. डॉ. अम्बेडकर और दलित आंदोलन

1.5. महाड आन्दोलन - चवदार तालाब सत्याग्रह और दलित

1.6. कालाराम मंदिर सत्याग्रह और दलित

1.7. भारतीय गोलमेज परिषद और दलित

1.8. अस्पृश्यता निवारण और दलित

1.9. आरक्षण और दलित

1.10. दलित चेतना का विकास

निष्कर्ष

दलित आंदोलन के विभिन्न चरण

1.1. जाति-व्यवस्था का उद्भव एवं विकास

"मानव समाज परिवर्तनशील है, इसे प्रायः सभी लोग मानते हैं। यह विकासमान है, इसे सभी लोग नहीं मानते। विकासमान है तो किन नियमों के अनुसार उसका विकास होता है, इस बारे में और भी मतभेद हैं। कुछ लोग कहते हैं कि सभी के दिन एक से नहीं रहते, यह सब भाग्य का खेल है। जीवन में किसी को दुःखी, किसी को सुखी, किसी को अमीर, किसी को गरीब देखकर वे कहते हैं, यह अपना-अपना कर्मफल है। ...जो लोग भाग्य में विश्वास नहीं करते, उनका कहना है कि मनुष्य अपना भाग्य खुद बनाता है।"[1]

आदिम कबिलाई व्यवस्था से लेकर आज तक समाज में परिवर्तन होते आये हैं, किन्तु दलितों की स्थिति में कोई विशेष बदलाव नहीं हुआ है। समाज विकासमान होने के बावजूद भी दलितों का जीवन पददलित ही रहा है। यह मानने के लिए माना गया कि सबके दिन एक जैसे नहीं रहते लेकिन दलितों के दिन अब तक नहीं बदले हैं। अतः दलितों ने अपना सर्वहारा का चोला अब उतार फेंका है और भाग्यवादी विचारधारा को तिलांजलि देकर समाज में समानता के उद्देश्य से नैतिक एवं विवेकसम्मत ज़ोर आज़माइश चल रही है।

जाति-व्यवस्था की नींव कब रखी गई इस संदर्भ में बहुत अधिक विचार-विमर्श करने की आवश्यकता नहीं है। आदिम कबिलाई व्यवस्था के अंतिम चरण में समाज की अवधारणा विकसित हुई तथा इसी के आसपास कहीं जाति-व्यवस्था की नींव पड़ी। इस अध्याय में इसी संदर्भ को केन्द्र में रखकर दलति आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में जाति-व्यवस्था की नींव पर विस्तार से विचार किया जायेगा।

---

[1] 'मानव सभ्यता का विकास', डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. 13

1.1.1. जाति-वर्ण-वर्ग का उत्स : आदिम कबिलाई समाज-व्यवस्था

दलित आन्दोलन रातों-रात पनपनेवाला आन्दोलन नहीं है, बल्कि इसकी उत्पत्ति-अविर्भाव के लिए कई कारण-घटक बीज रूप में आदिम समाज-व्यवस्था की उत्तरकालीन अवस्था से दिखाई देते हैं। मनुष्य पशु जीवन से आगे बढ़कर मनुष्य रूप में आया, ज्ञान-विज्ञान से कमोबेश परिचय हुआ और इसी आधारशिला पर वे सभ्य कहलाये गये। कई कबीले एकत्रित आये, कुछ मूल्य-निर्धारित किये गये और कालान्तर में इन्हीं कबीलों ने 'समाज' का रूप ले लिया। पहली बार समाज नामक अवधारणा ने जन्म लिया।

इसके अगले ही चरण में लोगों ने स्वेच्छा एवं रूचि के अनुसार कार्य-विभाजन कर लिया और यहीं से कर्माधारित जाति-व्यवस्था का बीजारोपन हुआ और आगे चलकर कर्माधारित जाति, जन्माधारित हो गयी। अब जिनमें अधिक शक्ति थी वे दबंग बनकर अपना अधिकार चलाने लगे। इतना ही नहीं उन्होंने कर्म से हीन व्यक्ति-समुदाय पर अपना आधिपत्य जमा लिया। घर में पुरूष का वर्चस्व एवं बाहर पूजा-अर्चना, यज्ञ-विधि का कार्य करनेवालों का वर्चस्व हो गया। एक समय ऐसा आया कि विध्यात्मक विधि से पूजा करनेवाला वर्ग स्वयं को कुलीन एवं ईश्वर का दूत मानने लगा। इस प्रकार वह ईश्वर और सामान्यजन के बीच मध्यस्थ बन गया।

वैदिक काल तक आते-आते उत्पादन के विकास, खेती और पशुपालन, युद्धों द्वारा अर्जित सम्पत्ति के कारण समाज में वर्ग-भेद का आविर्भाव हुआ। गौतम बुद्ध ने अपने धर्मशास्त्र में वर्ग शब्द का प्रयोग उत्पादन के हिसाब से बँटी हुई जनता के लिए किया है :

"देशजातिकुलधर्माश्चात्म्नायैरविरूद्धाः प्रमाणम्।
कर्षक-वणिक-पशुपाल-कुसीदी-कारवः स्वै वर्गे।।"[1]

---

[1] 'हिन्दु पॉलिटी', काशीप्रसाद जायसवाल, पृ. २५२

तात्पर्य यह हुआ कि पहले-पहले व्यवसाय एवं धन-संपत्ति को लेकर वर्ग बना और इसी के आधार पर वर्ण-व्यवस्था की नींव रखी गयी। कहना ना होगा कि सामाजिक विकास में उत्पादन पध्दति की नियामक भूमिका हुआ करती थी। किन्तु इससे भी आगे चलकर सामाजिक विकास एवं समानता का आधार स्तम्भ रक्त-संबंध बनता चला गया और जाति जन्माधारित बनती चली गयी।

1.1.2. वैदिक काल में जाति व्यवस्था

भारतीय समाज में वेदों को अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। हिन्दू धर्म में तो ये वेद ही उनकी पारंपारिक एवं धार्मिक धरोहर हैं। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि इस समय तक वर्ण-व्यवस्था का रूप अमानवीय नहीं बना था। आर. आर. अरविंद ने लिखा है कि, *"वैदिक काल का साहित्य अध्ययन करने से पता चलता है कि उस समय व्यवसाय के आधार पर वर्ण-व्यवस्था थी, जिसमें ब्राह्मण सर्वोच्च माना जाता था। वैदिक साहित्य में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिससे एक ही परिवार के लोग व्यवसाय के आधार पर भिन्न-भिन्न वर्ण के माने जाते थे। क्योंकि वे एक ही परिवार के लोग थे, उनमें आपसी भेदभाव का कोई प्रश्न नहीं था। परंतु यह परंपरा बहुत अधिक समय तक नहीं चल सकी।"*[1]

जो भी हो यहाँ तक आते-आते कुलीन वर्ग (जूजा-अर्चना, यज्ञ जैसी विधियों का निर्वहन करने वाला वर्ग) ने अपनी धूर्तता के बल पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया तथा ज्ञानार्जन का कार्य, यज्ञ विधि आदि के लिए सर्वश्रेष्ठ साबित हुआ। जाति-व्यवस्था की स्थापना के संबंध में आर्य-अनार्य समय का ज़िक्र किया जाता है। विद्वानों के मतानुसार इसी समय में समाज में उच्च्य-निम्न का भेदभाव शुरु हुआ था। अतः इस कालावधि पर भी कटाक्ष करना अनिवार्य हो जाता है।

---

[1] 'जाति : एक विमर्श', सं. डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. १८

1.1.3. आर्य-अनार्य काल में जाति-व्यवस्था

भारत के इतिहास में आर्यों के आगमन का उल्लेख मिलता है। यद्यपि बहुतेरे आलोचक, इतिहासवेत्ता यह मानने के पक्ष में नहीं हैं कि आर्य बाहर से आये थे। जो भी हो बहरहाल इतिहाससमान्य तथ्य यह है कि आर्य गौर-वर्णीय, शक्तिशाली एवं दबंग किस्म के थे। अतः उन्होंने आर्येतर लोगों पर वर्चस्व स्थापित किया तथा उनके साथ गुलामों जैसा व्यवहार करना आरंभ किया। यह वर्ग विजेता के रूप में उभरकर आया और अनार्यों का पददलन किया।

एम. एन. श्रीनिवास ने लिखा है कि, *"एक शब्द जिसका मूलतः प्रयोग विजेता (आर्य) तथा विजित आदिम जातियों (दस्यु) के बीच रंग-रूप में भेद करने के लिए किया गया था। बाद में समाज में श्रेणी क्रमात्मक विभाजन के लिए प्रयुक्त हुआ।"*[1]

बहरहाल आर्यों ने धीरे-धीरे अनार्यों को दासों में बदल दिया। इसके लिए प्रमाण है डॉ. अम्बेडकर ने दास-प्रथा को ही जाति-व्यवस्था की नींव माना है। उन्होंने लिखा है कि, *"ऋग्वेदकालीन समाज में कुछ दास-दासियाँ होती थी जो घरेलू नौकर के रूप में कार्य करती थीं, पर उनकी संख्या उतनी नहीं थी कि उनको मिलाकर शूद्रों का दास वर्ण बन पाता। वस्तुतः वर्ण-व्यवस्था का उदय दासप्रथावाले भारतीय समाज में हुआ।"*[2]

डॉ. मजूमदार ने जाति-प्रथा के संबंध में यह निष्कर्ष निकाला है कि, *"जातिप्रथा (caste system) का विकास भले ही आर्यों के बाद हुआ हो लेकिन उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ संभवतः कबीलों के जीवन में पैदा हुयी थीं। प्राचीन जनों में जहाँ भी श्रम में विशेष दक्षता प्राप्त करने का सवाल उठेगा, वहाँ इस तरह की पेशेवर जातियों का सूत्रपात ज़रूर हो जायेगा। कबीले इस तरह के विशेष पेशे अपना लेते हैं, इसलिए वे अपने पुराने रक्त-संबंध ढाँचे से बाहर या उसे लिए हुए वर्ण व्यवस्था में प्रवेश करते हैं। भारत की वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाली सभी जातियाँ पेशों के नाम पर नहीं है। अक्सर वे अपने पुराने गोत्रों या जनों के नाम के साथ वर्ण-व्यवस्था में शामिल*

---

[1] 'आधुनिक भारत में जातिवाद तथा अन्य निबंध', एम. एन. श्रीनिवास, पृ. ६८

[2] 'हू वेयर दि शूद्राज', डॉ. अम्बेडकर, पृ. २३९

कर ली गयी है।"[1]

इसी से आनुषंगिक डॉ. रामविलास शर्मा का मानना है कि, *"श्रम विभाजन के प्रारंभिक दौर में दो, तीन या चार वर्णों से काम चल जाता है, किन्तु जैसे-जैसे दस्तकारी की शाखाओं का विकास होता है, कुछ कुटुम्ब किसी एक शाखा से पीढ़ी-दर-पीढ़ी जुड़े रहते हैं, वैसे-वैसे जातियों का निर्माण होता है और वे रूढ़िबध्द होती हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण उत्पादन में भाग नहीं लेते, उनमें जातियाँ नहीं हैं, सभी ब्राह्मणों की एक जाति ब्राह्मण, सभी ठाकुरों की एक जाति ठाकुर है। 'विनिमय' से सम्बध्द एक जाति बनी 'बनिया' बाकी सभी जातियों का संबंध उत्पादन और संस्कृति की शाखाओं अथवा सेवा कार्यों से है। पेशे से अलग जो जाति है, वह वास्तव में जाति है ही नहीं, वह किसी पुराने कबीले, उसकी शाखा, गोत्र का नाम है। उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के विकास के साथ जातियों का निर्माण स्वाभाविक है।"*[2]

रामधारी सिंह दिनकर ने आर्यों की समाज व्यवस्था में एकता के सिद्धान्त को देखा और इस संबंध में उनका विचार है कि जातियों का विकास सिर्फ़ पेशे के विकास के कारण नहीं हुआ, बल्कि इसके पीछे भारत के तमाम जन समुदाय को एक समाज में समेटकर बांध रखने की आर्यों की योजना थी। उन्होंने लिखा हैं कि, *"आर्यों ने जाति प्रथा के अनेक वर्गों और लोगों को एक ही समाज के अन्दर, अपनी-अपनी सभ्यता और संस्कृति के अनुसार उचित स्थानों पर बिठाना था। असल में जातिवाद के रूप में आर्यों ने समाज के भीतर एक दीर्घा खड़ी कर दी, जिसमें नीचे से ऊपर तक सभी श्रेणियों के लोग अपनी हैसियत के अनुसार आसानी से बैठ सकते हैं।"*[3]

जो भी हो उत्पादन-विनिमय परंपरा के आधार पर ही आर्यों ने वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ वर्ण-धर्म की स्थापना की और वर्णाधारित कार्य-विभाजन हो गया। कहना न होगा कि दास-प्रथा आर्य संस्कृति की उपज है तथा वर्ण-व्यवस्था आर्य-अनार्य कालीन स्थापना है।

---

[1] 'मानव सभ्यता का विकास', डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ सं. ६९

[2] 'मार्क्स और पिछड़े समाज', डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ सं. २०४-२०५

[3] 'संस्कृति के चार अध्याय', रामधारी सिंह दिनकर, पृ. ७३

तथ्य यह है कि, *"जब आर्य लोग सबसे पहले भारत में आए, तो वे तीन सामाजिक वर्गों में विभाजित थे - योद्धा अथवा कुलीन वर्ग, पुरोहित एवं साधारण। वर्ण-चेतना उस समय बिलकुल नहीं थी। जैसा कि इस प्रकार के कथनों से सिद्ध होता है कि 'मैं चारण हूँ, मेरा पिता वैद्य है और मेरी माँ अनाज पीसती है।' व्यवसाय पैतृक नहीं थे। न ही कोई ऐसे नियम थे, जो विवाह संबंधों को इन वर्गों के भीतर ही सीमित करते हों अथवा यह बताते हों कि किसके साथ भोजन नहीं करना चाहिए। समाज का तीन वर्गों में विभाजन केवल सामाजिक एवं आर्थिक संगठन की सुविधा के लिए था। वर्ण (वर्ग नहीं) की दिशा में पहला कदम उस समय उठाया गया, जब आर्यों ने दासों को सामाजिक परिधि से बहिष्कृत किया। संभवतः उन्होंने ऐसा दासों के भय से किया।"*[1]

शूद्रों की उत्पत्ति संबंधी खोज पर सर्वप्रथम डॉ. अम्बेडकर ने कलम उठायी थी। उन्होंने सन् १९४७ में 'हू वेयर शूद्राज़' पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने प्रमाणित किया है कि, शूद्रों की उत्पत्ति आर्य क्षत्रियों के उस सूर्यवंशी वर्ग में हुई, जिनका वैमनस्य के कारण ब्राह्मणों ने उपनयन संस्कार करने से मनाही कर दी थी। जिसका वर्णन महाभारत के शांति पर्व (१२-६०, ३८-४०) में आया है। यहाँ नवल वियोगी का मानना है कि, *"शूद्रों की उत्पत्ति जिन क्षत्रियों से हुई वे आर्य नहीं अनार्य थे। वे सिंधु घाटी के वीर शासक आयुद्ध जीवी वर्ग की संतान थे।"*[2]

इनके अलावा अन्य विद्वानों ने भी इस बारे में अपने मत व्यक्त किए हैं। अवन्तिका प्रसाद मरमट लिखते हैं कि, *"यदि आर्य शूद्र होते तो मनु क्यों कहता कि शूद्र के सम्मुख वेद न पढ़ें।"*[3]

प्रश्न उठता है, शूद्र को वेद पढ़ने, सुनने, स्मरण करने आदि से क्यों वंचित कर दिया गया? उसके ख़िलाफ़ इतने कठोर एवं अमानवीय दण्ड की व्यवस्था क्यों की गई। कहीं या शायद इसलिए तो नहीं कि शूद्र जान लें कि उसके पूर्वज दास, दस्यु, असुरों के गौरवपूर्ण इतिहास वेदों में हैं और

---

[1] 'भारतीय दलित आंदोलन : एक संक्षिप्त इतिहास', मोहनदास नैमिशराय, पृ. ११

[2] 'भारतीय दलित आंदोलन : एक संक्षिप्त इतिहास', मोहनदास नैमिशराय, पृ. १३

[3] 'भारतीय दलित आंदोलन : एक संक्षिप्त इतिहास', मोहनदास नैमिशराय, पृ. १३

जिन्होंने आर्यों से पग-पग पर भीषण एवं लम्बा संघर्ष किया था।

शूद्रों की ऐतिहासिक उत्पत्ति का सबसे बड़ा समाजशास्त्रीय प्रमाण था ऊँच-नीच की भावना की उत्पत्ति। यानी जो जाति युद्ध में जीत गई, वह प्राकृतिक रूप में अपने-आप को हारने वाली जाति से उच्च्य समझने लगी। इसके विपरीत हारने वाली जाति जीतने वाली की तुलना में स्वयं को हीन समझने लगी। बाद के दौर में इसी रूप में इन दोनों का सामाजिक स्तर भी स्वीकार कर लिया गया। समय बदलने के साथ नियम भी कठोर होते गए।

रजनीकान्त शास्त्री का मानना है कि ब्राह्मणों की इस मनोवृत्ति का यह फल हुआ कि वर्ण निर्णय में जन्म ने 'कर्म' का स्थान छीन लिया। साथ ही उनमें परस्पर घृणा तथा छुआछूत आदि मलिन भावनाओं को फैलाकर उन्हें अपाहिज बना दिया। उनका तर्क है कि, *"ब्राह्मण शब्द के साथ उच्चता और 'शूद्र' शब्द के साथ निम्नता का जो भाव एक बार लग गया, उससे बाद के दौर में भी पीछा छुड़ाना मुश्किल हो गया।"*[1]

इस काल को एक जाति के उत्कर्ष और दूसरी जाति के पराजित होते-होते विरोध का काल भी कहा जा सकता है। हालांकि जिन्होंने पराजय स्वीकार नहीं की, वे लड़ते-लड़ते मारे गए। उन सभी का साक्ष्य हमारे पास नहीं है। हाँ, उनके उखड़ने और अपनों से बिछुड़ने की दर्दनाक कहानियाँ हमारे पास जरूर हैं। हमलावर आर्यों की बर्बरता का ज़िक्र बहुत से इतिहासकारों ने किया है। वे अर्ध नग्न रहते थे या पशुओं की खाल पहनते थे। शत्रुओं की खोपड़ियों का प्रयोग पानी पीने के लिए करते थे। जो भी हो इस काल में एक वर्ग का उदय हुआ जो जाति से निम्न कहलाया गया। जाति-व्यवस्था को दृढ़तर बनाने में मनुस्मृति का योगदान सर्वोपरि कहा जा सकता है।

---

[1] 'भारतीय दलित आंदोलन : एक संक्षिप्त इतिहास', मोहनदास नैमिशराय, पृ. १३

1.1.4. मनुस्मृति और जाति-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था के संबंध में सबसे उल्लेखनीय है कि हिंदू धर्म में मनुस्मृति को श्रेष्ठ दर्जा प्राप्त है और मनुस्मृति में जो कर्मकांड इत्यादि का विवेचन हुआ है, वही जाति-विभेद का आधार भी है। मनु ने एक ऐसी व्यवस्था बनायी जिसमें मानवीयता कम बर्बरता अधिक दिखाई देती है। आर. आर. अरविंद ने लिखा है कि, *"कहा जाता है कि मनुस्मृति की रचना ईसा के लगभग १८० वर्ष पूर्व में हुई, जिसमें जातिवाद का इतना भयंकर रूप प्रस्तुत किया गया कि पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मनुस्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के लिए अलग-अलग नियम और धार्मिक कानून बना दिए गए। शूद्र अथवा चांडाल का उसमें क्या स्थान है, इससे सर्वसाधारण भी भली-भाँति परिचित हैं।"*[1]

मनुस्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति क्रमशः ब्रह्मा के मुख, बाँह, उरू और पैर से मानी गयी है। और तो और मनु ने शूद्र का नाम 'जुगुप्सित' (घृणित) शब्द से रखने की व्यवस्था दी -

"मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्विनम्।
वैश्यस्य धन संयुक्त शूद्रस्य तु जुगुप्सितम।।"[2]

अर्थात् 'ब्राह्मण का मंगलसूचक, क्षत्रिय का बल सूचक, वैश्य का धन सूचक तथा शूद्र का निन्दित शब्द से युक्त नामकरण करना चाहिए।' अगले श्लोक में स्पष्ट लिखा है कि "शूद्रस्य प्रेष्य संयुक्तम्" (२/३२) कि शूद्र का नामकरण घृणित शब्द के साथ दास शब्द लगाकर करना चाहिए।[3]

इस प्रकार के और कई उदाहरण मनुस्मृति में उपलब्ध हैं जो शूद्रों को नीचा से नीचा दिखाते हैं। मनु ने जानवरों को महत्त्व दिया किन्तु तथाकथित शूद्रों को नहीं। एक ऐसी समाज-व्यवस्था मनुस्मृतिकार ने स्थापित की कि मुठ्ठी भर लोग संपूर्ण सत्ता अपने हाथ में लिये

---

[1] 'जाति : एक विमर्श', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृं. १९
[2] 'मनुस्मृति, पृ. २३१
[3] 'धर्मांतरण और दलित', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३३

बैठे हैं और एक विशाल जन समुदाय को नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा के नाम पर पददलित किया जाता है।

कहना न होगा कि मनुस्मृति जाति-व्यवस्था का एक ऐसा घृणित रूप है, जिसका कुत्सित रूप आज़ादी के पूर्व तथा आज़ादी के बाद ९० के दशक तक और कमोबेश वर्तमान समाज-व्यवस्था में भी प्रचलित है। और तो और तमाम मनुवादी इस धारणा में इस कदर संलिप्त हैं कि वे इस प्रथा के चरमराने के भय से ही आक्रांत हैं और इसलिए दलितवादी आन्दोलन के विरोध में उनकी आलोचना जारी है। डॉ. अम्बेडकर ने मनुस्मृति के पन्नों को जलाकर तो मानो उनकी चेतना की अगम घाटी में आग ही लगा दी है।

यह कितना अवैज्ञानिक है कि चार वर्णों का जन्म भिन्न-भिन्न अंगों से हुआ। वास्तव में मनुस्मृतिकार के विचार अवैज्ञानिकता से भरपूर हैं फिर भी त्रासदी यह कि वर्तमान समय तक मनुस्मृतिकार को श्रेष्ठत्व का दर्जा प्राप्त है। बहराहल जाति-व्यवस्था की ठोस नींव मनु के समय में हुई इसमें कोई दोहमत नहीं है।

1.1.5. रामायण एवं महाभारत काल में जाति-व्यवस्था

हिन्दू धर्म में रामायण एवं महाभारत का स्थान वेदों से भी बढ़-चढ़कर है। इस समाज में जाति-व्यवस्था परवान पर थी। यदि वाल्मीकि रामायण का ही उदाहरण लें तो राम मर्यादा पुरूषोत्तम हैं, उनके राज्य में समानता है। तभी तो तुलसीदास ने माना कि रामराज्य में बाघ-बकरी एक घाट का पानी पीते थे और इसीलिए वे पुनः रामराज्य की परिकल्पना करते हैं।

बहरहाल मर्यादा पुरूषोत्तम जीव ने शूद्र तपस्वी शंबूक का वध इसलिए किया कि वह निम्न-वर्ण का था और तपस्या कर रहा था और उसकी तपस्या करने से एक ब्राह्मण पुत्र को साँप ने काट लिया और मिथकों में वर्णित शांत एवं शील स्वभाव के मर्यादा पुरूषोत्तम राम ने क्रोध में आकर शम्बूक का शिरच्छेद कर दिया।

केवल इस एक उदाहरण से ही पता चल जाता है कि राम का राज्य कितना बर्बरतापूर्ण था। वस्तुतः शम्बूक का तपश्चर्या करना तत्कालीन सवर्ण मन एवं ब्राह्मणवाद के लिए आपत्तिजनक था। ब्राह्मण चाहते ही नहीं थे कि अवर्ण ज्ञानी हो, यदि निम्न-वर्ग ज्ञानी हो जाता तो उन्हें भला कौन पूछता?

आर. आर. अरविन्द ने लिखा है कि, *"वाल्मीकि रामायण की रचना के काल में शूद्र तपस्वी शंबूक का तपस्या करने के अपराध में वध किया जाना इस बात का प्रमाण है कि वर्ण-जाति-प्रथा उस समय भी भयंकर रूप धारण कर चुकी थी, जो केवल जन्म के आधार पर रह गई थी। यदि कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था रही होती तो तपस्या करने वाले शंबूक का अपराध माना जाना चाहिए था, परंतु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उस समय किसी ने भी इसका विरोध किया था। इसका अर्थ यह है कि शूद्र को वाल्मीकि रामायण के काल से ही इतना नीच माना जाने लगा था कि जन्म जाति के नियम का उल्लंघन करने पर वह मृत्यु दंड का भागी होता था। इससे आगे महाभारत काल को ले लीजिए, महाभारत में भी कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिससे जन्म के आधार पर मनुष्य की जाति निर्धारित होना माना जाता है। एकलव्य की कथा इस बात का प्रमाण है कि शूद्र को धनुर्विद्या जैसे क्षत्री कर्म करने का भी अधिकार नहीं था। इसके अपराध में एकलव्य का अंगूठा ही काट लिया गया जिससे एक शूद्र क्षत्री का कार्य ही न कर सके। दूसरा प्रमाण महाभारत में यह है कि कर्ण के जन्म से यह निश्चित नहीं था कि वह क्षत्रिय है। इसीलिए उसे द्रोपदी के स्वयंवर में अपना पराक्रम दिखाने का अवसर नहीं दिया गया। स्वयंवर केवल क्षत्रियों के लिए ही था और कर्ण के पास अपने जन्म से क्षत्री होने का कोई प्रमाण नहीं था। तीसरा उदाहरण विदुर का है जिसे महाभारत में 'दासी-पुत्र' कहा गया है। वह दासी-पुत्र था। अतः उसे पूर्ण सम्मान ही नहीं मिल सका। इन उदाहरणों से सिद्ध होता है कि महाभारत के समय में भी जाति-प्रथा सुदृढ़ थी और ऊँच-नीच जन्म के आधार पर ही मानी जाती थी।"*[1]

---

[1] 'जाति : एक विमर्श', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. १८-१९

दलितवादी विचारक डॉ. जयप्रकाश कर्दम ने लिखा है कि, *"रामायण में 'राम' और माहभारत में 'कृष्ण' महानायक हैं। इन दोनों रचनाओं में इन दोनों ही दिव्य नायकों की महिमा का गान है। राम को 'मर्यादा पुरुषोत्तम' और कृष्ण को 'कर्मयोगी' कहा गया है। इनके युगों को सर्वश्रेष्ठ तथा आदर्श युग बताया गया है। लेकिन 'रामायण' में राम ने खुद अपनी तलवार से शूद्र ऋषि शम्बूक की गर्दन काटी और 'महाभारत' में न्याय और धर्म के पक्षधर कृष्ण ने द्रोणाचार्य को श्रेष्ठ आचार्य या गुरु घोषित किया है। जबकि द्रोणाचार्य ने बिना शिक्षा दिए गुरु दक्षिणा में शूद्र धनुर्धर एकलव्य का अँगूठा काटकर उसे धनुष्य चलाने के अयोग्य बनाया। शम्बूक और एकलव्य के विषय में इन ग्रन्थों में कहा गया है कि वे अपनी-अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन कर रहे थे। उनको राज्य की उन्नति और शान्ति के लिए ख़तरा बताया गया। जबकि इन प्रसंगों से जो सच्चाई उजागर होती है, वह यह है कि शम्बूक और एकलव्य दोनों का दोष यह था कि उन्होंने स्वयं को शूद्र नहीं मनुष्य माना तथा वेदों में निहित चतुर्वर्ण व्यवस्था को नकार कर दूसरे मनुष्यों के समान उद्योग करने का प्रयत्न किया।"*[1]

पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपने लेख 'सीता, शम्बूक और हम' (नवभारत टाइम्स, दि. २६ अप्रैल, १९९१) में ठीक ही लिखा है कि, *"शम्बूक कोई चोरी-डकैती करते हुए नहीं मारा गया था, बल्कि वह शूद्र होकर पुण्यात्मा बनने के सपने देख रहा था। सरल शब्दों में कहें तो शम्बूक और एकलव्य का यह हश्र इसलिए हुआ क्योंकि वे दोनों अपनी औकात से बाहर जा रहे थे और उसकी सजा उनको मिली। वस्तुतः शूद्रों या दलितों को अपने समान न आने देने की मानसिकता ही भारत में तथाकथित सवर्ण समाज की सदियों से रही है जो आज भी कायम है।"*[2]

ग़ौरतलब है कि रामायण और महाभारत काल में भी दलितों की भावनाओं को दबोचकर रखा गया था। राम और कृष्ण सवर्ण मानसिकता को दर्शाने वाले चरित्र हैं लेकिन आज तक जितने भी रचनाकार हुए हैं वे इन्हें श्रेष्ठ की कोटि में रखते आए हैं। भगवान सिंह ने अपने उपन्यास

---

[1] 'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन : साहित्य एवं समाज-चिंतन', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. १५

[2] 'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन : साहित्य एवं समाज-चिंतन', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. १५

'अपने-अपने राम' में राम का एक बिरला चित्रांकन किया है। लेकिन दलितों के पक्ष में किसी भी रचनाकार ने बात नहीं रखी, हाल में दलित रचनाकारों की पीढ़ी ने यह काम पुरज़ोर कोशिशों के साथ किया है।

बहरहाल, रामायण और महाभारत काल में भी दलितों की दयनीय स्थिति रही है, यह उपरोक्त तथ्यों से साबित हो जाता है।

1.1.6. सामंती युग में जाति-व्यवस्था

उत्तर वैदिक युग में ही कृषि-व्यवसाय ने अपना योग्य रूप ले लिया था और वर्ण-व्यवस्था भी लगभग निर्धारित हो चुकी थी। वैदिक जनों के धीरे-धीरे संघ बनने लगे थे और प्रदेश-विशेष में रहनेवाली जाति के रूप में परिवर्तित होने का समय आ रहा था। कृषि का प्रसार, वर्ण-व्यवस्था और जाति का निर्माण ये तीनों काम एक ही साथ रूपाकार लेते हैं। अतः कृषि के प्रसार ने सामंतों का नवीन वर्ग उत्पन्न किया जो कृषि पर अपना अधिकार रखने लगा और खेत में मज़दूरों की सहायता से कृषि व्यवसाय करने में जुट गया। और वह भूमि का स्वामी बन गया और जैसे-जैसे सामन्ती-व्यवस्था दृढ़ होती गयी, चूँकि जाति-व्यवस्था वैदिक काल की उपज है इसलिए इस व्यवस्था के साथ-साथ शूद्रों को अधिकाधिक पतित समझा जाने लगा। वास्तव में यदि देखा जाए तो शूद्र तत्कालीन सामंती-व्यवस्था की उपज हैं। उन पर सामंतों के अतिरिक्त राज्यसभा का नियंत्रण भी था।

राधाकुमुद मुखर्जी ने इस संदर्भ में लिखा है कि, *"कुल मिलाकर शूद्र का जीवन बड़ा कठिन था। मनुस्मृति में जो विराट नियम-श्रृंखला है, उसे पढ़कर मन क्षुब्ध हो उठता हैं (would make dismal reading)। उसके अधिकार नहीं के बराबर थे, कर्तव्य ढेरों थे। समाज में उसके हाथ-पैर बाँध देने के लिए उसके खिलाफ़ जो विशेष नियम बनाये गये थे और जिनका परम निर्ममता के साथ स्पष्ट उल्लेख किया गया है।"*[1] जिसे हम मनुस्मृति में सहजवत् देख सकते हैं और मुखर्जी

---

[1] 'मानव सभ्यता का विकास', डॉ. रामविलास शर्मा, पृ. ८४

के मत से हम सहज ही सहमत होते हैं।

मनुस्मृति में उक्त कथन की पुष्टि के लिए ढेर सारे उदाहरण अटे पड़े हैं। मनु ने तथाकथित शूद्रों के साथ दास की तरह व्यवहार किया है। गौरतलब है कि सामंती-व्यवस्था और राज्यसत्ता धर्म, न्याय, कर, सेना, दण्ड इत्यादि की व्यवस्था के साथ स्थिर हुई किन्तु शूद्रों के साथ न्याय करने में वह अक्षम रही और अन्दरूनी तौर पर इस व्यवस्था ने शोषण का घृणित कार्य आरंभ कर दिया। कहने के लिए भूस्वामित्व की यह प्रथा थी किन्तु इसने सामन्तवाद एवं अर्ध दास प्रथा के रूप में जाति प्रथा का एक ऐसा रूप विकसित किया जिसका अत्यधिक विकृत रूप इस काल के पश्चात् भी दिखाई देता है।

1.1.7. हिन्दू साहित्य में वर्ण-व्यवस्था

हिन्दू साहित्य जिसे आर्य-साहित्य अर्थात् आर्ष-साहित्य भी कहा जाता है, प्राचीन ग्रंथ 'ऋग्वेद' से प्रारंभ होता है। 'ऋग्वेद' में मात्र प्रार्थनायें, प्रशंसायें तथा पूजा ही पूजा मिलती है। जिसे तनिक भी ज्ञान की भूख है, आध्यात्मिकता की भूख है, उसे इन वेदों में मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं मिलता है। हाँ! 'ऋग्वेद' के दसवें मण्डल में अवैज्ञानिक, कार्य-कारण के विरूद्ध तथा गुमराह करने वाली बातें अवश्य मिलतीं हैं, जिससे यहाँ के मानव को ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न कराके वर्ण-व्यवस्था जैसी निकृष्टतम एवं बेकार की सामाजिक व्यवस्था को बढ़ाया गया है। वर्ण-व्यवस्था जैसी घातक सामाजिक बीमारी का जनक 'ऋग्वेद' ही है -

"ब्राह्णोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य कुतः।
उरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।"[1]

अर्थ - उस विराट ब्रह्मा का मुख ब्राह्मण था, भुजाओं को क्षत्रिय बनाया गया, उसकी जंघाये वैश्य थीं, तो शूद्र उसके पैरों से अजायत=उत्पन्न हुआ।

[1] 'ऋग्वेद' 10.90.12

उपर्युक्त पैदाइश कितनी अवैज्ञानिक तथा कितनी अप्राकृतिक है। भला पैरों से कोई पैदा हो सकता है भला? यहीं से वर्ण-व्यवस्था तथा उससे गुमराह होने का प्रदूषण फैला। इन दूषित तथा अप्राकृतिक बातों का असर 'महाभारत' के शांतिपर्व के श्लोक एक और दो पर भी पड़ा -

ततः कृष्णों महाभागः पुनरेव युधिष्ठिर।

ब्राह्मणानं शंत श्रेष्ठं मुखा देवा सृजत्प्रभुः।

बाहुम्यां क्षत्रियशतं वैश्यानामूरूतः शतम्।

पद्भ्यां शूद्र शंत चैव केशवा भरतर्षभ।

अर्थ - हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! फिर महाभाग कृष्ण ने मुख से सौ श्रेष्ठ ब्राह्मणों को, दोनों बाहुओं से सौ क्षत्रियों को, दोनों जंघाओं से सौ वैश्यों को तथा दोनों चरणों से सौ शूद्रों को उत्पन्न किया।

यही अप्राकृतिक प्रदूषण वाल्मीकि 'रामायण' में भी मिलता है। वाल्मीकि जी ने अपने स्वजातीय भाई ब्राह्मणों का खूब भला किया है। यही अवैज्ञानिक एवं अप्राकृतिक प्रदूषण कालान्तर में इतना फैला कि समान दिखने वाले लोगों में एक वर्ग शूद्र ही बना दिया गया, जो पतित, दलित, उपेक्षित तथा शोषित कहा गया। इन शूद्रों पर ब्राह्मण लेखकों ने कितना कसाईपन का काम किया, वह निम्न उदाहारणों से प्रमाणित होगा :-

वणिक्किरात कायस्थ-मालाकार कुदुम्बिनः।

वेरटो भेद-चाण्डाल-दासश्वपच-कोलकाः।

एतेऽन्त्यजाः समाख्याता येचान्येच गवासनाः।

एषां सम्माषणात्स्नानं दर्शनादर्क वीक्षणम।[1]

अर्थ - वणिक, किरात, कायस्थ, माली, बाँसफोड़, स्यारमार, कंजर, चाण्डाल, बारी, भंगी और कोल अथवा और जो दूसरे गो-भक्षक हैं, वे अंत्यजों (अछूतों) में सम्मिलित किये गये हैं। इनसे बोलने का दोष स्नान करने से तथा इनको देखने का दोष सूर्य की ओर ताकने से छूटता

---

[1] व्यास स्मृति - १/११-१२

है।

उपर्युक्त श्लोकों में व्यास ऋषि ने, जो स्वयं एक मछुआरी के पुत्र थे, किस प्रकार बहुजन समाज को एक झटके में ही अपराधी बना डाला है। 'ऋग्वेद' ने ब्राह्मणों को पृथ्वी का स्वामी बना दिया जिसका फल यह हुआ कि वह निरंकुश और निष्ठुर बन बैठा।

ब्राह्मणों जाय मानोहि पृथिव्या मधि जायते।
ईश्वर सर्वभूतानां धर्म्मकोशस्य गुप्तये।।[१]

अर्थ - ब्राह्मण जन्म लेते ही पृथ्वी के समस्त जीवों में श्रेष्ठ हो जाता है। वह सब प्राणियों का ईश्वर है और धर्म के खजाने का रक्षक है।

समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों की तो पौ बारह है, लेकिन ८५ प्रतिशत भाग नीच से नीच होगा, तो उस देश की स्थिति क्या शोचनीय नहीं होगी?

'ऋग्वेद' से लेकर अधुनातन समस्त वैदिक साहित्य इस वर्ण व्यवस्था रूपी कचरे से भरा पडा है। यदि ये ब्राह्मण लेखक, कवि देश-भक्त या राष्ट्रभक्त होते तो अवश्य ही इनमें राष्ट्र भावना निहीत होती। देश के प्रति स्पष्ट प्रेम होता। शहीद होने की ललक होती। संगठन बनाने का चाव होता। यही कारण है कि समस्त संस्कृत साहित्य में 'शहीद' शब्द के समकक्ष कोई पर्यायवाची शब्द ही नहीं है। इस वर्ण-व्यवस्था रूपी प्रदूषण को फैलाने में हिन्दुओं की आराध्य पुस्तक 'गीता' की भूमिका भी कम नहीं रहीं है। पाँचवीं शताब्दी में रचित यह पुस्तक वर्ण-व्यवस्था रूपी कचरे में अत्यधिक सड़ांध पैदा करने में बाज़ी मार गई है। आज तो वर्ण व्यवस्था दृढ़ है, वह मात्र भगवद्गीता के कारण ही है। पाँचवी सदी की गीता का लेखक कृष्ण के मुखारविन्द से यह श्लोक कहलवाता है -

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धिय कर्तारमव्ययम्।[२]

---

[1] मनुस्मृति, अध्याय १-९९
[2] गीता ४.१३

अर्थ - हे अर्जुन! जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र चारों वर्णों का विभाग है, यह गुण कर्म के अनुसार मेरे द्वारा ही रचा गया है। यद्यपि मैं इस चातुर्वर्ण्य का कर्ता हूँ, तो भी तू मुझे कर्ता तथा अविनाशी ही जान।

आज के युग में वैश्य, ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के नाम के बाल बने हुए है। इन वैश्यों की गाढ़ी कमाई का फायदा आज का ब्राह्मण वर्ग ही अधिक उठा रहा है।

उपर्युक्त समस्त शलोकों पर आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टि डालने पर एक बात साफ हो जाती है कि यदि वर्ण व्यवस्था का यह कर्म-विभाजन (Distribution of Labour) आदर्श था, तो फिर सारे संसार ने इसे क्यों नहीं अपनाया? क्यों इसने भारतीय समाज को लुंज-पुंज बनाया? क्यों इस व्यवस्था ने ९३ प्रतिशत को शस्त्रविहीन रखा? इस सम्बन्ध में भदन्त आनन्द कौशल्यायन कहते हैं कि, *"भला यह भी कोई श्रम-विभाजन है कि एक वर्ग पीढ़ियों दर पीढ़ियों तक ज्ञान-विज्ञान ही हासिल करता रहे; दूसरा पीढियों दर पीढ़ियों तक युद्ध ही करता रहे; तीसरा पीढियों दर पीढियों तक व्यापार करता रहे; और चौथा वर्ग अनन्त काल तक उक्त तीनों वर्णों अथवा द्विजों की सेवा ही करता रहे। इस सेवक-सेव्य संबंध में प्रजातंत्रवाद का सम्पूर्ण निषेध विद्यमान है।"*[1]

ऐसे काले कानूनों से शूद्रों का जीवन दूभर हो गया। कौन नीची जाति और कौन ऊँची जाति? हिन्दुओं ने मात्र जन्म को ही पैमाना बनाया। इस संबंध में आचार्य रजनीकान्त शास्त्री कहते हैं कि, जाति शब्द की इन परिभाषाओं के अनुसार मनुष्य एक जाति है। इसी प्रकार अश्व मात्र एक जाति है और अश्व जाति में जैसे अरबी, बैलर, काबुली, भूठिया, गधा खच्चर आदि प्राकृतिक अवान्तर भेद हैं, वैसे ही मनुष्य जाति में आर्य, द्रविड़, हब्शी, मंगोल आदि प्राकृतिक अवान्तर भेद हैं। जो लोग ब्राह्मणादि चार वर्णों को गाय, घोड़े, गधे आदि की तरह प्राकृतिक अवान्तर मानते हैं वे या तो स्वयं भ्रमग्रस्त हैं या स्वयं वस्तुस्थिति जानकर भी दूसरों को बहकाने वाले हैं; क्योंकि जैसा अभी कहा गया है, गाय, घोड़े, गधे आदि में परस्पर यौन संबंध द्वारा प्रसव क्रिया नहीं हो सकती, पर ब्राह्मण और शूद्र के बीच वैसी क्रिया होती है। यदि कहो कि ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में

---

[1] 'भगवद्गीता की बुद्धिवादी समीक्षा'- भदन्त आनन्द कौशल्यायन, पृ. २६७

गाय, घोडा, गधा आदि की तरह भले ही भेद न हो पर आर्य, द्रविण, हबसी, आदि की तरह तो है, पर वह भी कारण कि ब्राह्मण आदि मनुष्य जाति के कृत्रिम भेद हैं और आर्य, द्रविण आदि प्राकृतिक भेद है।

मनुष्य मात्र एक जाति है इसका समर्थन सांख्य कारिका ५७ से भी होता है -

अष्ट विकल्पों दैवस्तैर्यग् योन्यश्च पंञ्चधा भवति।
मनुष्यश्चैक विधः समासतः भौतिकः सर्गः।[1]

वाचस्पति मित्र की व्याख्यानुसार इसका अर्थ यह है – *"ब्रह्मा, प्रजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गांधर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच - ये आठ प्रकार की देव योनियाँ है। तिर्यक योनि पाँच प्रकार की हैं - पशु, मृग, पक्षी, सरी-सृप (रेंगने वाले जन्तु जैसे : साँप, केंचुआ आदि) और स्थावर। मनुष्य योनि एक ही प्रकार की है। ब्राह्णादि चारों वर्णों में किसी प्रकार का पार्थक्य न होने से वे मनुष्य जाति के अवान्तर भेद नहीं माने गये।"*[2]

ब्राह्मणों ने समाज को कितना बाँटा? कितनी जातियाँ बनाई गईं? इसका एक उदाहरण स्वयं ब्राह्मणों की जातियों के गोत्रों का है। ब्राह्मण कितने प्रकार के हैं, इसका खुलासा स्वयं बाबा साहेब ने किया है। वे लिखते हैं -

महाराष्ट्रीय ब्राह्मण	३४
आँध्र के ब्राह्मण	१६
तमिल ब्राह्मण	११
कर्नाटक के ब्राह्मण	०७
गुर्जर ब्राह्मण	१६६

गौड़ ब्राह्मणों में सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड़ उत्कल मैथिल आदि प्रकार होते हैं।

[1] सांख्य कारिका ५७

[2] 'हिन्दू जाति का उत्थान और पतन', वाचस्पति मित्र, पृ. २८१-८२

जब ब्राह्मणों में ही सैकड़ों जातियाँ/गोत्र बन चुकी हैं, तो समस्त भारतीय समाज का तो कहना ही क्या है? समस्त भारतीय समाज लगभग १०,००० जातियों में बँट चुका है। हर भारतीय को केवल अपनी जाति की ही चिन्ता रहती है। पी. लक्ष्मी नरसू कहते हैं - *"जाति-पाँति से ग्रसित हिन्दू देश-प्रेम की भावना से सर्वथा अपरिचित बना रहता है। भारत नाम का महाद्वीप जहाँ करोड़ों लोग वास करते हैं, शताब्दियों तक डाकू-लूटेरों के लिए लूटने-खाने की भूमि मात्र रहा है।"*[1]

राहुल जी की बात कितनी सटीक है कि, *"हिन्दू धर्म के धार्मिक अगुआओं के दिमाग में गोबर भरा हुआ था। वे दूर तक सोचने की शक्ति नहीं रखते थे। आक्रमणात्मक नहीं प्रतिरक्षात्मक युद्ध करना ही उनका ढंग था। जाति-पाँति की ज़ज़ीरों को मज़बूत करके अपनी जनता के ८० प्रतिशत लोगों को अपनी आन के लिए मरने का भी वह अधिकार देने को तैयार नहीं थे। म्लेच्छ के हाथ का एक घूँट पानी यदि किसी के गले में नीचे तक उतर गया, तो वह पतित है, जिसका अर्थ है कि शत्रुदल की सेना का सिपाही।"*

हिन्दू कथनी और करनी में कितना अंतर रखता है; इस पर राहुल जी आक्रोश व्यक्त करते हैं- "कुएँ में पानी है, जगत पर लोटा-डोर रखी हुई है, एक तरफ मंदिर के आंगन में भक्ति भाव से झूम-झूम कर लोग रामायण पढ़ रहे हैं -

"जाति पाँति पूछे नहि कोई, हरि को भजै सो हरि को होई।"

गीता हो रही है -

विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिता समदर्शिनः।।

(विद्या और शील सम्पन्न ब्राह्मण गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल सब में पंडित लोग समदर्शी होते हैं) महात्मा और पंडित लोग गद-गद होकर अर्थ कर रहे है - जो है सब भगवान की देन है।"[2]

---

[1] 'हिन्दू साहित्य में वर्ण व्यवस्था एवं जातिभेद', भद्रशील रावत, पृ. १८

[2] 'हिन्दू साहित्य में वर्ण व्यवस्था एवं जातिभेद', भद्रशील रावत, पृ. २१

इसीलिए बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर का मनु पर आक्रोश ठीक है कि, *"भारत के विधि निर्माता के रूप में यदि मनु का कोई अस्तित्व रहा है, तो वह एक ढ़ीठ व्यक्ति रहा होगा। यदि यह बात सत्य है कि उसने स्मृति अथवा विधि की रचना की किन्तु मैं नहीं समझता कि वह सदा जिन्दा रह सकेगा। एक बात मैं आप लोगों को बताना चाहता हूँ कि मनु ने जाति का निर्माण नहीं किया और न वह ऐसा कर सकता था। जाति प्रथा मनु से पूर्व विद्यमान थी। वह तो उसका पोषक था, इसलिए उसने उसे एक दर्शन का रूप दिया। प्रचलित जाति प्रथा को ही उसने संहिता का रूप दिया और जाति-धर्म का प्रचार किया।"*[1]

अन्त में मैं आचार्य रजनीकान्त शास्त्री के शब्दों में कहना चाहता हूँ कि, *"जन्म मूलक वर्ण-व्यवस्था के बल पर जो जातियाँ नाना प्रकार की सामाजिक सुविधाओं का उपभोग कर रही हैं, उन्ही के पास धन, धरती और अधिकार हैं और वे स्वार्थवश वर्ण-व्यवस्था को गुण कर्मानुसार चलने नहीं देंगी। जन्ममूलक वर्ण व्यवस्था तो एकदम मिथ्या, कपोल कल्पित, अवैज्ञानिक तथा अन्याय और स्वार्थपरता से भरी है। हमारा कल्याण तो इसी में है कि हम चातुर्वर्ण्य नाम तक को, चाहे कर्म से हो चाहे जन्म से, मटियामेट कर दें। जिससे फिर कभी वह अंकुरित न होने पाये। यदि यूरोप तथा अमेरिका जैसे भूभागों के निवासी अपने यहाँ के विद्वानों तथा शूर-वीरों के चेहरे पर 'ब्राह्मण और क्षत्रिय' के लेबुल बिना चिपकाये ही उनका यथोचित आदर-सत्कार किया करते हैं, तो कोई भी कारण नहीं दिखता कि हमारे यहाँ के विद्वानों तथा शूर-वीरों को सम्मान पात्र बनाने के लिए उक्त लेबुलों की आवश्यकता है।"*[2]

1.1.8. आधुनिकयुग और जाति-व्यवस्था

आधुनिक युग का प्रारंभ सन् १८५७ से माना जाता है और कहा जा सकता है कि इसी दशक के आसपास दलितों के विचारों में परिवर्तन आना शुरू हो गया था। वैसे तो मुसलमान शासकों

---

[1] डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङमय, खण्ड-१, पृ. ७३
[2] हिन्दू जाति का उत्थान और पतन, पृ. २९०

के समय में संतों की पीढ़ी ने जाति-प्रथा का विरोध किया था। संत कबीर, नानक, नामदेव, रविदास इत्यादि संतों ने इस कालबाह्य प्रथा का विरोध किया और 'जाति पांति पूछै नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।' कहकर यह सिद्ध करने की कोशिश की कि भगवान की भक्ति करना तो प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। इसमें ऊँची और नीची जातियाँ बाधक नहीं हो सकतीं। परंतु द्विज वर्णों ने उस पर ध्यान नहीं दिया। संतों की बात नक्कारखाने में तूती की आवाज़ बनकर रह गई। इसका कारण यह भी हो सकता है कि ये सभी संत निम्न कहलाने वाली जातियों में पैदा हुए थे। वे भुक्तभोगी थे। वे इस जाति-प्रथा के कुप्रभाव से परिचित थे। कहा जाता है कि रामानंद ने कबीर को शिष्य बनाने से इन्कार कर दिया था। संतों की वाणी जाति के प्रभाव के कारण ही दीर्घकालीन प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकी और आज तक भी कोई द्विज इन संतों का अनुयायी नहीं बना। इसके पश्चात् सम्राट अकबर के समकालीन गोस्वामी तुलसीदास ने सभी वेद, शास्त्र और स्मृतियाँ को रामचरितमानस के रूप में पुनर्जीवित कर दिया और यहाँ तक लिख दिया गया कि, *'पूजहि विप्र शील-गुण-हीना, शूद्र न गुण-गन ज्ञान प्रवीना।'*[1]

यह जाति-प्रथा के प्रचलित रूप को उसी रूप में चलाने की कोशिश थी जो कालांतर में आधुनिकता की चकाचौंध में पस्त हो गयी। यद्यपि हज़ारों वर्षों तक विदेशियों के गुलाम रहने के पश्चात् भी हिन्दू धर्म की जाति-प्रथा और द्विज वर्णों का शूद्रों के प्रति व्यवहार ज्यों-का-त्यों ही बना रहा। अंग्रेज़ी राज्य के अंतिम वर्षों में समाज सुधार आंदोलन चले। जाति-प्रथा को समाप्त करने वाले आंदोलनों में महर्षि दयानंद सरस्वती द्वारा आरंभ किया गया 'आर्य समाज' सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। इस आंदोलन में शूद्रों को जन्म के कारण शूद्र नहीं माना गया। आर्य समाज के अनुसार सभी को वेद आदि अध्ययन करने का पूर्ण अधिकार है और हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था कर्म के आधार पर है जन्म के आधार पर नहीं। पंडित का कार्य करने वाला प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्मण ही कहा जाएगा चाहे उसका जन्म शूद्र के घर में ही क्यों न हुआ हो। यह आंदोलन काफ़ी समय तक अछूतोद्धार के नाम से चला और आर्य समाज के प्रसिद्ध नेता लाला लाजपत राय ने जाति-प्रथा

---

[1] 'जाति : एक विमर्श', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. २०

और छूतछात के विरुद्ध प्रभावशाली कदम उठाए, परंतु इन नेताओं के संसार से चले जाने के पश्चात् आर्य समाज में वर्ण-व्यवस्था कर्म के स्थान पर जन्म से मान ली गयी।[1]

लाला लाजपत राय के पश्चात् परंपरागत जाति-प्रथा के विरोध में गांधीजी ने आंदोलन किया लेकिन उनके आंदोलन का स्वरूप भिन्न था। वे जाति तोड़ो के स्थान पर अछूतोद्धार आंदोलन चलाया। इसके विपरीत एक तथ्य यह भी है कि गांधीजी वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'वर्णाश्रम धर्म' में लिखा है कि, *"प्रत्येक व्यक्ति को अपना पैतृक धंधा ही जीविका के लिए करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपना पैतृक कार्य छोड़कर दूसरा कार्य करता है तो वह पाप करता है।"*[2]

डॉ. अम्बेडकर ने गांधीजी के इस सिद्धांत पर प्रहार किया और ५ लाख व्यक्तियों के साथ नागपुर में बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और आज करोड़ों की संख्या में भारतीय दलित वर्ग के लोग नव बौद्धों के नाम से जाने जाते हैं। गांधीजी के उपरोक्त मत पर यदि ग़ौर करें तो लगता है कि गांधीजी देश की प्रगति में विश्वास नहीं रखते थे। गोया किसान का बेटा किसान ही बना रहे और जो मैला ढोने वाला है उसकी संतान वही काम करे जो उसके पुरखे करते आ रहे थे। गांधीजी को आज देश राष्ट्रपिता कहता है लेकिन एक पिता अपनी ही संतानों के साथ यदि भेदभाव करे तो भला कैसे देश आगे बढ़ सकता है।

इसीसे आनुषंगिक तथ्य यह कि समाजवादी नेता डॉ. रामनोहर लोहिया ने अछूतोद्धार एवं रूढ़ जाति-प्रथा का विरोध किया। दलितों का पूर्ण उद्धार करने के लिए उन्होंने उनके लिए विशेष अधिकारों के सिद्धांतों का समर्थन किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग तक आते-आते बहुतेरे लोगों को लगने लगा था कि प्रचलित जाति-प्रथा समाज के विकास में बाधक है। अतः दलितों के पक्ष में लोग अपने विचार रखने लगे। वैसे तो सन् १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से ही यह निश्चित हो गया था

---

[1] 'जाति : एक विमर्श', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. २१

[2] 'जाति : एक विमर्श', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. २१

कि अब दलित वर्ग को और अधिक दिनों तक भ्रामक संकल्पनाओं में नहीं रखा जा सकता। सन् १८५७ के संग्राम में दलितों की सक्रिय प्रतिभागिता ने भी दलितों की मुक्ति के मार्ग खोल दिये थे।

1.2. दलित मुक्ति आंदोलन

दलित मुक्ति आंदोलन की शुरुआत को डॉ. अम्बेडकर द्वारा दि. २४ दिसंबर, १९२७ को मनुस्मृति के दहन और दलित मुक्ति संग्राम से जोड़कर देखना ज़रूरी है। मनुस्मृति दहन के द्वारा मनु निर्मित हिन्दू धर्म की विषम समाज रचना और मूलभूत ब्राह्मणवादी विचारधारा के प्रति विरोध प्रकट किया था। उन्होंने महाड़ के चवदार तालाब के सत्याग्रह द्वारा छुआछूत और अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष किया और मानव अधिकारों की प्राप्ति के लिए दलित समाज को जागृत किया। मानव अधिकारों की प्राप्ति के इस तरह के क्रान्तिकारी कदम का सवर्ण वर्ग की ओर से जोरदार विरोध किया गया। उनकी पुरोहितवादी सनातनी मानसिकता को इससे धक्का लगा। नासिक का प्रसिद्ध कालाराम मंदिर-प्रवेश सत्याग्रह' इसी संघर्ष की अगली कड़ी थी।

इन क्रांतिकारी घटनाओं से डॉ. अम्बेडकर दलित मुक्ति संग्राम की शक्ति बढ़ा रहे थे। छीने गए अधिकारों को पाने के लिए उन्होंने सत्याग्रह का रास्ता अपनाया और राजनीतिक अधिकारों के लिए ब्रिटिश सरकार से टक्कर ली। सन् १९३० में लंदन में हुई पहली भारतीय गोलमेज परिषद् में डॉ. अम्बेडकर भारतीय दलितों के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। इस सम्मेलन में अछूतों के साथ सदियों से हो रहे अन्याय को दूर करके उन्हें सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार देकर सभी के साथ बराबरी तक पहुँचाने के लिए दलितों के अधिकारों की और साथ ही पृथक निर्वाचन की भी मांग की थी। जिसे ब्रिटिश सरकार ने मान्यता दी, परंतु महात्मा गाँधी ने स्वतंत्र पृथक निर्वाचन की माँग के विरुद्ध आमरण अनशन किया। परिणामस्वरूप गाँधी-अम्बेडकर विवाद ने उग्र रूप धारण किया। दलितों को मिलने वाले इस राजनीतिक अधिकारों से गाँधी जी डर गए थे। वे चाहते थे कि इस देश के दलित, हिन्दुओं की ही इकाई रहे अन्यथा हिंदू बहुसंख्यक से घटकर

अल्पसंख्यक होने की संभावना है।

संपूर्ण देश में डॉ. अम्बेडकर के खिलाफ रोष व्यक्त होने लगा। अंत में गाँधी की जिद्द और उनकी बिगड़ती दशा को देखकर डॉ. अम्बेडकर को इस राजनीतिक अधिकारों को छोडना पड़ा था। केवल विधानसभा में और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की सुविधाएँ मिली। गांधीजी का अस्पृश्यता निवारण का अभियान भूतदया और सहानुभूति की भावना से जन्मा था। इसलिए गाँधी जी अस्पृश्यता-निवारण के लिए क्रांतिकारी भूमिका नहीं निभा सके। इस अपमानजनक अनुभव से डॉ. अम्बेडकर का हृदय आक्रोश से भर उठा था। हिन्दू धर्मावलंबियों की मानसिकता को वे अच्छी तरह जान चुके थे। अतः दलित समाज को तथाकथित उच्चवर्णियों की गुलामी से मुक्त करके स्वतंत्र व्यक्तित्व देने के लिए अक्तूबर १९३५ में येवले गाँव में उन्होंने दलितों के साथ अन्य धर्म में धर्मान्तर करने की घोषणा की। उन्होंने कहा था कि मैंने हिन्दू धर्म में जन्म लिया है, परन्तु मैं हिन्दू रहकर मरना नहीं चाहूँगा।

श्री मधु लिमये ने डॉ. अम्बेडकर की धर्म परिवर्तन की घोषणा के कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि, डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि अनुसूचित जातियों के साथ इसीलिए भयानक दुर्व्यवहार किया जाता है क्योंकि वे अपने को हिन्दू कहती हैं। अगर वे किसी और धर्म की सदस्य होतीं तो किसी में भी उन्हें अस्पृश्य का दर्जा देने का साहस न होता। अतः उन्होंने अनुसूचित जातियों के लोगों से कहा कि वे किसी भी ऐसे धर्म को चुन लें जो उन्हें समान व्यवहार और प्रतिष्ठा दे सकें।

हमारी प्राचीन परंपरा वाली धरती पर एक नयी सरकार बनी है, जिसे अन्तरिम सरकार या काम-चलाऊ सरकार कहते हैं। यह पूर्ण स्वराज्य की दिशा में अपने देश का प्रथम चरण है। इस अवसर पर हमने कोई जलसा नहीं मनाया है, क्योंकि हमारे दिल शोक से भरे हुए हैं। कलकत्ता की दुखदायी घटनाएँ हमारे सम्मुख हैं, जहाँ एक भाई पागलों की तरह दूसरे भाई का गला काट रहा है। जिस स्वाधीनता का स्वप्न हमने देखा था और जिसके लिए हमारी कई पीढ़ियाँ लड़ती आई वह भारत की सारी जनता के लिए थी, किसी एक जाति या सम्प्रदाय मात्र के लिए नहीं।

बोधिसत्व डॉ. भीमराव अम्बेडकर ईश्वरवाद, भाग्यवाद, पुनर्जन्म और मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। वे पराप्रकृति चमत्कारों में नहीं बल्कि कर्म में विश्वास करते थे और पारलौकिक सुख-सुविधाओं के काल्पनिक आशावाद में नहीं, अपितु इसी जगत् में मानव विशेषकर सर्वहारा वर्ग के कल्याण और विकास में विश्वास करते थे तथा अन्याय और शोषण का कारण और निवारण भी इसी जगत् में देखते थे। उनकी सोच और कर्म का आधार कोई स्वप्निल लोक न होकर सांसारिक वैचारिक धरातल था। उन्होंने जीवन भर इसी कर्म को ही महत्व दिया एवं तद्नुरूप आदर्श भी प्रस्तुत किया। विशेष रूप से आर्थिक, सामाजिक एवं विधायी क्षेत्र में तो उनके योगदान को भुलाया ही नहीं जा सकता।

भारतीय संविधान महिलाओं, दलितों, पिछड़ों एवं अल्पसंख्यकों के अधिकारों का न केवल प्रकाश स्तम्भ है बल्कि प्रगतिशीलता का प्रतिनिधि है। डॉ. अम्बेडकर ने इन वर्गों के आर्थिक विकास, सामाजिक विकास, कल्याण और अधिकारिता के लिए संविधान के माध्यम से जिस संवैधानिक मूक क्रान्ति का सूत्रपात किया था, उसके चलते आज ये वर्ग अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे हैं। अन्याय का विरोध कर रहे हैं और डॉ. अम्बेडकर को अपना मुक्तिदाता या मसीहा मानते हैं और उन्हें, उनके कार्यों को और उनके जीवन संघर्ष को आदर्श मानते हैं। यही कारण है कि जब उनके कार्यों और उनकी विचारधारा का जनता में व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ तो सन् १९६० के दशक के उपरान्त डॉ. अम्बेडकर की प्रतिमाएँ स्थापित की जाने लगीं। आभारी जनमानस द्वारा ऐसा उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने, विचार-दर्शन का प्रसार करने और आदर्श ग्रहण करने के सम्यक उद्देश्य से किया गया और अम्बेडकर स्मृति दलित, शोषित और अधिकार वंचित समाज के प्रेरणा स्त्रोत के रूप में उभरने लगी।

डॉ. अम्बेड़कर ने अछूतोद्धार के दौरान मानवीय अधिकारों की मांग प्रस्तुत की। मानवाधिकारों की प्राप्ति न केवल समाज के सहयोग पर आधारित थी बल्कि दलितों के संगठन और उत्साह पर भी निर्भर थी। मानव अधिकारों की मांग को अछूतोद्धार आन्दोलन के अंतर्गत आगे बढ़ाने के लिए डॉ. अम्बेड़कर ने स्वयं मध्य प्रदेश, मद्रास और मुंबई प्रांतों के तूफानी दौरे

किये थे। उन्होंने मालाबार के अछूतो की दुर्दशा का समाचार सुना और वहाँ सभा में गए। वहाँ के अछूत परिवार की स्थिति बड़ी दयनीय थी। उन्हें मृत पशुओं का मांस खाना पड़ता था। उनकी औरतों को अधनंगा रहने के लिए मजबूर होना पड़ता था। मानव अधिकारहीन इन अर्द्धमानव प्राणियों को देखकर उनका खून खौल गया। वे एक ऐसे नेता थे जिन्होंने समस्त अछूतों के दुःख और पीड़ाओं को अपना वैयक्तिक अपमान समझा। इसलिए उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि वह अछूतों को दासता की स्थिति से मुक्त करेंगे और उनके मानवीय अधिकारों की दिशा में सतत संघर्ष करेंगे।

डॉ. अम्बेड़कर पराधीनता की भावना से घृणा करते थे और अछूतों पर सवर्ण हिन्दू सुधारकों के संरक्षण के कट्टर विरोधी थे। वे उन आंदोलनों एवं संगठनों के आलोचक थे जो दलित वर्गों के नाम पर प्रसिद्धि पाना चाहते थे। उनके व्यक्तित्व में अछूतों के प्रति आत्मीयता थी और एक नेता के रूप में वह अछूतों, दीन-हीन, दलितों के साथ बड़े मार्मिक ढंग से बातचीत करते थे। उन्हें झिड़कियाँ देते और विभिन्न प्रकार की ताड़ना भी देते। वे कहते कि अछूतों को भी उसी प्रकार मकानों में रहने, वस्त्र पहनने और भोजन प्राप्त करने का अधिकार है जिस प्रकार देश के अन्य नागरिक उनका प्राप्त करते हैं। यदि अछूत आत्मसम्मान का जीवन जीना चाहते हैं तो उन्हें आत्म सहायता के सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए।

डॉ. अम्बेड़कर ने एक ओर अछूतों को मानवीय अधिकारों के प्रति सचेत किया तो दूसरी ओर कट्टर हिन्दूओं को चेतावनी दी कि उन्हें सपने में भी मानवीय भावना का आदर करना चाहिए अन्यथा भारत में ऐसी क्रांति आ सकती है जिसके गंभीर परिणाम हो सकते हैं। गाँधीजी ने अछूतोद्धार के लिए सवर्ण हिन्दुओं से अपने हृदय परिवर्तन का निवेदन किया, सावरकर की अपील ने हिन्दुओं के अन्तःकरण तथा बुद्धि को उत्तेजित किया लेकिन अम्बेडकर की अपील ने अछूतों के हृदय को गतिशील बना दिया और उन्हें सामाजिक दासता के प्रति विद्रोह के लिए स्वयं उठ खड़े होने का साहस दिया।

डॉ. अम्बेड़कर चाहते थे कि अछूतों को मानवीय अधिकार शीध्रतिशीघ्र मिलें ताकि वे भी अपने को मानव प्राणी समझे। इस संबंध में सफलता प्राप्त करना कोई आसान काम नहीं था क्योंकि

कट्टर हिन्दुओं द्वारा कड़ा प्रतिरोध किया जा रहा था। अतः डॉ. अम्बेड़कर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि सतत संघर्ष किये बिना हिन्दू समाज में मानवीय अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। तत्कालीन सामाजिक वातावरण में एकमात्र उपाय संघर्ष के साथ-साथ सत्याग्रह था जिस पर चलने का उन्होंने और उनके साथियों ने निश्चय किया। उनके द्वारा किये गये सत्याग्रहों में से दो बड़े प्रसिद्ध है - महाड का जल सत्याग्रह और नासिक का धर्म सत्याग्रह ।

महाराष्ट्र के एक कर्मठ समाज सुधारक आयु. एस. के. बोले ने सन् १९२३ में मुंबई परिषद में यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया था कि सरकार द्वारा या सार्वजनिक धन से संचालित संस्थाएँ, अदालत, विद्यालय, चिकित्सालय, कार्यालय, धर्मशाला, कुंआँ, जलाशय, पनघट, तालाब इन स्थानों में प्रवेश करने का और उनका उपयोग करने का अधिकार सरकार अछूत वर्गों को भी प्रदान करें।

यह प्रस्ताव दि. ४ अगस्त १९२३ को पास हो गया था। सरकार ने सब प्रमुख विभागों और स्थानीय बोर्डों को यह आदेश जारी कर दिये थे कि अछूतों को सार्वजनिक स्थानों का प्रयोग करने दिया जाए। इसी आदेशानुसार कोलाबा जिले की महाड़ नगरपालिका ने १९२४ में चवदार तलाब से पानी भरने का अछूतों को अधिकार दे दिया था। परंतु वहाँ के हिन्दू नहीं चाहते थे कि अछूत लोग तालाब के पानी का प्रयोग करें। हालांकि ईसाई, मुसलमान, पारसी सभी तालाब के पानी का उपयोग करते थे। सवर्ण हिन्दुओं ने यह ठान ली थी कि किसी भी अछूत को तालाब का पानी छूने तक न दिया जाए। अछूतों के धर्म भाई ही उनका प्रतिरोध कर रहे थे।

जिला कुलाबा के दलित लोगों ने महाड़ नामक स्थान पर दि. १९-२० मार्च, १९२७ को एक विशाल सम्मेलन आयोजित किया और दि. १९ मार्च १९२७ की रात को सम्मेलन के पश्चात् विषय समिति की बैठक हुई। समिति में यह निर्णय लिया गया कि सामूहिक रूप से ही चवदार तावाब पर पानी लेने के लिए जाएँ। दूसरे दिन २० मार्च को तालाब से पानी पीने का प्रस्ताव पास हुआ। सुबह होते ही डॉ. अम्बेड़कर के नेतृत्व में कोई लगभग पांच हजार नर-नारियों का एक जुलूस चार-चार की कतार में बड़े नियंत्रित ढंग से तालाब की ओर चल पड़ा। सबसे पहले डॉ.

अम्बेड़कर ने तालाब से पानी पिया उनके पश्चात् हज़ारों दूसरे स्त्री-पुरुषों ने भी जलाचमन किया। जुलूस अब विजेता जुलूस के रूप में सम्मेलन पैण्डाल में लौट आया।

चवदार तालाब से पानी लेने के कारण हिन्दू क्रुद्ध तो थे ही परंतु जुलूस पर हमला करने का उनका साहस नहीं हुआ। इस घटना के ठीक दो घंटे बाद कुछ दबंग सवर्ण हिन्दुओं ने यह अफवाह फैला दी कि अछूत लोग वीरेश्वर के मंदिर में प्रवेश की योजना बना रहे हैं। इस झूठी ख़बर से हिन्दुओं में गुस्सा चढ़ गया और जोश में आकर वे संगठित हो गए और अपने हाथों में लाठियाँ लेकर मोर्चे तैनात कर लिए। उन्होंने यह नारा बुलन्द कर दिया कि उनका धर्म ही नहीं बल्कि ईश्वर भी अपवित्र होने के ख़तरे में है। इन कट्टर हिन्दुओं ने जहाँ कहीं भी अछूत स्त्री, बच्चे और आदमी मिले, उन्हें पीटना आरंभ कर दिया। दलित लोगों पर उन्होंने दण्डे बरसाये और उनके भोजन को मिट्टी में मिला दिया-भगदड़ मच गई।

इस दंगे में पुलिस ने केवल नौ हिन्दुओं को गिरफ्तार किया। केस चला और उनमें से पांच को ६ जून १९२७ को जिला मजिस्ट्रेट ने चार-चार मास का कड़ा कारावास का दण्ड दिया।

महाराष्ट्र तथा भारत के प्रमुख समाचार पत्रों ने डॉ. अम्बेड़कर के इस साहसिक सत्याग्रह की प्रशंसा की और सवर्ण हिन्दुओं द्वारा निहत्थे अछूतों पर आक्रमण की निन्दा की। छुआछूत के विरूद्ध यह एक ऐतिहासिक निर्णय था।

महाड़ के सनातनी हिन्दुओं ने चवदार तालाब का शुद्धिकरण संस्कार किया। फलतः १०८ घड़े जल के तालाब से भरवाकर बाहर फेंके गए और पंचगव्य से भरे हुए कुछ घड़े ब्राह्मण-पुरोहित के मंत्रोच्चार के साथ तालाब में उंडेले गए। डॉ. अम्बेड़कर ने इसे अछूतो का अपमान समझा। उन्होंने अपने पत्र बहिष्कृत भारत के माध्यम से इसका प्रचार किया।

उन्होंने अपने लेख में कहा कि, *संसार में भारत को छोड़कर ऐसा कोई देश और समाज नहीं है, जिसमें करोड़ों मनुष्यों को अछूत माना जाता है और ईश्वर की दी हुई वस्तुओं का भी उन्हें उपयोग करने नहीं दिया जाता। धरती, जल और हवा आदि तत्व मनुष्य को प्रकृति की ओर से*

मिले हैं। सभी मनुष्यों का इस पर समान अधिकार होता है, जो समाज इनके उपयोग में विभेद करता है उस समाज को यदि अज्ञानियों का समाज कहा जाए तो किसी को बुरा नहीं मानना चाहिएँ।[1]

डॉ. अम्बेड़कर ने पुनः सत्याग्रह की योजना बनाई। उधर महाड़ नगर पालिका ने सवर्ण हिन्दुओं के दबाव में आकर सरकार का वह आदेश रद्द कर दिया जिसके अंतर्गत अछूतों को तालाब से पानी भरने का अधिकार दिया था। हिन्दुओं का प्रतिरोध तो एक चुनौती थी ही पर महाड़ नगर पालिका ने एक और चुनौती प्रस्तुत कर दी। डॉ. अम्बेड़कर ने दोनों चुनौतियों को स्वीकार किया। उन्होंने महाड़ सत्याग्रह समिति की स्थापना की और २५-२६ दिसम्बर १९२७ के दिन पुनः सत्याग्रह के लिए निश्चित किए।

डॉ. अम्बेड़कर २४ दिसंबर १९२७ को अपने २०० साथियों तथा प्रतिनिधियों सहित मुंबई से महाड़ रवाना हो गए और दूसरे दिन दोपहर वहाँ पहुंच गए। वहाँ पुलिस अधीक्षक ने उन्हें पहले जिलाधीश से मिलने को कहा। जिलाधीश से मिलने पर उन्होंने डॉ. अम्बेड़कर से कहा कि, *सवर्ण हिन्दुओं ने चवदार तालाब को व्यक्तिगत सम्पत्ति होने का दावा किया है। अतः जब तक इस बात का कानूनी फैसला नहीं हो जाता तब तक आप सत्याग्रह न करें।*

लेकिन चूँकि डॉ. अम्बेड़कर स्वयं भी एक बैरिस्टर थे, उन्होंने कहा कि, *जिस स्थान का प्रयोग मुस्लिम, पारसी तथा हिन्दू करते हैं, वह गैर-सरकारी स्थान कौसे हो सकता है? हम सत्याग्रह अवश्य करेंगें।* साथ ही डॉ. अम्बेडकर ने जिलाधीश को उनकी इच्छानुसार परिषद द्वारा आयोजित सभा में बोलने की अनुमति प्रदान की। उस सभा में लगभग १५००० स्त्री-पुरूष महाड़ सत्याग्रह के लिए एकत्रित हुए थे। जिलाधीश ने अपने उद्‌बोधन में अदालत के निर्णय तक सत्याग्रह को स्थगित रखने की सलाह दी।

जिलाधीश को सुनने के बाद सभा में प्रत्येक वक्ता ने सत्याग्रह का समर्थन किया। अछूतों में

---

[1] 'बहिष्कृत भारत २२ मार्च १९२७

अपार उत्साह था और कई लोग बड़े उत्तेजित भी थे। स्थिति की कटुता से जिलाधीश को अवगत कराया गया। तब जिलाधीश ने डॉ. अम्बेडकर से घंटो विचार-विमर्श किया और रात को सभी नेताओं की बैठक हुई। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए यही निर्णय लिया गया कि सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाए। दूसरे दिन डॉ. अम्बेड़कर ने एकत्र जन समूह को समझाया और कहा कि, *यह मत सोचना कि यदि आप सत्याग्रह स्थगित करते हो तो उसमें कोई अपमान है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि सत्याग्रह के स्थगन का अर्थ यह नहीं होगा कि हमने संघर्ष का परित्याग कर दिया है। संघर्ष उस समय तक जारी रहेगा जब तक चवदार तालाब पर हम अपना अधिकार प्राप्त नहीं कर लेते।* दलित नेता के निर्णय को सबने स्वीकार किया।

लेकिन डॉ. अम्बेड़कर ने यह देखकर कि सत्याग्रह भविष्य में संभव नहीं होगा, अदालत में चवदार तालाब से अछूतों द्वारा पानी पीने के अधिकार के लिए दावा पेश कर दिया। वह मुकदमा कई वर्ष तक चलता रहा और डॉ. अम्बेड़कर स्वयं उसकी पैरवी करते रहे। मुंबई हाईकोर्ट ने दि. १७ मार्च १९३६ को अछूतों के पक्ष में फैसला दिया। दस वर्ष के अदालती संघर्ष के पश्चात् अनेक प्रकार के कष्ट और कठिनाइयों को सहते हुए डॉ. अम्बेड़कर को सफलता मिली। समूचे अछूत समुदाय के सम्मान की यह ऐतिहासिक विजय थी।

इस प्रकार महाड़ आंदोलन दलितों के उद्धार में प्रथम एवं कारगर साबित हुआ। इसके पश्चात् तो संपूर्ण भारत में दलित आंदोलन करवट लेने लगा और कालांतर में इस आंदोलन ने एक विशाल जनांदोलन का रूप धारण कर लिया।

इसी प्रकार मंदिर प्रवेश हेतु नाशिक के अछूतों ने एक मोर्चा समिति गठित कर ली थी, जिसके सचिव श्री भाऊराव गायकवाड ने कालाराम मंदिर के ट्रस्टियों को यह लिख भेजा था कि, " यदि निश्चित तिथि तक उन्होंने मंदिर अछूतों के लिए नहीं खोला तो अछूत मोर्चा आरंभ कर देंगे। डॉ. अम्बेड़कर २ मार्च १९३० को ही मुंबई से नाशिक पहुँच गये। उनकी अध्यक्षता में एक आमसभा हुई जिसमें अपार भीड़ थी। सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि सत्याग्रह अवश्य किया जाए। सत्याग्रह की विधिवत घोषणा कर दी गई।

सत्याग्रह का स्वतः बहुत प्रचार हो गया। सरकार ने शहर में दफा १४४ लगा दी। यह सत्याग्रह लगभग एक माह तक चलता रहा। अंततः ९ अप्रैल १९३० का दिन आ गया। इस दिन राम नवमी थी और इस दिन राम की मूर्ति की रथ यात्रा निकलती थी। सवर्ण हिन्दुओं और अछूतों में समझौता यह हुआ कि दोनों ओर बलिष्ठ व्यक्ति रथ खीचेंगे। इससे पहले कि डॉ. अम्बेड़कर तथा उनके साथी रथ तक पहुंच पाते, कुछ उपद्रवी तत्वों ने उनको झगड़े में फँसा लिया और सवर्ण हिन्दू रथ लेकर चल दिये। पुलिस पहले से तैयार थी, डण्डे बरसने लगे। पतथर फेंके जाने लगे जिससे बहुत से लोग बुरी तरह घायल हो गए।

डॉ. मुंजे, डॉ. कुर्तकोटि और सेठ बिरला आदि प्रमुख हिन्दू नेता अम्बेडकर से अप्रैल १९३० के मध्य मुंबई में मिले परंतु इतने दृढ थे कि उन्होंने हिन्दू नेताओं की एक न सुनी। परिणाम स्वरूप नासिक का कालाराम मंदिर पूरा एक वर्ष बंद रहा और मोर्चा अक्टूबर १९३० तक चालू रहा। मंदिर प्रवेश का सत्याग्रह रथ यात्रा पर केन्द्रित हो गया। जब भी रथ यात्रा की प्रथा ही समाप्त कर दी। रथ यात्रा के बिना ही मूर्ति को स्नान कराने के लिए ले जाने के लिए अनुमति दे दी। परंतु सन् १९३१ में उस पर भी प्रतिबंध लगा दिया। एक समय ऐसा आया जब मंदिर प्रवेश पर कानून बन गया और अक्टूबर १९३५ में कालाराम मंदिर के दरवाजे अछूतों के दर्शनार्थ खुल गए।

इस प्रकार महाड़ का सत्याग्रह जलाचमन के लिए था तो नाशिक का सत्याग्रह मंदिर प्रवेश के लिए। दोनों में मानवीय अधिकारों की मांग निहित थी और डॉ. अम्बेड़कर ने अछूतों के अधिकारों की दिशा में प्रबल संघर्ष छेड़कर विजय प्राप्त की।

दलितों का मंदिरों में प्रवेश बीसवीं सदी के तीरसे और चौथे दशक की अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। यह वही प्रश्न है जिसके सहारे अंग्रेज़ भी अपनी रोटी सेंकने का प्रयत्न कर रहे थे।

बहरहाल डॉ. अम्बेडकर के पश्चात् दलित आंदोलन को सही दिशा में ले जानेवाला नेतृत्व प्राप्त नहीं हुआ। अतः दलितों की मुक्ति में अधिक समय लग गया।

1.3. दलित मुक्ति आंदोलन का आगाज़ : सन् 1857

जनतांत्रिक आंदोलनों का एक बेहतर परिणाम यह हुआ है कि साहित्य एवं संस्कृति में दलितों की भूमिका को अब भारतीय समाज धीरे-धीरे मानने को तैयार हो गया है, लेकिन इतिहास में दलितों की भूमिका को स्वीकारने में अभी भी कठिनाई हो रही है। इसका मुख्य कारण है कि भारतीय सवर्ण समाज ने अपने अंतःमन एवं ज्ञान-जगत् में दलितों की एक छवि बना रखी है। जिसमें उन्हें निरीह, निम्न एवं निष्क्रिय रूप में देखते हैं। सब यही मानते रहे हैं कि ये सिर्फ प्रताड़ित होनेवाले समुदाय हैं, इनमें प्रतिरोध की चेतना रही ही नहीं हैं, अगर रही भी हैं तो अपने मालिकों के साथ प्रतिरोध की नकल करने, उनका अनुसरण करने एवं उनका साथ देने के रूप में रही है।

इस संदर्भ में दीपांकर गुप्ता द्वारा संपादित पुस्तक 'कास्ट इन क्वेस्ट' में प्रकाशित जी. के. कारंत के आलेख 'रिप्लिकेशन ऑर डिसेंट' में देखा जा सकता है, जिसमें उन्होंने कर्नाटक की अछूत दलित जातियों के अध्ययन के माध्यम से यह साबित करने की कोशिश की है कि किस प्रकार अनुकृति भी निम्न समुदाय के लिए प्रतिरोध का ही एक रूप है। दलित सेनानियों द्वारा अपने मालिक के उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष में शामिल होना कहीं से भी उनकी लड़ाई को सिर्फ़ मालिकों के लिए की जाने वाली लड़ाई के रूप में देखना उचित नहीं होगा।

इसका कारण यह मानते हैं कि इतिहास गतिकी स्वार्थों के टकराहट से ही संचालित होता है। तभी तो सन् १८५७ के संघर्ष को हम सिर्फ़ सामंतों और राजाओं के व्यक्तिगत हितों के अंग्रेज़ों से हुए टकराहट के रूप में देखते हैं। यह एक डिटर्मिनेटिव एप्रोच है जिसमें हम यह भूल जाते हैं कि मानव-हितों और स्वार्थों से इतर भी कुछ होता है। अगर दलितों का स्वार्थ अंग्रेज़ों से टकरा रहा था तो उन्हें कुछ नहीं करना था, ऐसा मानते हैं। अक्सर लोग यह भूल जाते हैं कि दलितों में भी मन होता है, भाव होता है, उच्छवास होता है। वे अपने से ही नहीं, अपने आस-पास से भी संचालित होते हैं।

चूँकि भारतीय सवर्ण समाज में यह धारणा प्रचलित रही है कि दलित समाज निरीह रहा है तो वह संघर्ष कैसे कर सकता है। जबकि सब यह भूल जाते हैं कि इतिहास के विभिन्न कालखंड

दलित नायकों के संघर्ष-कालखंड रहे हैं। आठवीं शताब्दी से लगभग बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी तक प्राचीन काल का राजत्व कमज़ोर पड़ रहा था और मध्यकाल की राजशाही वजूद में पूरी तरह आ नहीं पाई थी, यह एक संक्रमण का दौर था। इस दौर में दलित जाति के अनेक दुस्साहसिक नायक हमारी लोकगाथाओं के नायक बने। कुँवर विजयमल जो जाति का दुसाध माना जाता है, दीनाभद्री मुसहर लड़ाके थे, चुहरमल, सहलेश इत्यादि भी दलित जाति के नायक थे। इन लोकगाथाओं को पढ़ें तो जाहिर होता है कि इन जातियों में वीर एवं दुस्साहसी लोग थे जिन्होंने अपने राज तक कायम किए। प्रसिद्ध एंथ्रोपालिटिशियन कुमार सुरेश सिंह ने लिखा है कि तेरहवीं शताब्दी में अयोध्या का राजा निम्न जाति का था, शायद डोम जाति का, मध्य उत्तर प्रदेश एवं अवध के पासी राजाओं डालदेव, बलदेव, बिजली पासी, सुहलेदेव इत्यादि के बारे में अंग्रेज़ी नेतृत्वशास्त्रियों के लेखन एवं सेंसस गजेटियर्स में भी ज़िक्र आते हैं। कर्नल नील, जिन्होंने सन् 1857 के विद्रोह के आस-पास एक दमनकारी सैन्य अधिकारी के रूप में छवि बनाई थी, ने अपने अत्यंत रोचक संस्मरण में लिखा है कि किस प्रकार उस समय अंग्रेज़ी सेना के लिए पासी वीर एक चुनौती बन गए थे, यह ठीक है कि अंग्रेज़ अधिकारी अपनी शब्दावली में नायक न कहकर अपराधी ही कहेगा, लेकिन हमें ऐसी व्याख्याओं से निकलना ही चाहिए। इस आलेख में यह भूमिका मैं इसलिए बना रहा हूँ कि दलितों के बारे में बन गई स्टीरियो टाइप छवि को तोड़ना चाहता हूँ और दलित आंदोलन में इस समय को एक महत्वपूर्ण पड़ाव साबित करना चाहता हूँ।

कोल्फ इच डर्क एक डच इतिहासकार हैं जिन्होंने बताया कि उत्तर भारत में किस प्रकार मध्यकाल एवं प्रारम्भिक उपनिवेशिक काल में सैन्य करम न केवल सवर्ण जातियों में बल्कि निम्न जातियों में एक प्रमुख नौकरी के रूप में उभरा था। न केवल यादव, क्षत्रिय जैसी धनी सामंती जातियाँ बल्कि पासी, दुसाध, डोम, मेहतर, मुसहर, कहार, नीची जातियों के लोग भी खाली समय में सैन्य अभ्यास करके, कुश्ती-पहलवानी करके तत्कालीन बिखरे एवं केंद्रीयकृत राजसत्ताओं की सेना के लिए अपने को तैयार रखते थे जो पूरे भोजपुर एवं अवध में नौकरी का महत्वपूर्ण माध्यम था, ऐसा अनेक ऐतिहासिक साक्ष्यों से साबित हुआ है। अगर हम कोल्फ की बात मान लें तो हमें

यह मानने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि 'नौकरनुमा निरीह जातियों' के मध्य भी एक नौकरीशुदा सैनिक वर्ग था जो सन् 1857 के विद्रोह में शिरकत कर सकता था। एक दूसरे इतिहासकार निकोलस डर्कस ने अपनी नई पुस्तक में जातियों के बारे में लिखा है कि भारत में अंग्रेज़ी सत्ता के मज़बूत होने के पहले जातीय स्मृतियाँ काफ़ी कुछ लचीली थीं।

सन् 1861 में 1857 के विद्रोह के बाद जब अंग्रेज़ों ने महसूस किया कि भारतीय समाज में बड़ा तबका उनके खिलाफ लड़ा है तो उनकी सूची बनाने, उनकी प्रवृत्तियों को जानने व समझने के लिए कोलोनियल डिटरमिनेशन प्रोजेक्ट शुरू किया जिसके अंतर्गत सेंसर एवं गजेटियर का निर्माण हुआ जिसके आधार पर इन जातियों को नियंत्रित करने के लिए अनेक एक्ट बनाए गए।

कोलोनियल डिटरमिनेशन प्रोजेक्ट का एक असर यह हुआ है कि अब जातीय स्मृतियाँ निश्चित हो गईं, वे एक बार लिखित होकर प्रिंट में छप गईं। क्रिमिनल ट्राई पैक्ट इन्हीं प्रक्रियाओं का परिणाम था। जिसके तहत १९८ दलित जातियों को चिह्नित किया गया, इन्हें तीन नाम दिए गए एक्स क्रिमिनल ट्राइब्स, डीनोटिफाइड ट्राइब्स, नोमेडिक ट्राइब्स। सन् १९६० में इसे इंडियन पैनल कोड में बदल दिया गया। सन् १८५७ के संघर्ष के बाद जहाँ ऊँची जातियों के अनेक लोग राय साहब, राय जमींदार, महाराज, राजा, जागीरदार की उपाधि लेने में व्यस्त थे वहीं दलितों के ऊपर क्रिमिनल ट्राइब एक्ट लगाया जा रहा था। यह एक्ट उपनिवेशिक इतिहास के विभिन्न कालखंडों में लगाया गया जो इस प्रकार है, सन् १८७१, १८९६, १९०१-०२, १९०९, १९११, १९१३-१४, १९१९ तथा १९२४। यह जानना बहुत रोचक है कि सन् १८५७ के तुरन्त बाद क्रिमिनल एक्ट बनाने की क्या आवश्यकता पड़ी और इन दलित जातियों को चिह्नित करने की क्या ज़रूरत पड़ी? वस्तुतः सन् १८५७ के विद्रोह के बाद अंग्रेज़ी शासन ने अपनी गवर्नेंस एवं कंट्रोल एक्टिविटीस की कमी के रूप में देखा तथा भारतीय समाज में इस विद्रोह से सबक लेकर इसे नियंत्रित करने के लिए नई स्ट्रेटजी बनाई तथा उन्हें क्रिमिनल जाति बना दिया जो उनके प्रशासन के लिए चुनौती थे। जो औपनिवेशिक नियमों को नहीं मानते थे और उन्हें बार-बार तोड़ते थे।

यूँ भी सन् १८५७ का विद्रोह मात्र सेनाओं, सैनिकों, राजओं का विद्रोह नहीं था, रूद्रांशु मुखर्जी, गौतमभद्र, पिंच जैसे अनेक इतिहासकार मानते हैं कि इस विद्रोह में किसानों ने बड़े पैमाने पर शिरकत की, जिन गाँवों के सैनिक जिनकी संख्या लाखों में थी, शहीद हुए थे, वे गाँव इस विद्रोह से जुड़ गए। डच इतिहासकार डच कोल्फ की बात मानें तो अनेक निचली जातियों का भी साहसी सैनिकनुमा संवर्ग इस विद्रोह से जुड़ा हुआ था।

आज दलित इतिहासकार अपने नायकों की पहचान कर रहे हैं। जिनका संबंध १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम से रहा था। इस परिप्रेक्ष्य में मातादीन भंगी का उल्लेख मिलता है जिन्होंने अपने मन-मस्तिष्क में उपजे सवालों से १० मई १८५७ को मेरठ छावनी में सैनिक विद्रोह का बिगुल बजाया। वस्तुतः इतिहास में चर्चित नायकों के प्रेरणास्रोत बने ये दलित नायक थे। राष्ट्रभक्ति एवं देशभक्ति की भावना के अतिरिक्त यह ऐसा आंदोलन रहा जिसमें जनमानस की भागीदारी बनी। यह संघर्ष ऐसे समय में हुआ जब तत्कालीन नरेश अपनी सिंहासन रक्षा हेतु संघर्षरत थे। दलित सर्वहारा किसान से किसी नरेश का कोई सरोकार न था, ऐसे में मातादीन भंगी ने पानी पीने के लिए दो नंबर पल्टन के सिपाही मंगल पांडे से पीतल का लोटा माँगा, इस दुस्साहसिक कार्य हेतु मंगल पांडे के फटकार लगाने पर मातादीन भंगी ने चिढ़ाते हुए कहा कि, *"बहुत ज़ल्द ही तुम्हारी पंडिताई (ब्राह्मणपन) निकल जाएगी, जब* तुम दाँत से सुअर और गाय की चर्बी से बने कारतूस काटकर बंदूक में भरकर चलाओगे।"

इस घटना के बारे में कैप्टन राइट ने एक पत्र मेजर बोन्टीन के नाम २२ फरवरी १८५७ को लिखा था। मातादीन नए कारतूस बनाने वाली फैक्ट्री दमदम में नौकर था इसलिए उसकी बात मान ली गई। यह बात आग की तरह फैल गई। तत्कालीन परिस्थितियों में जब एक अछूत जाति की आवाज़ भी भोजन करते समय एक ब्राह्मण पसंद नहीं करता था, ऐसे समय में उससे पानी पीने के लिए लोटा माँगना एक साहसिक कार्य था। इस घटना के पश्चात् अंग्रेज़ अफसर ने मातादीन भंगी को फाँसी पर लटका दिया। १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम का सेहरा भले ही मंगल पांडेय और रानी लक्ष्मीबाई को दिया हो परंतु उनके पीछे प्रेरणास्रोत बने मातादीन भंगी एवं

झलकारीबाई।

जी. डब्ल्यू. फारेस्ट ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि सिपाहियों को स्वैच्छिक विद्रोह व झाँसी पर पूर्ण विजय के बाद जब अधिकांश सेना दिल्ली की ओर चली गई तब रानी लक्ष्मीबाई सैनिकों के इस काम में स्वेच्छा से शामिल नहीं थीं। इस दौरान लक्ष्मीबाई अंग्रेज़ों से दूरस्थ संबंध रखती थीं और अपने हक के लिए समझौते का प्रयास कर रही थीं। इस समय विद्रोही सैनिक के रूप में झलकारीबाई के पति पूरन कोरी तथा भाऊबक्शी कोरियों की सेना लेकर अंग्रेज़ों का संहार कर रहे थे। संघर्ष की विशालता को देखते हुए रानी लक्ष्मीबाई अंग्रेज़ों के संपर्क में आ रही थीं। परंतु झलकारीबाई एवं उनके पति चिंतित थे कि कहीं रानी लक्ष्मीबाई अंग्रेज़ों की गिरफ्त में न आ जाएँ। ऐसी नाजुक स्थिति में झलकारीबाई ने सूझबूझ का परिचय देते हुए अपने विश्वसनीय सैनिकों के साथ रानी लक्ष्मीबाई को असुरक्षित किले से बाहर निकालकर सुरक्षित स्थान पर भेजने में मदद की। युद्ध के समय में झलकारीबाई ने बड़ी सूझबूझ का परिचय देते हुए स्वयं भंडारी गेट से उन्नाव गेट तक युद्ध का संचालन किया। उनके पति पूरन कोरी और भाऊबक्शी भी युद्ध में व्यस्त थे। झलकारीबाई का चेहरा और व्यक्तित्व काफ़ी कुछ रानी लक्ष्मीबाई से मिलता था। इसका फायदा उठाकर किले में वह रानी लक्ष्मीबाई बनकर युद्ध करती रही। ताकि वे दूर सुरक्षित स्थान पर पहुँच जाएँ। उनके पति पूरन कोरी अपनी मातृभूमि की रक्षा करते हुए शहीद हो गए। यह पता चलते ही झलकारीबाई और भी बहादुरी से लड़ने लगी तथा अंग्रेज़ी सेना के पैर उखाड़ दिए। महारानी लक्ष्मीबाई के प्रति सच्ची मित्रता, देशप्रेम तथा प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के लिए अपने कर्तव्य का पालन करते हुए शहीद हो गई। त्याग और बलिदान के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत कर अपने को अमर कर गई।

लोचन मल्लाह की कानपुर में १८५७ के संग्राम में अहम भूमिका रही। यहाँ अंग्रेज़ अफसर नाना साहब को अपना हितैषी समझते थे। कानपुर के कलेक्टर भी नाना साहब को अपना मित्र ही मानते थे। यहाँ तक कि अपने को माफ करने हेतु महारानी विक्टोरिया एवं अंग्रेज़ अफसरों को पत्र भी लिखा था ताकि वे उनके विश्वासपात्र बने रहें। नाना साहब २६ जून १८५७ को रातभर

उनके घेरे में रहे। रात में ३ बजे अंग्रेज़ गंगा तट पर लोचन मल्लाह की व्यवस्था देखने हेतु गए। लोचन मल्लाह ने ४० नावों की व्यवस्था की थी ताकि अंग्रेज़ों को इलाहाबाद पहुँचाया जा सके। नाना साहब की देखरेख में अनेक अफसर तथा उनकी पत्नियाँ गंगा तट तक लाए गए, ईवार्ट सैन्य अधिकारी पालकी में बैठकर आ रहा था परंतु विद्रोही सैनिकों को भनक लग गई और उन्होंने पालकी से खींचकर हत्या कर दी। विद्रोही सैनिक इस दौरान कानपुर में आ चुके थे। गंगा घाट पर कानपुर क्रांति के सेनानायक टीकासिंह, अजीमुल्लाह तथा तात्या टोपे सभी खड़े थे। इसी दौरान नाना साहब का एक घुड़सवार आया और उसने व्हीलर की विदाई के लिए नाना साहब को संदेश दिया। इशारा पाकर लोचन मल्लाह ने अपने साथियों से नाव छोड़ देने को कहा। सभी मल्लाह गंगा में कूद गए। अंग्रेज़ों ने उन पर गोलियाँ चलाई। पुनः लोचन मल्लाह ने दूसरी नाव पर क्रांतिकारियों को लेकर अंग्रेज़ों का पीछा किया। इस दौरान लोचन की मदद से ८० अंग्रेज़ स्त्री, पुरुष एवं बच्चे कानपुर लाए गए। बच्चों तथा स्त्रियों को अलग कर क्रांतिकारियों ने १४ अंग्रेज़ों को फाँसी पर लटका दिया।

डी. सी. डिंकर ने अपनी पुस्तक 'स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का योगदान' में वीरांगना महाबीरी देवी का उल्लेख किया है। यह भंगी जाति की तेज-तर्रार महिला थी। महाबीरी ने अपनी जाति की महिलाओं को एकत्र कर संगठन बनाया तथा मुजफ्फरनगर में अंग्रेज़ों से मोर्चा लिया। २२ महिलाओं की टोली ने बल्लम-गड़ासों से लैस होकर अंग्रेज़ों पर हमला कर उन्हें मौत के घाट उतार दिया। अपने ऊपर अचानक अनपढ़ एवं निम्न जाति समाज की महिलाओं द्वारा हमला किए जाने पर अंग्रेज़ अफसर हतप्रभ रहे, क्योंकि यह विद्रोह किसी राजा के नेतृत्व में नहीं था बल्कि यह आम जनता का विद्रोह था। ये सभी महिलाएँ आंदोलन में शहीद हो गईं।

नन्हीबाई का योगदान भी स्वतंत्रता आंदोलन में स्मरणीय है, क्योंकि वह जिस समाज से थी उस समाज से हम स्वतंत्रता आंदोलन में संघर्ष के लिए सोच भी नहीं सकते थे। भक्तन जाति के लोग वैष्णव संप्रदाय के मानने वाले थे। पर उनकी कन्याओं की शादी नहीं होती थी। उनकी शादी किसी साधु के साथ करकर उन्हें वेश्यावृत्ति में उतार दिया जाता था। यह समाज भी ब्राह्मणी

व्यवस्था का शिकार था। नन्हीबाई ने भी इसी भगतन परिवार में एक वेश्या की कोख से जन्म लिया। महर्षि दयानंद सरस्वती ने भी नन्हीबाई को जोधपुर के राजा के साथ देखकर यह टिप्पणी की थी कि 'सिंहों के सिंहासन पर इस कुतिया से कुत्ते ही पैदा होंगे' सुनकर अपमान एवं क्रोध का घूँट पीकर रह गई।

कालांतर में नन्हीबाई ने समाज सेवा का व्रत लिया और अपनी अपार धन-संपदा को देश की सेवा में लगा दिया। हालाँकि नन्हीबाई पर दयानंद सरस्वती को मारने का आरोप लगा था। नन्हीबाई ने लेडी हार्डिंग मेडिकल कालेज के साथ-साथ अनेकों संस्थानों को अपनी संपत्ति बेचकर दान दिया, अंग्रेज़ों से उनकी बहस होती ही रहती थी। वे क्रान्तिकारियों को मदद करना अपना धर्म समझती थीं क्योंकि एक वेश्या होने के नाते स्वतंत्रता के मायने बखूबी जानती थीं। यहाँ उत्तर प्रदेश के जौनपुर जनपद के मछली शहर में रहने वाले बाँके चमार का उल्लेख करना भी नितांत आवश्यक है। इन्होंने प्रमुख बागी नेता हरिपाल सिंह के साथ रहकर स्वतंत्रता आंदोलन में अनेक अफसरों को मौत के घाट उतारकर दलित समाज में वीरता और बहादुरी तथा दलित क्रांतिकारी होने का सबूत पेश किया। इन पर अंग्रेज़ों ने पाँच हजार रुपए का पुरस्कार घोषित किया था। अंततोगत्वा इन्हें भी फाँसी पर लटकाया गया।

इतिहास की खोज, इतिहास रचना एवं इतिहास का निर्माण एक सतत विकासमान प्रक्रिया है। अम्बेडकर के समय अर्थात् १९२० से १९५६ तक राष्ट्र की मुक्ति के संग्राम में दलितों की मुक्ति की बात होती थी, यह वहीं तक सीमित नहीं थी। नए शोधों, अभिलेखीय दस्तावेजों के नए पाठ, औपनिवेशिक दस्तावेजों का उच्छेदवादी पुनर्पाठ से इतिहास में दलितों का प्रवेश का दरवाजा चौड़ा ही हुआ है।

अम्बेडकर के समय सन् १९५७ के बाद का जो दलितवादी मूल्यांकन रहा था वह आज काफी कुछ बदल चुका है। अगर अम्बेडकर आज जीवित होते तो इतिहास में दलितों की भूमिका पर वैसा ही पाठ करते जैसा कि डी. सी. डिंकर, एम. आर. विद्रोही, एस. संजीवन नाथ, के. नाथ जैसे दलित लेखक कर रहे हैं। न व्यवस्थाएँ रुकती हैं न समाज रुकी रहता है और न इतिहास।

अतः इन नए पाठों को भी देखना चाहिए। और सन् १८५७ के उस संग्राम में जिसमें उत्तर भारत में अनेक गाँव शामिल थे, जिसकी तरफ इशारा अत्यंत पुरानी इतिहास पुस्तक में सुंदरलाल ने किया है और बताया है कि किस प्रकार फूल और चपाती गाँव-गाँव में घुमाकर यह साबित किया जाता था कि यह गाँव स्वतंत्रता संग्राम में शामिल है। उन गाँवों में रहने वाले शोषित दलितों के उन स्वतंत्र क्षणों को समझा जाए जहाँ उन्होंने अनेक बार अपने खुद की पहल पर स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया। ऐसा नहीं था कि राजा विद्रोह करे तभी प्रजा करे, प्रजा विद्रोह में राजा से आगे चली जाती है। इतिहास यूँ ही कार्यकारण संबंधों के डिटर्मिनिस्टिक आग्रहों से नहीं चलता। इसमें अनेक स्वर होते हैं, अनेक गतिविधियाँ, अनेक अनगूँजें, सिर्फ उन्हें देखने, सुनने, समझने की संवेदनशीलता होनी चाहिए।

दलितवादी चेतना का स्वर १८५७ में जो उभरा वह प्रखर बनकर अम्बेडकर के विचारों में प्रवाहित हुआ और दलितों की मुक्ति के लिए एक प्रशस्त मार्ग बना।

1.4. डॉ. अम्बेडकर और दलित आंदोलन

दलित आंदोलन की पृष्ठभूमि वैसे तो मध्यकालीन संतों की वाणी से ही बन रही थी और जाति-प्रथा का विरोध भी उसी के आसपास शुरु हो चुका था। लेकिन, सन् १८५७ के संग्राम में दलितों ने जो मुख्य भूमिका (Key Role) निभाई उससे यह साफ हो चुका था कि दलितों की चेतना में बदलाहट हुई है और दलितवादी आंदोलन अपना सिर उठा रहा है। उक्त तथ्य इस बात की पुष्टि के लिए काफ़ी हो जाते हैं। बहरहाल सन् १८५७ में दलितों द्वारा निभाई सक्रिय भूमिका के बावजूद भी दलित आंदोलन को एक दिशा प्रदान करने के लिए डॉ. अम्बेडकर का भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में प्रवेश बहुत मायने रखता है।

ग़ौतलब है कि दलित मुक्ति का मुद्दा सर्वप्रथम यदि आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानंद सरस्वती ने उठाया और उनके पश्चात् लाला लाजपत राय ने, वैसे गाँधी जी ने भी दलितों के पक्ष की बात की लेकिन वे वर्ण-व्यवस्था के प्रबल समर्थक भी थे। उन्होंने केवल अछूतोद्धार की बात

की और अछूतोद्धार के नाम पर अछूतों को 'हरिजन' नाम दिया। दलितों की समस्या को ठोस आधार प्रदान करने में डॉ. अम्बेडकर का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा अविवादास्पद है।

डॉ. अम्बेडकर दलित-अछूतों के एक सर्वमान्य नेता के रूप में उभरकर सामने आये और सर्वविदित सत्य है कि दलितों के अधिकारों के लिए वे सही मायने में संघर्ष कर रहे थे। डॉ. अम्बेडकर यह घोषणा कर चुके थे कि, *"मैं हिन्दू पैदा हुआ यह मेरे बस की बात नहीं थी, लेकिन मैं हिन्दू रहकर मरूँगा नहीं यह मेरे बस की बात है।"*[1]

हिन्दू धर्म की तमाम बुराइयों ने अम्बेडकर को ऐसा कहने पर मजबूर किया था। शताब्दियों से भारत का सामाजिक जीवन पूर्णतः विषाक्त बना रहा है। हिन्दू धर्म के तथाकथित उच्च एवं सवर्ण लोगों में जो परिवर्तन दिखाई भी दे रहा था कि वे जाति एवं वर्ण-भेद की तुच्छ एवं विकृत भावनाओं से ऊपर उठ गए हैं, कुछ अपवादों को छोड़कर यह खोखला शिष्टाचार अथवा स्वार्थपूर्ति का साधन-मात्र था। गाँधीजी उन लोगों में से एक थे जो यह जान गए थे कि अम्बेडकर दलितों के लिए मसीहा बनने जा रहे हैं। अतः उन्होंने दलितों के लिए शिक्षा एवं मंदिर आदि के द्वार खोल दिए। दलितों ने गाँधीजी की सहानुभूति पाकर उनके लिए अपना सर्वस्व त्यागने तक के लिए आमादा हुए और गाँधीजी ने उनकी भावनाओं को अपने स्वार्थ के लिए कैश किया।

डॉ. अम्बेडकर ने मानव जीवन की सार्वभौतिकता का आदर्श सामने रखा तथा एक उच्च आदर्शयुक्त संस्था के रूप में समाज की रचना करने का स्तुत्य एवं श्लाघनीय प्रयास किया, जिसका एक मात्र ध्येय भारत की भूमि पर जनतन्त्र की स्थापना करना था। किन्तु सामाजिक जीवन के विषाक्त बने रहने के कारण जनतान्त्रिक मूल्यों का विकास नहीं हो पाया, बल्कि जनतांत्रिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास हुआ है।

दलितों को सामाजिक समानता एवं सम्मान दिलाने के लिए डॉ. अम्बेडकर को बड़ी कठिन लड़ाई लड़नी पड़ी। दलितों को सार्वजनिक कुओं, नलों या तालाबों से पानी पीने की अनुमति नहीं

---

[1] 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा', जयप्रकाश कर्दम, पृ.१३

थी, मंदिरों में प्रवेश वे नहीं कर सकते थे, शिक्षा के द्वार उनके लिए बन्द थे। वे समाज से अलग-थलग से थे और इसीलिए सामाजिक जीवन में उनका कोई दखल नहीं था।

डॉ. अम्बेडकर पहले व्यक्ति हुए जिन्होंने दलित होते हुए सामाजिक जीवन में दखल दिया। उन्होंने सार्वजनिक तालाब से दलितों को पानी भी पिलाया और मंदिर में प्रवेश भी कराया। उन्हें बहुत कुछ सहना भी पड़ा। उनको लाठियाँ भी खानी पड़ी, गालियाँ भी सुननी पड़ी और अपमान भी सहना पड़ा। लेकिन यह सब उस अपमान और घृणा से कम था, जो वह अपने जीवन में भोग चुके थे। वह विचलित नहीं हुए तथा दलितोत्थान के अपने उद्देश्य की ओर दृढ़ता से बढ़ते रहे। उन्होंने दलितों के मुकदमे भी लड़े। दलितों के हित और उनके कल्याण के लिए डॉ. अम्बेडकर सरकार से भी लड़े और समाज से भी।[1]

डॉ. धर्मवीर ने अम्बेडकर के आगमन के पूर्व का ज़िक्र करते हुए लिखा है कि, *"डॉ. अम्बेडकर के आगमन से पहले दलितों में सामाजिक चेतना का जागरण आरम्भ हो गया था। ये जागरण तीन तरह के थे। पहले सवर्णों के कई महापुरुषों ने दलितों के शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार को शास्त्र सम्मत सिद्ध किया था। इनमें स्वामी दयानंद और स्वामी विवेकानंद के नाम गिनाए जा सकते हैं। दूसरा स्वयं दलितों का सामाजिक नेतृत्व सामने उभरकर आया था। इनमें महाराष्ट्र में महात्मा ज्योतिबा फुले और केरल में श्री नारायण गुरु का नाम देखा जा सकता है। तीसरे, ईसाई मिशनरियों का धर्म परिवर्तन का आन्दोलन था। वास्तव में यह ईसाई मिशनरियों का ही दोहरा प्रभाव था कि दलितों में से उनका सामाजिक नेतृत्व उभर रहा था और सवर्णों के महापुरुष अपने शास्त्रों की युग सम्मत व्याख्या करने में जुट गए थे।"*[2]

यद्यपि डॉ. अम्बेडकर ने दलित-शोषित वर्ग के हितों की रक्षा के लिए आजीवन संघर्ष किया तथा समाज के बीच एक आन्दोलन खड़ा कर मजलूम एवं उपेक्षित लोगों को सशक्त वाणी दी,

---

[1] 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा', जयप्रकाश कर्दम, पृ.२२

[2] 'डॉ. अम्बेडकर और दलित आंदोलन', डॉ. धर्मवीर, पृ. ११-१२

किन्तु जिस गति से यह आन्दोलन आगे बढ़ना चाहिए था, उस गति से नहीं बढ़ पाया।

डॉ. अम्बेडकर ने देश का संविधान बनाया और संविधान में उन्होंने दलितों के उत्थान के लिए अनेक व्यवस्थाएँ की। उनको विश्वास था कि यदि संवैधानिक व्यवस्थाओं का ईमानदारी से पालन किया गया तो दलितों का उत्थान अवश्य होगा, शेष समाज के स्तर पर आकर वे भी समाज की मुख्य धारा से जुड़ जाएँगे। लेकिन आज तक दलित मुख्य धारा से नहीं जुड़ पाए हैं।

1.5. महाड आन्दोलन - चवदार तालाब सत्याग्रह और दलित

"दलित आंदोलन में महाड़ शहर में २० मार्च, १९२७ को चवदार तालाब के मुक्ति संग्राम का महत्वपूर्ण स्थान है। एक तरह से इसे दलितों की स्वतंत्रता, स्वाभिमान, न्याय तथा उन्नति के लिए ऐतिहासिक संघर्ष भी कहा जा सकता है। वरिष्ठ पत्रकार सुभाष गाताड़े ने इसे दलित आंदोलन का एक प्रमुख पड़ाव माना है।"[1]

महाड़ आंदोलन हमें इतिहास के उन अध्यायों से जोड़ता है, जिसे पढ़ते हुए हमें डॉ. अम्बेडकर तथा उनके अनुयायियों के द्वारा किये गये संघर्ष का पता चलता है। विशेष रूप से चवदार तालाब से पानी लेने की अस्मिता से जुड़ा संघर्ष, ऐसे समय में जबकि हिन्दू समाज में तत्कालीन समय में दोहरे मापदण्ड थे। एक ओर कहा जाता था कि पानी पिलाने से पुण्य मिलता है। प्रायः धनाढ्य लोग धर्मशालाओं के साथ प्याऊ भी बनवाते थे, पर दूसरी तरफ प्यासे को पानी जाति पूछ कर दिया जाता था। विशेष रूप में शहर स्थित प्याऊ में दलितों को पानी पिलाने के लिए नलकी लगी होती थी। जबकि अन्य को गड़वे से पानी पिलाया जाता था। गांवों में कुएँ और तालाबों से दलितों को पानी लेना निषेध था। अधिकांशतः गांवों में जोहड़ का सड़ा हुआ पानी दलित समाज

---

[1] 'भारतीय दलित आंदोलन : एक संक्षिप्त इतिहास', मोहनदास नैमिशराय, पृ. ८३

के लोगों को पीना पड़ता था। उनकी बस्तियों में कुएँ नहीं थे। साफ स्वच्छ पानी की आशा में उन्हें दो-दो, तीन-तीन मील पैदल चलना पड़ता था। तब जाकर उन्हें पानी नसीब होता था।

उन परिस्थितियों की आज हम सिर्फ कल्पना ही कर सकते हैं, जिन विषम और अमानवीय परिस्थितियों के खिलाफ डॉ. अम्बेडकर ने संघर्ष किया था। महाड़ आंदोलन हमें उन सबकी याद दिलाता है।

पानी के सार्वजनिक स्रोतों से दलितों के पानी लेने के समान हक के लिए जो संघर्ष हुए, उनमें महाड़ के चवदार तालाब के पानी के लिए किया गया संघर्ष सबसे महत्वपूर्ण है। पानी के लिए एक दशक तक चलने वाला दलितों का यह जनसंघर्ष 'महाड़ सत्याग्रह' के नाम से प्रसिद्ध है। महाड़ में एक अति विशाल तालाब है। इस तालाब को 'चवदार तालाब' के नाम से जाना जाता है। इस तालाब में पानी मुख्यतः वर्षा और कुछ प्राकृतिक स्रोतों से आता है। यह एक प्राचीन तालाब है और कोई नहीं जानता कि इसे किसने और कब बनवाया। लेकिन सन् १७६१ में जब महाड़ में जब महाड़ में नगरपालिका की स्थापना की गई तो सरकार ने यह तालाब नगरपालिका को सौंप दिया। तब से चवदार तालाब को नगरपालिका का तालाब या सार्वजनिक तालाब माना जाता है। इस तालाब के चारों ओर तटबंध है। इसके चारों ओर लोगों की निजी मालिकाना हक वाली ज़मीन थी। इस ज़मीन के परे तालाब के चारों ओर नगरपालिका की सड़क थी। सड़क से परे सवर्ण हिन्दुओं के मकान थे। महाड़ नगर में ख़रीददारी या सरकारी काम से आने वाले अछूत लोगों के लिए पीने के पानी का कोई इंतजाम नहीं था। उनके लिए चवदार तालाब ही पानी का एकमात्र स्रोत था।

यद्यपि यह एक सार्वजनिक तालाब था, लेकिन अछूत इस तालाब से पानी नहीं ले सकते थे। अछूतों को नगर के कोने पर बसी अछूतों की बस्ती में स्थिर कुएँ से ही पानी लेना पड़ता था। एक तो यह कुआँ नगर के मध्य से कुछ दूरी पर था, दूसरा नगरपालिका की उपेक्षा के चलते यह गंदगी से भरा पड़ा था। नतीजतन जीवन की मूलभूत आवश्यकता, पानी के विषय में अछूतों को काफ़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। बहुधा उन्हें काफ़ी लम्बे समय तक प्यासा रहना पड़ता

था।

प्रसिद्ध समाजसेवी श्री एस. के. बोले ने ४ अगस्त १९२३ को एक प्रस्ताव रखा कि उन सभी सार्वजनिक जलाशयों, कुओं, धर्मशालाओं का इस्तेमाल अछूत कर सकते हैं. जिनका निर्माण और रखरखाव सार्वजनिक निधि से हो या जो सरकार द्वारा नियुक्त या कानूनी तौर पर बनाए गए निकायों की देखरेख में हो। साथ ही यह भी प्रस्तावित किया गया कि वे सरकारी स्कूलों, अदालतों, कार्यालयों और डिस्पेंसरियों का इस्तेमाल भी कर सकते हैं। सरकार ने यह संकल्प मान लिया और मुंबई सरकार ने ११ सितम्बर १९२३ को अपने अधीन सभी कार्यालयों और आदेश जारी कर दिया। आदेश मिलते ही महाड़ नगर परिषद ने एक प्रस्ताव पारित करके सरकारी आदेश को अपनी स्वीकृति दे दी।

दि. २० मार्च, १९२७ को सुबह ९ बजे आर्य समाज के प्रसिद्ध नेता स्वामी श्रद्धानंद को श्रद्धांजलि अर्पित करने के बाद अध्यक्ष का भाषण हुआ। भाई चित्रे ने आभार प्रदर्शन करते हुए कहा कि, *"यहाँ के तालाब का एक पैसे में एक घड़ा पानी के हिसाब से ४० रुपयों का पानी हम लोगों ने कीमत देकर लिया है। वह तालाब सार्वजनिक है, अब धूप तपने लगी है, अतः आप-हम अध्यक्ष के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर चलेंगे, और तालाब का पानी पियेंगे। तालाब के किनारे सभी ने जाकर पानी पिया, और ये लौटकर भोजन-मंडप में आये, कुछ लोगों ने भोजन कर लिया था। कुछ लोग भोजन कर रहे थे। उसी समय सैकड़ों स्पृश्यों (सवर्णों) ने हाथों में लाठियाँ लेकर हमला कर दिया। भोजन में मिट्ठी मिला दी, और लोगों को मारा, जिनमें भानुदास कांबले और पां.ना. राजभोज को बहुत मार पड़ी थी। भाई चित्रे को जान से मारने के इरादे से सवर्णों ने सभी स्थानों पर उन्हें ढूँढा। किन्तु वे मिले नहीं, अगर वे उस समय उनके हाथों लग जाते तो 'महार' परिषद में एक उच्चवर्णीय की बलि चढ़ी होती।"*

महाड़ में स्पृश्यों और अस्पृश्यों के दो गुट जमा हुए थे वातावरण तंग हो चुका था। डी.एस.पी. ने दोनों गुटों के नेताओं से मिलकर उन्हें चालीस-पचास फुट की दूरी पर खड़े रख कर, हज़ारों लोगों के बीच दोनों गुटों के नेताओं से बातचीत करवाई।

इधर महाड़ के कुछ स्पृश्यों ने मिट्टी के १०८ छोटे घट गोमूत्र से भरकर तालाब में डाले। इस तरह उन्होंने तालाब को शुद्ध कर दिया और अस्पृश्यों ने तालाब का पानी नहीं भरना चाहिए, इसलिए कोर्ट से मनाही हुक्म प्राप्त कर लिया।

उधर पुलिस ने दंगा करने वाले स्पृश्यों के खिलाफ केस दाखिल कर दिया। उनमें से पाँच लोगों को ६ जून १९२७ को जिला मजिस्ट्रेट ने चार-चार महीनों के सश्रम कारावास का दण्ड सुना दिया।

दलित आंदोलन के लिए यह एक मुख्य पड़ाव रहा। आंदोलन की बुनियाद तो तब ठोस बनी जब मुंबई विधान परिषद के नए प्रस्ताव के बाद महाड़ नगरपालिका ने अपने यहाँ एक प्रस्ताव पारित कर अपने यहाँ के तमाम सार्वजनिक स्थान दलितों के लिए खुले करने का निर्णय लिया था। दूसरे महाड़ की वह भूमि थी जहाँ पर अम्बेडकर के पूर्ववर्ती महात्मा फुले द्वारा स्थापित सत्यशोधक समाज के दलित समाज के अग्रणी कार्यकर्ता गोपालबुवा वलंगकर ने अपने जनजागृति की शुरूआत की थी।

अपने संगठन 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' के अन्तर्गत बाबासाहेब ने दि. १९-२० मार्च को ही महाड़ में सम्मेलन करने का निर्णय लिया और वह भी तय किया गया कि इसी दौरान दलितों के लिए निषिद्ध माने जाते चवदार तालाब पर जाकर लोग सत्याग्रह करेंगे। २० मार्च की तपती दोपहर में लगभग चार हज़ार की तादाद में वहाँ जमा जनसमूह ने चवदार तालाब की ओर कूच किया। समूचे महाड़ नगर में जुलूस निकाल कर उन्होंने चवदार तालाब पर जाकर पानी पिया। ग़ौरतलब है कि इस ऐतिहासिक सत्याग्रह में गैर ब्राह्मण आंदोलन के शीर्षथ नेताओं के साथ-साथ स्थानीय कम्युनिस्ट कार्यकर्ता भी शामिल थे।

स्पृश्यों द्वारा तालाब में गोमूत्र डालने की प्रक्रिया को डॉ. अम्बेड़कर ने अछूतो का अपमान समझा। उन्होंने अपने पत्र बहिष्कृत भारत के माध्यम से इसका प्रचार किया। उन्होंने अपने लेख में

कहा कि, *संसार में भारत को छोड़कर ऐसा कोई देश और समाज नहीं है, जिसमें करोड़ों मनुष्यों को अछूत माना जाता है और ईश्वर की दी हुई वस्तुओं का भी उन्हें उपयोग करने नहीं दिया जाता। धरती, जल और हवा आदि तत्व मनुष्य को प्रकृति की ओर से मिले हैं। सभी मनुष्यों का इस पर समान अधिकार होता है, जो समाज इनके उपयोग में विभेद करता है उस समाज को यदि अज्ञानियों का समाज कहा जाए तो किसी को बुरा नहीं मानना चाहिए।*[1]

डॉ. अम्बेड़कर ने पुनः सत्याग्रह की योजना बनाई। उधर महाड़ नगर पालिका ने सवर्ण हिन्दुओं के दबाव में आकर सरकार का वह आदेश रद्द कर दिया जिसके अंतर्गत अछूतों को तालाब से पानी भरने का अधिकार दिया था। हिन्दुओं का प्रतिरोध तो एक चुनौती थी ही पर महाड़ नगर पालिका ने एक और चुनौती प्रस्तुत कर दी। डॉ. अम्बेड़कर ने दोनों चुनौतियों को स्वीकार किया। उन्होंने महाड़ सत्याग्रह समिति की स्थापना की और २५-२६ दिसम्बर १९२७ के दिन पुनः सत्याग्रह के लिए निश्चित किए।

डॉ. अम्बेड़कर दि. २४ दिसंबर १९२७ को अपने २०० साथियों तथा प्रतिनिधियों सहित मुंबई से महाड़ रवाना हो गए और दूसरे दिन दोपहर वहाँ पहुंच गए। वहाँ पुलिस अधीक्षक ने उन्हें पहले जिलाधीश से मिलने को कहा। जिलाधीश से मिलने पर उन्होंने डॉ. अम्बेड़कर से कहा कि, सवर्ण हिन्दुओं ने चवदार तालाब को व्यक्तिगत सम्पत्ति होने का दावा किया है। अतः जब तक इस बात का कानूनी फैसला नहीं हो जाता तब तक आप सत्याग्रह न करें।

लेकिन चूँकि डॉ. अम्बेड़कर स्वयं भी एक बैरिस्टर थे, उन्होंने कहा कि, जिस स्थान का प्रयोग मुस्लिम, पारसी तथा हिन्दू करते हैं, वह गैर-सरकारी स्थान कौसे हो सकता है? हम सत्याग्रह अवश्य करेंगे। साथ ही डॉ. अम्बेडकर ने जिलाधीश को उनकी इच्छानुसार परिषद द्वारा आयोजित सभा में बोलने की अनुमति प्रदान की। उस सभा में लगभग १५००० स्त्री-पुरूष महाड़

---

[1] बहिष्कृत भारत २२ मार्च १९२७

सत्याग्रह के लिए एकत्रित हुए थे। जिलाधीश ने अपने उद्‌बोधन में अदालत के निर्णय तक सत्याग्रह को स्थगित रखने की सलाह दी।

जिलाधीश को सुनने के बाद सभा में प्रत्येक वक्ता ने सत्याग्रह का समर्थन किया। अछूतों में अपार उत्साह था और कई लोग बड़े उत्तेजित भी थे। स्थिति की कटुता से जिलाधीश को अवगत कराया गया। तब जिलाधीश ने डॉ. अम्बेडकर से घंटो विचार-विमर्श किया और रात को सभी नेताओं की बैठक हुई। स्थिति की गंभीरता को देखते हुए यही निर्णय लिया गया कि सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाए। दूसरे दिन डॉ. अम्बेड़कर ने एकत्र जन समूह को समझाया और कहा कि, *यह मत सोचना कि यदि आप सत्याग्रह स्थगित करते हो तो उसमें कोई अपमान है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि सत्याग्रह के स्थगन का अर्थ यह नहीं होगा कि हमने संघर्ष का परित्याग कर दिया है। संघर्ष उस समय तक जारी रहेगा जब तक चवदार तालाब पर हम अपना अधिकार प्राप्त नहीं कर लेते।* दलित नेता के निर्णय को सबने स्वीकार किया।

लेकिन डॉ. अम्बेड़कर ने यह देखकर कि सत्याग्रह भविष्य में संभव नहीं होगा, अदालत में चवदार तालाब से अछूतों द्वारा पानी पीने के अधिकार के लिए दावा पेश कर दिया। वह मुकदमा कई वर्ष तक चलता रहा और डॉ. अम्बेड़कर स्वयं उसकी पैरवी करते रहे। मुंबई हाईकोर्ट ने १७ मार्च १९३६ को अछूतों के पक्ष में फैसला दिया। दस वर्ष के अदालती संघर्ष के पश्चात् अनेक प्रकार के कष्ट और कठिनाइयों को सहते हुए डॉ. अम्बेड़कर को सफलता मिली। समूचे अछूत समुदाय के सम्मान की यह ऐतिहासिक विजय थी।

इस प्रकार महाड़ आंदोलन दलितों के उद्धार में प्रथम एवं कारगर साबित हुआ। इसके पश्चात् तो संपूर्ण भारत में दलित आंदोलन करवट लेने लगा और कालांतर में इस आंदोलन ने एक विशाल जनांदोलन का रूप धारण कर लिया।

वास्तव में यदि देखा जाए तो महाड़ आंदोलन या चावदार तालाब सत्याग्रह केवल पीने के पानी के लिए किया गया सत्याग्रह नहीं था बल्कि इस तालाब का पानी सभी जाति, धर्म और पंथ के लोगों को समानता के आधार पर पीने के लिए मिले इसी हक के लिए की गयी लड़ाई

थी। जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं पर एक मुट्ठी भर लोगों का कब्जा कहाँ तक उचित था। लेकिन प्राचीन काल से यह कब्जा चला आ रहा था। अम्बेडकर के नेतृत्व में तथा आधुनिकता के परिवेश में सभी कालबाह्य मूल्यों को चुनौती देने की आवश्यकता थी, जो महाड़ आंदोलन ने पूर्ण कर दी। यहाँ से दलितों की आवाज़ बुलंद होती गयी। इस आंदोलन के पश्चात् न केवल महाराष्ट्र बल्कि भारत के अन्य राज्यों में भी इस प्रकार के आंदोलन होने लगे और दलित वर्ग अपने मूलभूत अधिकारों के प्रति जागृत होने लगा। इस आंदोलन ने भारतीय बुनियादी ढाँचे में सेंध लगा दी और फिर लगातार आंदोलन होते गये।

इसी शृंखला में नाशिक का कालाराम मंदिर सत्याग्रह भी हुआ जो दलितों द्वारा मंदिर प्रवेश कर अपने हक को अमलीजामा पहनाने का सफल उदाहरण है।

1.6. कालाराम मंदिर सत्याग्रह और दलित

वैसे नाशिक का कालाराम मंदिर सत्याग्रह इसलिए नहीं किया कि दलित वर्ग ईश्वर के दर्शन का भूखा था ; बल्कि इसलिए किया गया कि दलित अब समाज में समानता चाहते थे। पिछले दो हज़ार वर्षों में अछूतों को हिन्दुओं के ईश्वरों के दर्शन नहीं हुए थे, इसलिए अछूत समाज का कुछ अड़ा हुआ नहीं था। नाशिक के मंदिर प्रवेश की लड़ाई तो केवल हिन्दू समाज में उनके समानता के हक का संरक्षण करने के लिए थी। इस सत्याग्रह की लड़ाई में लोगों को जो पीड़ा हुई, उनको जो परेशानियाँ भोगनी पड़ी वह केवल इसलिए कि अन्य लोगों की तरह हम भी इंसान है और अन्य लोगों की तरह हम को भी मंदिर में जाने का हक है, इस बात की स्थापना करने के लिए बर्दाश्त की गई थी। हम लोगों को इस तरह की बात बिल्कुल समझ में नहीं आती कि, हम अन्य इंन्सानों की तरह इन्सान हैं फिर भी मंदिर में हमारे जाने से हिन्दू मंदिर अपवित्र कैसे हो जाते हैं? और सवर्णों द्वारा हम लोगों पर ज़बर्दस्ती लादा हुआ यह अछूतपन का घिनौना कलंक धोने के लिए और यह दिखाने के लिए कि हम इन्सान है, हम किसी भी दृष्टि से अपवित्र नहीं हैं, इसलिए कालाराम मंदिर प्रवेश की लड़ाई लड़ना ज़रूरी थी।

मंदिर प्रवेश हेतु नाशिक के अछूतों ने एक मोर्चा कमेटी गठित कर ली थी, जिसके सचिव श्री भाऊराव गायकवाड ने कालाराम मंदिर के ट्रस्टियों को यह लिख भेजा था कि यदि निश्चित तिथि तक उन्होंने मंदिर अछूतों के लिए नहीं खोला तो अछूत मोर्चा आरंभ कर देंगे। डॉ. अम्बेड़कर २ मार्च १९३० को ही बम्बई से नासिक पहुंच गये। उनकी अध्यक्षता में एक आमसभा हुई जिसमें अपार भीड़ थी। सर्वसम्मति से यह निर्णय लिया गया कि सत्याग्रह अवश्य किया जाए। सत्याग्रह की विधिवत घोषणा कर दी गई।

सत्याग्रह का स्वतः बहुत प्रचार हो गया। सरकार ने शहर में दफा १४४ लगा दी। यह सत्याग्रह लगभग एक माह तक चलता रहा। अंततः ९ अप्रैल १९३० का दिन आ गया। इस दिन राम नवमी थी और इस दिन राम की मूर्ति की रथ यात्रा निकलती थी। सवर्ण हिन्दुओं और अछूतों में समझौता यह हुआ कि दोनों ओर बलिष्ठ व्यक्ति रथ खीचेंगे। इससे पहले कि डॉ. अम्बेड़कर तथा उनके साथी रथ तक पहुंच पाते, कुछ उपद्रवी तत्वों ने उनको झगड़े में फँसा लिया और सवर्ण हिन्दू रथ लेकर चल दिये। पुलिस पहले से तैयार थी, डण्डे बरसने लगे। पतथर फेंके जाने लगे जिससे बहुत से लोग बुरी तरह घायल हो गए।

डॉ. मुंजे, डॉ. कुर्तकोटि और सेठ बिरला आदि प्रमुख हिन्दू नेता अम्बेडकर से अप्रैल १९३० के मध्य मुंबई में मिले परंतु इतने दृढ थे कि उन्होंने हिन्दू नेताओं की एक न सुनी। परिणाम स्वरूप नासिक का कालाराम मंदिर पूरा एक वर्ष बंद रहा और मोर्चा अक्टूबर १९३० तक चालू रहा। मंदिर प्रवेश का सत्याग्रह रथ यात्रा पर केन्द्रित हो गया। जब भी रथ यात्रा की प्रथा ही समाप्त कर दी। रथ यात्रा के बिना ही मूर्ति को स्नान कराने के लिए ले जाने के लिए अनुमति दे दी। परंतु सन् १९३१ में उस पर भी प्रतिबंध लगा दिया। एक समय ऐसा आया जब मंदिर प्रवेश पर कानून बन गया और अक्टूबर १९३५ में कालाराम मंदिर के दरवाजे अछूतों के दर्शनार्थ खुल गए।

इस प्रकार महाड़ का सत्याग्रह जलाचमन के लिए था तो नासिक का सत्याग्रह मंदिर प्रवेश के लिए दोनों में मानवीय अधिकारों की मांग निहित थी और डॉ. अम्बेड़कर ने अछूतों के अधिकारों की दिशा में प्रबल संघर्ष छेड़कर विजय प्राप्त की।

दलितों का मंदिरों में प्रवेश बीसवीं सदी के तीरसे और चौथे दशक की अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। यह वही प्रश्न है जिसके सहारे अंग्रेज़ भी अपनी रोटी सेंकने का प्रयत्न कर रहे थे।

हिन्दू समाज के परंपरागत ढाँचे को तोड़ने के लिए यह होना अनिवार्य था। मोहनदास नैमिशराय ने हिन्दुओं की मानसिकता का उदाहरण देते हुए गुजरात के नरसिंह मेहता पर बीती एक घटना का ज़िक्र किया है। *"नरसी मेहता वैष्णव थे। एक दिन उन्हें दलित समाज के एख भक्त ने कीर्तन के लिए आमंत्रित किया। वे वहाँ गए। कीर्तन रात भर चला। प्रातः होते-होते नागर ब्राह्मणों में यह बात आग की तरह फैल गई। नगर के लोगों ने इसे अपनी समूची जाति का अपमान समझा और उन्हें जाति से बाहर कर दिया। इस तरह उन्हें ब्राह्मणों ने अपमानित किया। नरसिंह मेहता ने बहुत से पद लिखे हैं, जो 'ग्लोरी ऑफ़ गुजरात' नाम से अंग्रेज़ी पुस्तक में संकलित हैं।"*[1]

इस प्रकार हिन्दुओं ने अछूतों के साथ कीर्तन करना भी निषिद्ध कर दिया था। ऐसे में कालाराम मंदिर प्रवेश करना आवश्यक था। हाँलाकि मध्यकाल में संत कबीरदास ने सामान्य भक्तिमार्ग को इसीलिए तवज्जह दी थी क्योंकि परंपरागत मान्यता के अनुसार अछूत मंदिर प्रवेश नहीं कर सकते थे। स्वामी रामानंद ने कबीरदास को अपना शिष्य नहीं बनाया था क्योंकि वे जुलाहा या निम्न जाति के थे। बहरहाल अम्बेडकर के नेतृत्व में दलित आंदोलन को एक सही दिशा मिली, जिसके चलते आज दलितों को समाज में स्थान प्राप्त हो रहा है।

वास्तव में *"भारत की सबसे महान व्याधि जो इसे ले डूबी है, हिन्दुओं की जन्ममूलक ऊँच-नीच की दुर्भावना अर्थात् जात-पांत है। एक समय था जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक सारा देख हिन्दू होता था। इतना ही क्यों, नौवीं शताब्दी में काबुल में भी पाल वंश के हिन्दू राजा राज करते थे। परंतु आज हम देखते हैं कि आधा पंजाब मुसलमान हो*

---

[1] 'भारतीय दलित आंदोलन : एक संक्षिप्त इतिहास', मोहनदास नैमिशराय, पृ. ३९

गया, आधा बंगाल मुसलमान हो गया है और आधा मद्रास ईसाई हो गया है। अनंत छोटी-छोटी जातियों में बँटे होने के कारण सब हिन्दू मिलकर विदेशी आक्रामकों का सामना नहीं कर सके। हिन्दू ऊपर से चाहे एक राष्ट्र दीख पड़ते हों, परंतु भीतर से झाँका जाए तो इनकी जितनी जातियाँ और उप-जातियाँ हैं उतने ही अलग-अलग राष्ट्र हैं।"[1]

भारत के इस अलगाव को कम करने के लिए भी पानी के लिए सत्याग्रह करना एवं मंदिर प्रवेश करना अनिवार्य था। इसी में अस्पृश्यता निवारण कार्यक्रम भी सम्मिलित था।

1.7. भारतीय गोलमेज परिषद और दलित

सन् १९३० में लंदन में हुई पहली भारतीय गोलमेज परिषद् में डॉ. अम्बेडकर भारतीय दलितों के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। इस सम्मेलन में अछूतों के साथ सदियों से हो रहे अन्याय को दूर करके उन्हें सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार देकर सभी के साथ बराबरी तक पहुँचाने के लिए दलितों के अधिकारों की और साथ ही पृथक निर्वाचन की भी मांग की थी। जिसे ब्रिटिश सरकार ने मान्यता दी, परंतु महात्मा गाँधी ने स्वतंत्र पृथक निर्वाचन की माँग के विरुद्ध आमरण अनशन किया। परिणामस्वरूप गाँधी-अम्बेडकर विवाद ने उग्र रूप धारण किया। दलितों को मिलने वाले इस राजनीतिक अधिकारों से गाँधी जी डर गए थे। वे चाहते थे कि इस देश के दलित, हिन्दुओं की ही इकाई रहे अन्यथा हिंदू बहुसंख्यक से घटकर अल्पसंख्यक होने की संभावना है।

संपूर्ण देश में डॉ. अम्बेडकर के खिलाफ रोष व्यक्त होने लगा। अंत में गाँधी की जिद्द और उनकी बिगड़ती दशा को देखकर डॉ. अम्बेडकर को इस राजनीतिक अधिकारों को छोडना पड़ा था। केवल विधानसभा में और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की सुविधाएँ मिली।

---

[1] 'जाति : एक विमर्श', अनुवाद एवं संपादन - डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ९७

1.8. अस्पृश्यता निवारण और दलित

भारत में जाति-प्रथा का उदय क़रीब ढ़ाई हज़ार वर्षों पहले हुआ था। यह न सिर्फ हिन्दुओं बल्कि सिखों, ईसाइयों और मुसलमानों के बीच भी पाया जाता है। लेकिन अस्पृश्यता की समस्या केवल हिन्दू धर्म में ही दृष्टिगोचर होती है। और अस्पृश्यता और जातीय आधार पर प्रताड़ना की मानसिकता भारत के हिन्दू धर्मग्रंथों का ही स्रोत है, जिसे किसी संविधान या कानून से बदला जाना संभव नहीं है। आर्य हिन्दुओं के सबसे प्रामाणिक और मान्य धर्मग्रंथ ऋग्वेद ने आज से हज़ारों साल पहले व्यवस्था दे दी थी कि आर्य समाज के घटक चारों वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों-प्रत्यंगों से हुई है। ऐसे में जो पाँव से उत्पन्न हुआ है, उसका समाज में कोई विशेष महत्व नहीं रहा। वह समाज के उच्च वर्णों की सेवा के लिए उत्तरदायी रहा। अमूमन उच्च वर्ग ने दलितों को अछूत कहकर समाज में प्रताड़ित किया। आधुनिक युग में भले ही महात्मा ज्योतिबा फुले, डॉ. अम्बेडकर आदि ने अस्पृश्यता निवारण का कार्यक्रम चलाया और इससे भी आगे बढ़कर अम्बेडकर ने दलितों के लिए संविधान के विशेष अनुच्छेदों के तहत आरक्षण की व्यवस्था की। लेकिन आरक्षण मिल जाने भर से अस्पृश्यता निवारण संभव नहीं बन पड़ता। दलितों के साथ समाज में कोई गरिमा के साथ संबोधित नहीं करता।

मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा को अनुच्छेद-१ में कहा गया है कि "सभी मनुष्य जन्म से ही गरिमा और अधिकारों की दृष्टि से स्वतंत्र और समान हैं। उन्हें बुद्धि और अंतश्चेतना प्रदान की गई है। उन्हें परस्पर भ्रातृत्व की भावना से कार्य करना चाहिए।" अनुच्छेद-३ में घोषित किया गया है कि "प्रत्येक व्यक्ति को प्राण, स्वतंत्रता और दैहिक सुरक्षा का अधिकार है।" अनुच्छेद-५ में घोषित किया गया है कि "किसी भी व्यक्ति को यंत्रणा नहीं दी जाएगी या उसके साथ क्रुर, अमानवीय या अपमानजनक व्यवहार नहीं किया जाएगा।" अनुच्छेद-८ के अनुसार "प्रत्येक व्यक्ति को संविधान या विधि धारा प्रदत्त मूल अधिकारों का हनन करने वाले कार्यों के विरुद्ध सक्षम राष्ट्रीय अधिकरणों द्वारा प्रभारी उपचार का अधिकार है।"[1]

---

[1] सामाजिक न्याय की ओर 'स्मारिका', भोपाल सम्मेलन १२-१३ जनवरी, २००२, बी. एल. करेन, पृ. ९०

इन अनुच्छेदों के बावजूद भी दलितों पर अन्याय-अत्याचार होता आया है और हो रहा है। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दू धर्म की भेद-भाव भरी जाति-व्यवस्था ने भारत का जितना नुकसान किया है, उतना अन्य किसी ने नहीं। इन्हीं सब कारणों से डॉ. अम्बेडकर ने बुद्ध धर्म की मान्यताओं को सच्चा धर्म माना और दलितों को बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने का आव्हान किया जो हिन्दू धर्म के अनुरूप है, धर्म परिवर्तन नहीं। अम्बेडकर भारतीय समाज के जातीय भेदभाव और अस्पृश्यता के माहौल में एक तरफ तो देश की आज़ादी की लड़ाई के लिए मन से समर्पित थे, दूसरी तरफ इस देश में रहने वाले करोड़ों दलितों की आज़ादी की लड़ाई उन्होंने तन-मन-धन और बुद्धि से लड़ी। यही कारण है कि पूना पैक्ट जो भारी जन दबाव में गांधी जी के जीवन को बचाने के लिए डॉ. अम्बेडकर ने गांधी जी के समक्ष दलितों के लिए अलग निर्वाचन मण्डल की मांग को छोड़कर किया और केवल आरक्षण, वह भी १० वर्षों के लिए गांधी जी की जिद पर स्वीकार किया, देश के लिए ऐतिहासिक मोड़ सिद्ध हुआ। डॉ. अम्बेडकर की यह भविष्यवाणी भी सच प्रमाणित हुई कि हिन्दू धर्म की भेदभाव पूर्ण जाति-व्यवस्था के कारण १० वर्ष तो क्या सौ वर्षों में भी आरक्षण से समता एवं एकता का स्तर प्राप्त करना संभव नहीं है।

जाति-व्यवस्था से निजात पाने के लिए शासकीय स्तर पर अस्पृश्यता निवारण कार्यक्रम ग्रामीण स्तर जिलाध्यक्ष कार्यालय द्वारा चलाए जाते हैं, जिनके माध्यम से आशा की जाती है कि समाज के सभी वर्गों की जनता मिलकर इस बुराई को दूर करे। इन आयोजनों में सामूहिक भोज भी रखे जाते हैं किन्तु प्रायः देखने में यह आता है कि अस्पृश्यता निवारण शिविर में उद्घाटन के के समय जिलाध्यक्ष महोदय सहित आदिम जाति कल्याण के जिला संयोजक का अमला, ग्राम पंचायत के सरपंच, पंच सदस्य, ब्लॉक अध्यक्ष, जिला जनपद अध्यक्ष आदि अफनी उपस्थिति दर्ज कर अपने उद्बोधन में अस्पृश्यता को मानवीय अपराध और समाज के लिए अभिशाप बता कर भोज के समय उपवास, परहेज या अन्य कार्यक्रम में शीघ्र जाने की व्यस्तता बताकर पूरे समय नहीं रहते हैं।

महात्मा गांधी जी ने अस्पृश्यता निवारण के संबंध में कहा था कि, *"जहाँ तक अस्पृश्यता के प्रश्न से मेरा संबंध है, मैं इसे हिन्दू धर्म के लिए जिन्दगी और मौत का सवाल समझता हूँ। मैंने बार-बार कहा है कि अगर अस्पृश्यता जीवित रहती है तो हिन्दू धर्म का सर्वनाश होगा। यही नहीं, भारत का नाश भी निश्चित है। पर यदि अस्पृश्यता का हिन्दुओं के दिलों में से समूल नाश कर दिया जाए, तब हिन्दू धर्म का सारी दुनिया के लिए एक विशेष संदेश होगा। यदि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अनिवार्य अंग रहती है तो हिन्दू धर्म एक समाप्त शक्ति हो जाएगा, परंतु अस्पृश्यता एक वीभत्स असत्य है। अस्पृश्यता निवारण के आन्दोलन को प्रारम्भ करने में मेरा ध्येय स्पष्ट है। मेरा लक्ष्य यही नहीं है कि हिन्दू किसी अस्पृश्य को स्पर्श कर लें बल्कि हरेक हिन्दू अपने हृदय का समग्र परिवर्तन कर लें और दिल में से अस्पृश्यता को पूरी तरह निकाल दें।"*[1]

इसके बावजूद भी भारतीय समाज व्यवस्था में हाल-हाल तक अस्पृश्यता की समस्या प्रचलित है। इस बात को समझने के लिए अधिक शोध करने की आवश्यकता नहीं है कि इस देश में अस्पृश्यता मौलिक रूप से धार्मिक या राजनैतिक उत्पत्ति है। अस्पृश्यता अपने-आप में अलग संस्था नहीं है बल्कि हिन्दू समाज में जाति-प्रथा का ही एक अंग है, इस प्रकार से अस्पृश्यता हिन्दू धार्मिक प्रणाली व सामाजिक व्यवस्था का ही अंग है। यह लोगों के संपूर्ण समूह के कुछ लोगों की ही प्रवृत्ति है।

हम अस्पृश्यता का उन्मूलन तब तक नहीं कर पाएँगे जब तक कि सामाजिक व्यवस्था में नए मूल्यों की स्थापना करके परिवर्तन नहीं लाया जाता है और इस प्रयोजन के लिए सर्वप्रथम हिन्दू धर्म पर आधारित मूल्यों को परिवर्तित करना होगा। हिन्दू जीवन को शासित करने वाले मूल्यों, आस्थाओं, परिपाटियों, मापदंडों व सिद्धांतों, जिन्होंने समज में अन्याय, असमानता, घृणा, अंधविश्वास और ऊँच-नीच के भेदभाव जैसी सामाजिक बुराइयों को जन्म दिया है, को जड़ से उखाड़ फेंकना होगा और उनके स्थान पर सही मूल्यों व मापदंडों को स्थापित करना होगा जिससे बंधुत्व भावना, न्याय, समानता व तर्कसंगत दृष्टिकोण को बढ़ावा मिल सके। और इसके लिए निजी

---

[1] सामाजिक न्याय की ओर 'स्मारिका', भोपाल सम्मेलन १२-१३ जनवरी, २००२, बी. एल. करेन, पृ. फ्लैप

एजेंसियों एवं सरकार दोनों को सामाजिक रूपांतर संबंधी विस्तृत योजना तैयार करने की ज़रूरत है। तभी डॉ. अम्बेडकर का सपना पूरा होगा।

आज़ादी के बाद जातीय अन्याय और असमानता दूर करने की दिशा में बड़ी कोशिशें की गईं। संविधान ने धर्म, जाति, लिंग, भाषा, वर्ण इत्यादि के भेदभाव से परे सभी नागरिकों को राजनीतिक अधिकार प्रदान किए। फिर भी, कुल मिलाकर शिक्षा, रोजगार, आर्थिक एवं सामाजिक अवसरों के मामलों में अभी काफ़ी असमानताएँ हैं। इन असमानताओं को दूर करना सबका लक्ष्य होना चाहिए तभी देश का विकास संभव होगा।

अस्पृश्यता निवारण आंदोलन शासकीय स्तर पर चलाने से कोई विशेष लाभ नहीं होने वाला। दरअसल वास्तविक अर्थों में लोगों के दिलो-दिमाग से छुआछूत की भावना को मिटाने की आवश्यकता है। डॉ. अम्बेडकर ने अस्पृश्यता निवारण का जो बिडा उठाया था, उसे आज व्यापक पैमाने में प्रसारित करने की आवश्यकता है। भले ही आधुनिकता के चकाचौंध में हमें यह लग रहा हो कि समाज में काफ़ी सारा परिवर्तन हो गया है, लेकिन देश के दूर-दराज वाले गाँवों में आज भी छुआछूत की समस्या दिखाई देती है। देश के सर्वांगीण विकास के लिए नवीन सोच की आवश्यकता है।

हम दलित आंदोलन के व्यापक परिणामों को आज तक नहीं समझ पाए हैं। यह मौजूदा विचारधाराओं में नई जान डाल सकता है, उन्हें गोलबंदी का बिन्दु बना दे सकता है और इस प्रक्रिया में सामाजिक सोच को देशी स्वरूप प्रदान कर सकता है। अस्पृश्यता निवारण दलित आंदोलन का एक विशेष पहलू है, जिससे सामाजिक सोच को बदलने में पहल की गयी थी और आज भी उस पहल को पुनः चालना देने की जरूरत है।

1.9. आरक्षण और दलित

सन् १९४७ के राजनीतिक परिवर्तन के समय भारत की जनसंख्या लगभग ३३ करोड़ थी जो आज १०० करोड़ से ऊपर पहुँच गयी है। उस समय भारत एक कृषि प्रधान देश था। ८० प्रतिशत गाँव और बाकी २० प्रतिशत में शहर और कस्बे आबाद थे। कृषि प्रधान देश था इसलिए ८० प्रतिशत किसान थे, किसानों के खेत थे, पोखर और कुएँ थे। गाँवों-कस्बों में जड़ी-बूटियाँ पीस कर दवे देने वाले खानदानी वैद्य थे। कहीं-कहीं डाकिये और 'मास्साब' थे। मरण-मौत, शादी-विवाह पर कर्ज देने वाले साहूकार थे, पूजा पाठ कराने वाले पण्डित पुरोहित थे और थे जमींदार जो पुश्तों से अंग्रेज़ हाकिमों की चाकरी करते आ रहे थे। वे आज़ादी के बाद गांधी बाबा का नाम लेने लग गये थे। भारत में कहने को प्रजातन्त्र आ गया था, पर सामन्तवाद मरा नहीं था। पण्डितों, पुरोहितों, राजपूत ज़मींदारों और पूँजीवाद के नए रूप, साहूकार व्यापारियों की शक्ल में सामन्तवादी-पूँजीवादी गठबन्धन ने निचली जातियों, दलितों, किसानों और श्रमजीवियों के शोषण की प्रक्रिया उसी तरह जारी रखी थी जैसे सामन्तवादी दौर में जारी थी।

निचले तबकों और निर्धन मजलूमों को लगातार हाशिये पर ढकेला जाता रहा। गाँव के विकास के शोरशराबे में कस्बों-गाँवों में बिजली आई पर अँधेरा बढ़ गया। नल और हैण्ड पम्प लग गये पर पानी आना बन्द हो गया। पाठशालाएँ खुलीं मगर गरीबों और दलितों की पहुँच से दूर। कुछ दलित बच्चे स्कूल तक पहुँच गये पर उन्हें दूर बैठना पड़ता था। मास्साब जब भी पढ़ायेंगे पण्डितों-ठाकुरों के बच्चों को पढ़ायेंगे, दलितों के बच्चों के हिस्से जितना आ जाए उतना बहुत है। चौक-चौराहों पर हँसी ठट्टा... ये ओछी जात के कमीने पढ़-लिख गये तो हमारे खेत-खलिहानों में दिन-रात कौन खटेगा! बस्ती-बस्ती में मन्दिर-मस्जिद उग आये। अध-पढ़े पुजारी उन शास्त्रों की दुहाई देते जो उसने और उसके पुरखों ने कभी पढ़े ही नहीं। अनपढ़ पण्डित मनुस्मृति और पुराणों के हवाले से उच्चवर्ण के मतलब की बातों की महिमा गाता, बाकी को धिक्कारता रहता। मदरसे काफ़िरों के ख़िलाफ जहर उगलते रहे, मुल्ला-मौलवी आतंकवाद को ज़िहाद बताते रहे। जमींदारी प्रथा कहने को खत्म हो गयी पर गरीब किसान गरीब ही रहा और दलित अछूत और गरीब दोनों।

ऐसा इसलिए हुआ कि जातिवाद के वर्चस्व को तोड़ा नहीं गया। सामन्तवाद ने जातिवाद को अपना शस्त्र बनाकर गरीबों और दलितों का शोषण किया। पर १९४७ के बाद पूँजीवाद जनतन्त्र में पूँजीवाद और सामन्तवाद ने भी शोषण के लिए जातिवाद को ही अपना सबसे कारगर हथियार बनाया।

जातिवाद और उच्च वर्ण के वर्चस्व को बनाए रखने में गांधीजी ने एक प्रपंच रचा या वे खुद किसी प्रपंच का शिकार हो गये इस पर वामपन्थियों में अभी भी बहस जारी है। लेकिन, इतना तय है कि गाँधीजी के विचार और क्रियाकलाप कहीं से भी दलितों और गरीबों के हित में नहीं थे। स्वाधीनता संघर्ष के अन्तिम दौर में जमींदारों और पूँजापतियों का एक बड़ा तबका खादी और गाँधी टोपी पहन कर 'गाँधीवाद' को अपने पक्ष में इस्तेमाल करने की चालाकी में लग गया था। इस तबके का न तो ह्रदय परिवर्तन हुआ था और न ही यह सामाजिक सम्पत्ति का ट्रस्टी बनना चाहता था। इसकी आकांक्षा तो जनतन्त्र के नाम पर सम्पत्ति का मालिक बने रहने की थी। डॉ. अम्बेडकर ने इस प्रपंच को पहचान लिया था। वे समझ गये थे कि सामाजिक विकास के पूँजीवादी दलाल संख्या में भले ही कम हों, बहुसंख्यक गरीबों और दलितों को निगल जाने की तैयारी में है। जनतन्त्र के जयकारों के पीछे जातिवाद का वही पुराना बन्धन छिपा है। इसलिए डॉ. अम्बेडकर ने जातिवाद की जड़ें काटने की दृष्टि से दलितों के लिए आरक्षण की ज़ोरदार माँग की थी।

अम्बेडकर की सदाशयता उन्हीं के साथ चली गयी और फिर शुरू हुआ दौर आरक्षण की राजनीति का। शोषक वर्ग के प्रतिनिधि राजनीतिक दल समय-समय पर अपने वर्गीय हितों के अनुरूप आरक्षण की राजनीति करते रहे।

सन् १९५५ में भारतीय लोकसभा में 'अनटचेबलिटी एक्ट' पास किया गया। इस अधिनियम के अनुसार निम्न जातियों को मंदिरों, कुओं, विद्यालयों, दुकानों, जलपान गृह एवं सिनेमा गृह में प्रवेश निषिद्ध करना अथवा अन्य किसी प्रकार के भेदभाव बरतने वालों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकार की नौकरियों में जाने के लिए आयोजित होने वाले प्रतियोगिता परीक्षाओं में निम्न जातियों के दलित वर्ग के विद्यालयों के लिए छात्रवृत्ति भी देने का

प्रस्ताव पारित हुआ।

डॉ. आनंद भास्कर के अनुसार - *"सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक पिछड़ेपन के आधार पर आरक्षण का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण बन गया है और हाल के वर्षों में राजनीतिक क्षेत्रों में इसकी चर्चा है। अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन जातियों के अलावा विभिन्न पिछड़े वर्ग तथा समूहों के लिए आरक्षण की व्यवस्था किये जाने के लिए बहुत दबाव डाला जा रहा है।"*[1]

दरअसल यह सत्य है कि संविधान में उल्लिखित सभी सुविधाएँ दलितों को उपलब्ध नहीं हो पायी हैं। कुछ जगहों पर आज भी कानून को ताक पर रख कर दलितों के साथ भेदभावपूर्ण रवैया अपनाया जा रहा है। साथ ही यह भी सत्य है कि दलितों को दिया जा रहा आरक्षण जाति के आधार पर है, इसलिए आज दलितों में भी कुछ वर्ग ऐसा उभरकर आया है जो सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होते हुए भी आरक्षण का लाभ उठा रहा है।

आज दलित आंदोलन जन्माधारित पैटर्न पर चल रहा है। जबकि वर्तमान परिवेश में इसके विचार शैली में परिवर्तन की नितान्त आवश्यकता है अन्यथा समाज में पुनः असमानता एवं असंतोष की भावना पनपने तथा देश के एक वर्ग के विभक्त होने का डर है।

---

[1] 'हिन्दी साहित्य में दलित चेतना', आनंद भास्कर, पृ. ३५

1.10. दलित चेतना का विकास

समय के बदलते मनुष्य की चेतना में भी परिवर्तन होता है। समय, परिवेश एवं मानवीय चेतना का संबंध अटूट होता है। कहना न होगा कि समय एवं परिवेश के अनुसार चेतना में बदलाहट होती है और समयानुसार मूल्यों में भी परिवर्तन होता है। अतः मानवीय चेतना में परिवर्तन होना जितना लाजिमी है, उतना ही अनिवार्य भी।

आज़ादी के पूर्व के समय एवं परिवेश और आज के समय एवं परिवेश में बहुत अधिक मायनों में बदलाव आया है। आज़ादी के पूर्व के दलितों एवं आज के दलितों की मानसिकता में जमीं-आसमान का अंतर आया है। दलित वर्ग की हिस्सेदारी ने समकालीन दलित आन्दोलन को नई दिशा एवं गति प्रदान की है। प्रगतिशील दलित वर्ग ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि वह केवल शोषित अथवा शासित होने के लिए अभिशप्त नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भाग लेकर राष्ट्र को दिशा देने की क्षमता उसमें भी वर्तमान है। प्रवहमान काल से चले आ रहे शोषण का अंत करने हेतु वह आज स्वयं कटिबद्ध हो विकास की लगाम थाम चुका है। यह सदियों से चली आ रही मनुवादी एवं सामंती व्यवस्था को तहस-नहस करने के विस्फोट का परिणाम नहीं है बल्कि उसके पीछे सदियों से चले आ रहे दलित मुक्ति आंदोलन का इतिहास मौजूद है।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ही भारत के दलितों में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के प्रयास शुरू हो गये थे। दलितों के लिए समान मानवाधिकारों की सबसे मुखर लड़ाई, १९ वीं शताब्दी में महात्मा ज्योतिबा फुले ने लड़ी। किन्तु, उसे सफलता के सोपान तक २० वीं शताब्दी में भारतरत्न डॉ. बाबासाहब अम्बेडकर ने पहुँचाया। इसके अतिरिक्त छत्रपति शाहु महाराज, पेरियर रामस्वामी नायर, नारायण गुरु, बिरसा मुंडा एवं जयपाल सिंह आदि चिंतकों द्वारा ब्राह्मणवादी संस्कृति के विरूद्ध चलाए गए आन्दोलन ने दलितों के जीवन में एक नई चेतना का संचार किया। यही नई चेतना आगे चलकर दलित समाज में परिवर्तन का आधार बनी। दलितों में आए इस नवजागरण ने उनके जीवन के कई पहलुओं को प्रभावित किया। इसी नवजागरण के चलते दलित समाज सामाजिक बुराइयों से मुक्ति के साथ-साथ सासंकृतिक गुलामी से मुक्ति की ओर अग्रसर हुआ।

निष्कर्ष

इस प्रकार दलितवादी आंदोलन कई पड़ावों से गुजरते हुए औज एक निर्धारित मुकाम पर पहुँचा है। वास्तव में केवल भारत ही एक ऐसा देश होगा जहाँ पर एक विशाल जन समुदाय को मानवाधिकारों से वंचित रखा गया और उस जन समुदाय को अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए दीर्घावधि तक संघर्ष करना पड़ा।

हमने देखा कि जाति-व्यवस्था का उदय आदिम कबिलाई-व्यवस्था के उत्तरकालीन व्यवस्था से हुआ था लेकिन आर्य-अनार्य काल एवं तदुपरान्त मनुस्मृतिकार की विशेष दखल से जाति व्यवस्था रूढ़ हो गयी। हिन्दुओं के धर्मग्रंथों में भी दलितों पर लगातार अत्याचार किए गए इसके उदाहरण मिलते हैं। ईश्वरवादी अवधारणा की आड़ में दलितों को लम्बे अरसे तक विद्यादि से वंचित रखा गया। सामंतवाद एवं दस्तकारी काल में यह जातिवाद अधिक प्रबल हो गया और ब्राह्मण समाज पर अपना वर्चस्व स्थापित करने में पूर्णतया सफल हो गए थे।

गोकि सन् १८५७ के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में दलितों की सक्रिय भूमिका से दलित मुक्ति आंदोलन को जोड़ा जा सकता है। दरअसल इसी दशक के आसपास दलितों की चेतना में परिवर्तन होने लगा था और उनमें क्रांतिकारी रवैया जागृत हो रहा था। वैसे मध्यकालीन संतों ने पण्डे-पुरोहितवाद तथा मुल्ला-मौलवी के अंदाज़े बयाँ का पुरज़ोर विरोध किया था। लेकिन विशेष सफलता नहीं मिल पायी थी। हाँ इतना भर हो पाया था कि निम्न जाति के लोग यह समझने लगे थे कि ईश्वर जैसा सृष्टि को चलाने वाला कोई विशेष संवाहक नहीं है। यदि होता तो उनके भाग्य में केवल श्रम-दुःख ही न होता।

१९वीं शताब्दी में महात्मा ज्योतिबा फुले ने दलितों को मान-सम्मानजनक जीवन प्रदान करने के लिए काफ़ी प्रयास किए और उनकी अगली कड़ी के रूप में २० वीं शताब्दी में डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के उद्धार का बीड़ा उठा लिया। जीवन से होड़ लेते हुए उन्होंने दलितों

के मानवाधिकारों के लिए अपनी आवाज़ बुलंद की और संविधान में उनके लिए विशेष धाराएँ बनायीं।

अम्बेडकर की विचारधारा से दलितों की चेतना में अधिक परिवर्तन हुआ और उनकी विकसित चेतना से उपजी सजगता ने आज दलितवादी आंदोलन को एक नवीन रूप प्रदान किया है। आज भले ही पूर्णतः दसितोद्धार नहीं हुआ हो लेकिन यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि दलित समाज पहले की अपेक्षया बेहतर जीवन जी रहा है। आरक्षण के चलते भी उनके समाजार्थिक जीवन में काफ़ी परिवर्तन हुआ है। डॉ. अम्बेडकर का सपना एवं उनके अथक प्रयासों के चलते आज समाज में दलितों को सम्मान मिल पा रहा है औ वहीं दूसरी ओर दलितों में सुशिक्षित वर्ग अपनी सुज्ञता का परिचय दे रहा है।

द्वितीय अध्याय

दलित आंदोलन और दलित साहित्य : डॉ. जयप्रकाश कर्दम

2.1. दलित आंदोलन के पूर्व की स्थिति

2.2. दलित आंदोलन का उद्भव और विकास

2.3. 'दलित' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

2.4. दलित साहित्य : नामकरण और स्वरूप

2.5. हिन्दी दलित साहित्य का आविर्भाव

2.6. दलित साहित्य आंदोलन के पूर्व के साहित्य में दलितवादी स्वर

2.7. दलित साहित्य आंदोलन के पूर्व के हिन्दी कथा-साहित्य में दलितवादी स्वर

2.8. दलित साहित्य आंदोलन का उद्भव और विकास

2.9. दलित साहित्य आंदोलन में दलित पैंथर की भूमिका

2.10. दलित साहित्य : दर्शन एवं धर्म

2.11. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र

2.12. दलित मुक्ति आंदोलन और दलित साहित्य : अंतःसंबंध

2.13. दलित साहित्य में दलित चेतना

2.14. दलित साहित्य और डॉ. जयप्रकाश कर्दम

2.15. डॉ. जयप्रकाश कर्दम का जीवन परिचय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

2.15.1. जन्म एवं पारिवारिक जीवन

2.15.2. शिक्षा-दीक्षा

2.15.3. वैवाहिक जीवन

2.15.4. रचना संसार

निष्कर्ष

दलित आंदोलन और दलित साहित्य : डॉ. जयप्रकाश कर्दम

2.1. दलित आंदोलन के पूर्व की स्थिति

अंग्रेजों के आगमन से इस देश में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार हुआ। इससे देश की परतंत्रता की बेड़ियाँ और सशक्त हो गई ; परन्तु इसी के साथ एक लाभ भी हुआ, वह यह कि अंग्रेजी के प्रचार-प्रसार के कारण लोगों में वैचारिक स्फुरण हुआ, देश में विद्यालयों और विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इससे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग विश्व के सम्पर्क में आए और उन्होंने देश की गुलामी पर नये सिरे से सोचना शुरू किया। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानंद आदि ने देश के नव-जागरण के लिए उद्यम करना प्रारम्भ किया। इसी काल में एनी बेसंट, सर विलियम जोन्स, मैक्समूलर जैसे विदेशी विद्वानों ने भी इस क्षेत्र में सांस्कृतिक जागरण के लिए अथक परिश्रम किया। केशवचन्द्र सेन ने प्रार्थना-समाज की स्थापना की। वे पाश्चात्य सभ्यता के प्रशंसक थे और चाहते थे कि भारतीय परिवेश में हिन्दुओं में प्रचलित रूढ़िवादिता समाप्त हो।

सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी (१८४८-१९२५) पहले भारतीय थे, जो आई.सी.एस. की परीक्षा में बैठे और सफल होने पर भी नौकरी से निकाल दिए गए। उन्हींने दि बंगाली नामक अख़बार निकाला और उसके माध्यम से वे भारतीयों में राजनीतिक चेतना जगाने का प्रयत्न करते रहे। सर फीरोज़शाह मेहता, पारसी वकील थे जो बाद में कांग्रेस के नरम दल के नेता बने। गोपालकृष्ण गोखले ने सन् १९०५ में पूणे में सर्वेन्ट्स ऑफ़ इंडिया सोसायटी की स्थापना की। इस संस्था ने लोगों में राजनीतिक स्फूर्ति पैदा करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

इन सब नेताओं के ज़ोर लगाने से भारतीय जनता में नवचेतना का संचार हुआ और गाँव के किसान तथा छोटे-छोटे कस्बों के व्यापारी आदि देशसेवा करने के निमित्त सामने आए। तथ्यतः उन्नीसवीं सदी का कृषक वर्ग अनेक दुरावस्थाओं का शिकार था। जमींदारी व्यवस्था, नील की खेती की प्रथा, निर्दयता से वसूल किए जाने वाले भूमि कर आदि के बोझ तले वह दबा हुआ था। इन्हीं

कारणों से भारत में इस शताब्दी में चार बार भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा।

कृषको में जागृति लाने के लिए नेता गाँव-गाँव गए और उन्होंने उन्हें प्रेरित किया। उन दिनों गांधी जी अफ्रिका में भारतीयों के अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ रहे थे। और उनके बारे में लगातार समाचार यहाँ आते रहते थे। उनकी सहायता के लिए इस देश से भी चन्दा करके रुपया भेजा गया। उन दिनों साहित्यकार भी पीछे नहीं रहे। बंकिमचन्द्र चटर्जी का गीत वन्दे मातरम् लोगों की जुबाँ पर चढ़ चुका था। इसलिए अंग्रेज़ सरकार ने इस पर रोक लगा दी।

उन दिनों महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक (१८५६-१९२०) एक सशक्त नेता के रूप में जनता के सम्मुख आएं। लाल-बाल-पाल के रूप में तीन नेताओं का नाम लिया जाता था। ये तीन नेता थे - लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और बिपिनचन्द्र पाल जो बंगाल के नेता थे।

उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध की समाप्ति तक अंग्रेज़ शासकों ने सारे भारत में अकंटक राज्य स्थापित कर लिया था। अंग्रेजों ने राजनीतिक रूप से हमें पराधीन करके हमारे पैरों में सांस्कृतिक बेड़ियाँ डालने का प्रयत्न किया। हमारे मन और मस्तिष्क को गुलाम बनाने के लिए पश्चिमी सभ्यता, रहन-सहन और भाषा एवं वेशभूषा का प्रचार किया जाने लगा, जिनके प्रतिकार स्वरूप हिन्दू-मुस्लिम दोनों जातियों में अंग्रेज़ आक्रान्ता के प्रति घृणा की भावनाएं उद्दीप्त हो उठीं, जिन्होंने सन् १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता आन्दोलन का रूप धारण किया। यद्यपि इस संग्राम में भारतीयों की पराजय हुई तथापि भारतीय राजनीतिक विचारधारा में एक बड़ा मोड़ आया। इसका सबसे मुख्य प्रभाव यह हुआ कि हमारे देश में भिन्न-भिन्न धर्म, संस्कृति तथा सभ्यता वाली सारी जातियों में ऐक्य-भावना का संचार हो गया जो भावी स्वतंत्रता आन्दोलनों की आधारशिला बनी।

बंगाल विभाजन के प्रतिक्रिया स्वरूप सन् १९०६ ई. में जो आन्दोलन चले वही वास्तविक रूप में स्वतंत्रता-आन्दोलन की आधारशिला बने। यद्यपि ये आन्दोलन बाह्य रूप से तो आर्थिक तथा सामाजिक थे, परन्तु इनकी आत्मा राजनीतिक थी। आगे चलकर इन सामाजिक तथा आर्थिक आन्दोलनों पर ही देश में होने वाले भावी स्वतंत्रता की नींव रखी गई।

इसी क्रम में राष्ट्रीय आन्दोलन का जिक्र करना आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रीय आंदोलन में एक नहीं, कई धाराएँ थीं, कई प्रवृत्तियाँ थीं। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की शुरुआत इस माँग के साथ हुई थी कि भारत के शिल्प, व्यापार और उद्योग के रास्ते से रोड़े हटाये जायें, उन्हें बढ़ने का मौका दिया जाए। दादाभाई नौरोजी, रमेशचन्द्र दत्त, वी. जी. जोशी, मुधोलकर और जस्टिस रानडे इत्यादि सभी राष्ट्रवादी नेताओं ने अंग्रेज़ी राज की आलोचना करते हुए बहुत परिश्रम से जमा किये गये तथ्यों और आंकडों से यह साबित करके दिखाया कि अंग्रेज़ी राज ने भारतीय व्यापार और उद्योगों को न सिर्फ तबाह किया, बल्कि हर तरह से उसके विकास में रुकावटें खडी कीं।

अंग्रेज़ सरकार, अंग्रेज़ी बैंक, अंग्रेज़ों की वित्तीय संस्थाएँ और बीमा कम्पनियाँ, ये सभी भारतीय व्यापारी और पूँजीपतियों के साथ भेदभाव भरा बर्ताव करती रहीं। भारतीय व्यापार के खिलाफ घृणित और अन्यायपूर्ण भेदमूलक सीमा-शुल्क की व्यवस्था जारी रखी गयी। जिसके मुताबिक अंग्रेज़ व्यापारियों पर कम-से-कम कर लगाए गए और उनके लिए स्वतंत्र व्यापार की प्रणाली लागू की गयी। इस तरह भारतीय व्यापारियों के विदेश व्यापार और आंतरिक व्यापार दोनों को तबाह किया गया। ऐसा था भारतीय व्यापारी वर्ग के लिए ब्रिटिश शासन का संरक्षण और उसके आशीर्वादों का आनन्द।

पहले विश्वयुद्ध के दौर में भारतीय व्यापार और उद्योगों को कुछ आगे बढने का मौका मिला। युद्ध के दौरान अधिक उत्पादन की ज़रुरत और यूरोपीय रास्तों की नाकेबन्दी के फलस्वरूप संगटग्रस्त ब्रिटीश साम्राज्यवाद भारत के व्यापार और उद्योग पर पहले जैसा नियंत्रण रख सकने में असमर्थ था। युद्ध की ज़रुरतों के लिए वह रियायतें देने को मजबूर हुआ। भारतीय व्यापार और पूँजी का विकास ब्रिटिश शासन की शक्ति और व्यवस्था के कारण नहीं, उसकी कमज़ोरी और व्यवस्था के कारण हुआ।

भारतीय समाज में शिक्षित मध्यवर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू होने से पहले तक सामन्त वर्ग ही समाज का सबसे शक्तिशाली वर्ग था। जमींदार-ताल्लुकदार, राजा-महाराजा और नवाब ही इस देश की प्रजा के प्रतिनिधि समझे जाते थे। सन् १९१७-१८ के सुधार कार्यक्रमों के

तहत जब पहली बार किसानों के एक हिस्से को वोट का आधिकार दिया गया, तब राष्ट्रीय आन्दोलन के शिक्षित मध्यवर्गीय नेताओं में किसानों का वैधानिक प्रतिनिधि बनने की आकांक्षा ने ज़ोर पकड़ा।

अंग्रेज़ राष्ट्रीय आन्दोलन के खिलाफ एक तर्क यह देते थे कि यह तो मुट्ठी भर शिक्षित लोगों का, बाबू वर्ग का आन्दोलन है ; जो किसानों के प्रतिनिधि नहीं हैं। इसलिए भी किसानों का प्रतिनिधि बनकर, राष्ट्रीय आन्दोलन को किसानों तक फैलाकर यह दिखलाना ज़रुरी था कि राष्ट्रीय आंदोलन के नेता ही देश की बहुसंख्यक जनता के नेता हैं। यहीं से शिक्षित मध्यवर्ग के राष्ट्रवादियों और देहाती भू-स्वामी वर्ग के बीच अन्तर्विरोध पनपने शुरू हुए। यह विरोध किसानों पर राजनीतिक प्रभाव कायम करने को लेकर हुआ।

इसके उलटे, जहाँ किसानों ने खुद वैसे संघर्ष शुरू किए, वहाँ कांग्रेस ने उन्हें रोका, उनका संघर्ष बन्द करवाया। तथ्य यह था कि राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल व्यापारी-पूँजीपति और उनके शिक्षित मध्यवर्गीय प्रतिनिधि देहाती भू-स्वामी वर्ग के साथ समझौते की नीति पर चल रहे थे, उन्हें उनकी सुरक्षा का आश्वासन दे रहे थे।

सन् १९१७ से १९३१ तक का समय भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का महत्वपूर्ण समय था। इस अवधि के सत्याग्रहों एवं अन्य संबंधित घटनाओं का विवरण के संबंध में कहा जाए तो भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के क्षितिज पर मोहनदास करमचंद गांधी का उदय हो चुका था, जिन्होंने पहली बार समझा था कि यह लड़ाई किसी एक धर्म, वर्ग और जाति के लड़ने से नहीं जीती जा सकती है। इसमें सभी धर्मों, वर्गों और जातियों के लोगों ने सहयोग दिया, जिनमें अछूत भी थे। तभी अपनी विस्फोटक विद्रोही राजनीतिक चेतना के प्रमुख हस्ताक्षर डॉ. अम्बेडकर भी भारत के राजनीतिक फलक पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए आ पहुंचे थे। जो केवल भारत की स्वतंत्रता ही नहीं चाहते थे, बल्कि अछूतों की हिन्दू धर्म से मुक्ति भी चाहते थे। डॉ. अम्बेड़कर कहीं अपने मिशन में सफल न हो जाए इस सोच से गांधीजी ने कांग्रेस के अन्दर ही अछूतोद्धार कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया था, जिसके कारण एक प्रकार की गांधीवादी सहानुभूति हिन्दुओं में

अछूतों के प्रति देखने को मिलने लगी थी।

इसी के साथ ध्यान देने की बात है कि हमारा देश कृषिप्रधान देश है और उस युग में इसकी ८९ प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती थी। स्वदेशी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक था कि इसका प्रचार गाँवों में भी हो, अतः कांग्रेस ने गाँवों की जनसंख्या में किसानों की दुरावस्था, उनकी निर्धनता तथा दुःखों का मार्मिक चित्रण करते हुए उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए आन्दोलन चलाया। उनके कथनानुसार स्वदेशी आन्दोलन का ध्येय किसान का उद्धार करना था। इस किसान आन्दोलन ने ही ग्रामीण जनता में स्वतंत्रता की भावनाओं को जागृत किया।

अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की दृष्टि में स्वतंत्रता आन्दोलन निर्धन किसानों की शोचनीय अवस्था तथा निरीह मजदूरों की दुरावस्था के सुधार के बिना सफल नहीं हो सकता था। स्वतंत्रता आन्दोलनों का नेतृत्व महात्मा गाँधी के हाथों में आने पर उन्होंने पहली बार सात लाख गाँवों का नाम लिया तथा लोगों को जनता के अन्दर छिपी हुई महान शक्ति से परिचित कराया। गांधीजी की धारणा थी कि किसान के उत्थान के बिना देश का उद्धार नहीं हो सकता। देश का अभ्युदय कृषक वर्ग के अभ्युदय पर अवलम्बित है यह उन्होंने ताड़ लिया था।

सन् १९१९ तक कृषक वर्ग में राजनीतिक चेतना आ चुकी थी। १९१८ की रूसी क्रान्ति के प्रभाव-स्वरूप किसानों में और भी जागृति आ गई। उन्होंने अलग से अपनी सभाएँ और समितियाँ बनाईं तथा वे अपने स्वत्वों की प्राप्ति के लिए संघर्ष करने लिए कार्यक्रम बनाने लगे।

राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस देश की आजादी के लिए संघर्ष कर रही थी। लगभग सभी बडे नेता उससे सम्बद्ध थे। विचारधारा को लेकर कांग्रेस में मतैक्य न रहा, फलस्वरूप इस संस्था में अन्दरूनी तौर पर दो दल हो गए - एक उदारवादी दल और दूसरा उग्र दल। उदारपंथी दल के नेता थे गोपालकृष्ण गोखले। उग्र दल में तिलक, लाजपतराय, अरविन्द घोष, बिपिनचन्द्र पाल आदि थे।

धीरे-धीरे दोनों दल एक दूसरे से दूर होते गए। सरकार ने इस मौके से लाभ उठाना चाहा। उन्होंने लाला लाजपतराय और तिलक को जेल में डाल दिया, परंतु इसके विरोध में देश उठ खड़ा

हुआ। मुम्बई में कपड़ा मिलों के मजदूरों ने छः दिन की हडताल कर दी। यह भारतीय मज़दूरों की पहली राजनीतिक हड़ताल थी।

सन् १९२० में मज़दूर आन्दोलन का विकास हुआ। देश की एक संघर्षशील पृष्ठभूमि में ' अखिल भारत ट्रेड यूनियन कांग्रेस(AITUC) से अलग होकर वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखने वाले एक वास्तविक ट्रेड यूनियन और उसके एक बड़े हिस्से - नेता और कार्यकर्ता ने मिलकर अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन केन्द्र के रूप में सेंटर ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन(CITU) का गठन किया। व्यावहारिक स्थिति की मज़बूरी के कारण सेंटर ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन का गठन होने पर भी अपने मंच से उसने एकता और संघर्ष की नीति की घोषणा की।

सन् १८४८ में घोषित कार्ल मार्क्स के नारे 'दुनिया के मजदूर एक हो' के प्रति अपनी आस्था रखकर और उसी के आधार पर सेंटर ऑफ इंडियन ट्रेड यूनियन ने देश के मज़दूर वर्ग और अन्य मेहनतकश जनता को एकजुट करने की प्रतिज्ञा की और आगे बढ़ा। दुनिया के मजदूर एक !हो मार्क्स और एंगेल्स का यह नारा सारी दुनिया के मजदूर वर्ग को संगठित और एकजुट करने के लिए १५७ साल से भी ज्यादा समय से हमें मार्ग दिखा रहा है।

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, विशेषतः यूरोप और अमरीका के मजदूर वर्ग को एकजुट करने का सुसंगठित प्रयास कार्ल मार्क्स के नेतृत्व में संपन्न हुआ था। इसके उद्देश्य के बारे में १८८८ में फ्रेड्रिक एंगेल्स ने कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र के अंग्रेज़ी संस्करण की भूमिका में स्पष्ट रूप से लिखा है - इस संस्था के गठन का स्पष्ट उद्देश्य था यूरोप और अमरीका के समस्त मजदूर वर्ग को एक संगठन के अंतर्गत संगठित करना। यहाँ तक कि पहले अंतर्राष्ट्रीय संगठन के गठन के मामले में, मार्क्स ने उस समय के वैज्ञानिक समाजवाद में आस्था न रखने वाले ट्रेड यूनियनों को भी शामिल किया था। इस प्रकार उन्होंने मजदूर वर्ग को एक व्यापक आधार पर एकजुट करने के बारे में एक व्यावहारिक सोच को सामने रखा। उनकी उस भूमिका से सभी दल संतुष्ट हुए।

पहले अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के फलस्वरूप मजदूर वर्ग के संगठन, आंदोलन और उनकी सोच में भी परिवर्तन हुआ। वह और ज्यादा परिपक्व हुई। फ्रेडरिक एंगेल्स ने उपरोक्त

भूमिका में लिखा थीं *१८६८ में पहले अंतर्राष्ट्रीय की स्थापना के समय मजदूर जिस स्थिति में थे, १८७४ में अंतर्राष्ट्रीय टूट जाने पर देखा गया कि मानों वही मजदूर कुछ अलग प्रकार के हो गएँ।*[1] पहले अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन के उद्घाटन भाषण में कार्ल मार्क्स ने कहा था कि सफलता का महत्वपूर्ण गुण मजदूर वर्ग में है - संख्या, परंतु एकजुटता और ज्ञान द्वारा संचालित होने पर ही संख्या का महत्व बढ़ेगा।

कार्ल मार्क्स की इस सीख का प्रयोग कामरेड लेनिन ने रूस में मजदूर आंदोलन के गठन के दौरान पूरी तरह से किया था। उन्होंने स्पष्ट रूप से बोल्शेविक पार्टी के अनुगामियों को जो असंख्य मजदूर है, उन्हें भी ट्रेड यूनियन में एकजुट करने के बारे में कहा था। बाद में, दूसरे विश्व युद्ध और फासीवाद-विरोधी युद्ध के दौरान कम्युनिस्ट अंतर्राष्ट्रीय के ७ वीं कांग्रेस ने फासीवाद का विरोध और उसे पराजित करने के लिए व्यापक मजदूर एकता को सुदृढ़ करने का आह्वान किया था।

हमारे देश में मजदूर वर्ग की एकता के सवाल पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवाद-लेनिनवाद की विचारधारा द्वारा संचालित होती है और उसे स्पष्ट रूप से लागु करने की कोशिश कर रही है। विभिन्न प्रस्तावों एवं दस्तावेजों में बार-बार इसका उल्लेख है।

शुरू से ही सीआईटीयू मजदूर वर्ग के एकजुट संघर्ष के गठन के लिए लगातार कोशिश कर रहा है और यह भूमिका निभा रहा है। मजदूर वर्ग की एकता के सवाल पर सीआईटीयू की कोशिश और उसकी भूमिका के फलस्वरूप मजदूरों को संघर्ष के एक मंच पर लाना संभव हो रहा है। पार्टी के केंद्रीय कमेटी के ट्रेड यूनियन फ्रंट में काम पर विचार-विमर्श और फौरी काम से संबंधित दस्तावेज में सटीक उल्लेख किया गया है कि"- *इस परिप्रेक्ष्य में हमें याद रखना होगा कि ट्रेड यूनियन एकजुटता को मज़बूत करने के लिए हमारी कोशिश का अर्थ है शासक वर्ग की नीतियों के खिलाफ राजनीतिक लड़ाई को आगे बढ़ाना। संघर्ष के लिए यदि हम अपनी स्थिति के बारे में कोई समझौता करते हैं तो हमारा उद्देश्य सफल नहीं होगा। हमारे पिछले संघर्षों का अनुभव बताता*

---

[1] स्वाधीनता दिन पत्रिका, शनिवार, ४ जून २००५, पृ. ३

है कि देश भर में लगातार और पूर्ण लड़ाई संगठित करने की नीति एकजुट कार्यक्रम के मंच में शामिल होने के लिए सुधारवादी ट्रेड यूनियन के नेतृत्व पर दबाव डाल सकता है।

इस दस्तावेज में यह भी कहा गया है कि इसके अलावा अनुभव यह भी बताता है कि मेहनतकशों की एकदम नीचे स्तर पर एकता और कार्यस्थल के आधार पर एकता के कार्यक्रम के फलस्वरूप सुधारवादी ट्रेड यूनियनों के नेताओं को राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त आंदोलन में लाने में यह एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

मजदूर वर्ग की चेतना को विकसित करने के लिए, मार्क्स ने ट्रेड यूनियन आंदोलन को राजनीतिक स्तर पर एकजुट करने पर बल दिया था। मजदूर वर्ग के प्रत्येक संग्राम की उन्होंने राजनीतिक संग्राम के रूप में विवेचना की थी। उन्होंने कहा था"- *सर्वहारा वर्ग के विकास के विभिन्न स्तरों की तस्वीरें निरखने से पता चलता है कि वर्तमान समाज कमोबेश प्रच्छन्न रूप से आंतरिक युद्ध में संलग्न है। यह युद्ध एक खास बिंदु पर पहुंच कर प्रत्यक्ष क्रांति में तब्दील हो जाता है और तब बुर्जुआ वर्ग को सबल हटाकर सर्वहारा वर्ग की नींव स्थापित होती है।*[1]

बाद में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के उद्‌घाटन के अवसर पर, मार्क्स ने कहा था अतः राजनीतिक क्षमता पर अधिकार मजदूर वर्ग का महान कर्तव्य है। और ज्यादा स्पष्ट रूप से मार्क्स ने श्रमिक वर्ग की चेतना को ट्रेड यूनियन के स्तर तक ले जाने के मुद्दे को पहले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के नियमों में लिपिबद्ध किया था। वस्तुनिष्ठ रूप से उन्होंने बतलाया था कि आर्थिक रूप से बुर्जुआ शासक वर्ग के अधीन रहने के कारण मनुष्य को विभिन्न प्रकार की सामाजिक दुर्गति, तकलीफ और राजनीतिक दासत्व में जीना पड़ता था। इस दुर्गति और दासता से उसे मुक्त होने की ज़रूरत है। यह मुक्ति मजदूर वर्ग को ही अर्जित करनी होगी। इस मंतव्य का ज़रूरी हिस्सा ही उद्धृत किया जा रहा है"- *मजदूर वर्ग को ही अपनी मुक्ति प्राप्त करनी होगी, मजदूर वर्ग की मुक्ति के लिए जो संग्राम है, वह वर्गीय सुविधा या अधिकार का संग्राम नहीं है। वह समान अधिकार और कर्तव्य*

---

[1] स्वाधीनता दिन पत्रिका, शनिवार, २८ मई २००५, पृ. ७

के लिए सभी श्रेणी के अधिपत्य को तोड़ने का संग्राम है।[1]

श्रमिक वर्ग के आंदोलन को संगठित और सचेतन राजनीतिक आंदोलन में तब्दील करने की प्राथमिक शर्त है - जन आधारित ट्रेड यूनियन का गठन करना। ट्रेड यूनियन का दायित्व है बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध मजदूर वर्ग का अविराम संघर्ष चलाना, जिसके दौरान उनकी राजनीतिक चेतना को विकसित कर उसे समाजवादी चेतना के स्तर तक ले जाया जा सके। इस लक्ष्य को ही आधार बनाकर मजदूर वर्ग को आर्थिक मांगों की लड़ाई लड़नी चाहिए। इसी कारण मार्क्स ने ट्रेड यूनियन को साम्यवादी शिक्षा का विद्यालय बताया।

मजदूर वर्ग को राजनीतिक रूप से सचेत करने एवं उन्हें समाजवादी आंदोलन की ओर खींच लाने के काम में ट्रेड यूनियन के उपयोग के सवाल पर मार्क्स ने कहा था, सुविधावाद, वर्ग समझौतावाद एवं संस्कारवाद जैसे विचारों से घिरे और प्रभावित मजदूर वर्ग को उनसे मुक्त कर क्रांतिकारी संग्राम से जोड़ देने के लिए ट्रेड यूनियनों को योजनाबद्ध कोशिश करनी चाहिए।

साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण एवं नव उदारवादी नीतियों के प्रयोग के फलस्वरूप मजदूर वर्ग और उसका आंदोलन बचाव की स्थिति में बने रहने को बाध्य है। विज्ञान और तकनीक में आए व्यापक विकास के प्रचुर उपयोग द्वारा उत्पादकता में बढ़ोत्तरी के लिए मजदूर वर्ग पर काम का बढ़ा हुआ दबाव, मजदूरी के घंटे (८ घंटा) के आधार को हटा कर, मजदूरों को १० १२ घंटा काम करने की बाध्यता, ठेकेदारी प्रथा चालू करना, नौकरी की सुरक्षा और निश्चयता में रुकावटें पैदा करने जैसी घटनाएँ बढ़ती चली जा रही हैं। वस्तुतः इस प्रकार के अन्याय और शोषण के माध्यम से साम्राज्यवाद और पूंजीवाद मजदूरों को खरीद लिए गए गुलाम में तब्दील करना चाहता है। मध्ययुगीन इस बर्बरता के खिलाफ तीव्र और व्यापक वर्ग संघर्ष छेड़ने की ज़रूरत आन पड़ी है। किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि परिस्थितियों में हो रहे बदलाव के साथ आंदोलन के चेहरे और गति में संगति बनाए रखना ही विज्ञान सम्मत होगा।

---

[1] स्वाधीनता दिन पत्रिका, शनिवार, २८ मई २००५, पृ. ७

इस तरीके से मेहनतकश जनता में निश्चित रूप से समाजवादी चेतना जाग्रत होगी। वे धीरे-धीरे समाजवाद की अपरिहार्यता को समझ सकेंगें। *बुर्जुआ वर्ग का पतन और सर्वहारा वर्ग की विजय अनिवार्य हैं।* मार्क्स के इस कथन की सत्यता के संदर्भ में मजदूर वर्ग की समझ क्रमशः विकसित होगी एवं मजदूर वर्ग समाजवादी आंदोलन में हिस्सा लेगा। साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के युग में ट्रेड यूनियन आंदोलन के संबंध में मार्क्स के कथन महत्वपूर्ण और प्रासंगिक है। अतः प्रत्येक ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता को मार्क्सवादी शिक्षा लेते हुए मजदूर आंदोलन तथा ट्रेड यूनियन संगठन को चलाने की आवश्यकता है।

मार्क्सवाद मजदूर आंदोलन ही अग्रगति का पथ प्रदर्शक है। सी.आई.टी.यू. की ओर से एकजुट लड़ाई के गठन की कोशिश में, सी.आई.टी.यू. के साथ एकजुट संघर्ष में आने में जो हिचकते थे, उन्हें अपनी नीति बदलने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। मौलिक स्तर पर आम मजदूर की एकजुट लड़ाई के प्रति मजदूरों में इच्छा बढ़ी है। इन ट्रेड यूनियनों के आम मजदूर अपने नेताओं पर संयुक्त संघर्ष में शामिल होने के लिए दबाव डाल रहे हैं। इससे हमें संयुक्त आंदोलन के गठन का आधार मिल रहा है। इसलिए आज के साम्राज्यवादी, वैश्वीकरण, निजीकरण और उदारीकरण के खिलाफ व्यापक एकजुट संघर्ष के गठन में सी.आई.टी.यू. के स्थापना सम्मेलन में गृहीत एकता और संघर्ष की नीति प्रासंगिक हो गई है। इसलिए मजदूर वर्ग के संघर्ष को बढ़ाने के लिए सब प्रकार की कोशिश करना हमारी जिम्मेदारी है।

इसी के साथ यहाँ उल्लेखनीय है कि ६ अप्रैल १९१९ को सारे देश में सत्याग्रह दिवस मनाया गया। गाँधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन पराकाष्ठा पर था। गाँधीजी के सामाजिक, राजनीतिक तथा आदर्शमूलक विचारों द्वारा आविष्कृत इस आन्दोलन का पहला चरण अगस्त में आरंभ हुआ। इसका पहला अंग बहिष्कार आन्दोलन पर जोर देना था।

विदेशी कपड़ों और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के अतिरिक्त सरकारी नौकरियों के बहिष्कार का प्रचार भी होने लगा। लोगों ने बडी-बडी उच्च पदवियों से त्यागपत्र दे दिए। उच्चकोटि के अधिवक्ताओं और वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ दी। स्वदेशी का प्रचार इतने जोरों से हुआ

जितना पहले कभी न हुआ था। इसका उत्तर सरकार ने सहस्रों लोगों को जेल में ठुँसकर दिया। लगभग पचास हजार कांग्रेसी बन्दी बना लिए गए। यह आन्दोलन आरम्भ ही हुआ था कि चौरीचौरा की हिंसक घटना हो जाने पर महात्मा गाँधी को इसे स्थगित करना पडा। इस आन्दोलन का दूसरा चरण सन् १९३० में नमक सत्याग्रह से आरंभ हुआ। इसका ध्येय भी जहाँ विदेशी वस्तुओं और शराब का बहिष्कार था, वहाँ करों को देने से इन्कार करना और शान्तिपूर्वक सरकारी आज्ञा को भंग करके अवज्ञा आन्दोलन चलाना भी था।

जिस समय भारत अपने राजनीतिक स्वत्व के लिए संघर्ष करता हुआ अपनी रीति-नीति की निश्चित रूपरेखा टटोल रहा था, उस समय महात्मा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में ऐसी रणनीति का आविष्कार किया जिसे सत्याग्रह के नाम से अभिहित किया गया। यहाँ आकर महात्मा गांधी ने इसका प्रयोग भारत में भी किया। उन्होंने १९१७ में चम्पारण और १९१८ में (गुजरात) में सत्याग्रह आन्दोलन चलाए जो बहुत सफल हुए।

दक्षिण अफ्रीका में गाँधी जी ने जो कुछ किया था उसकी ख्याति भारत में फैल चुकी थी। १९१७ में गाँधीजी ने चंपारण में एक आन्दोलन चलाया था। १९१९ में गाँधीजी ने असहयोग का मार्ग देश के सामने रखा। ६ अप्रैल को सारे देश में सत्याग्रह दिवस मनाया गया। १३ अप्रैल, १९१९ को जलियाँवाला बाग हत्याकांड हुआ। उस साल अमृतसर में हुए काँग्रेस अधिवेशन में शरीक हुए हजारों लोगों ने जलियाँवाला को तीर्थ मानकर उसके दर्शन किए।

गांधीजी द्वारा चलाए गए असहयोग आन्दोलन में जनता ने भाग लया। असहयोग आन्दोलन के प्रमुख नेता थे - चित्तरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटेल, अबुल कलाम आजाद और जवाहरलाल नेहरु। इस आन्दोलन में लगभग ३०,००० लोग जेलों में बन्द किए गए। लगभग सभी प्रतिष्ठित नेताओं के जेल चले जाने से यह आन्दोलन मंद पड़ गया।

१९२३ में सारे भारत के कांग्रेसियों ने चुनावों में भाग लिया। इससे नगर पालिकाओं में नेताओं को प्रवेश मिल गया। चित्तरंजनदास कलकत्ता के मेयर बने। जवाहरलाल नेहरू इलाहबाद नगरपालिका के, राजेन्द्र प्रसाद पटना नगर पालिका के और विट्ठल भाई पटेल अहमदाबाद

नगरपालिका के अध्यक्ष बने। इन लोगों ने अपने-अपने सीमित क्षेत्रों में राष्ट्रीय हित की कार्यविधियाँ कीं।

२६ जनवरी, १९३० का दिन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसी दिन देशभर की जनता ने राष्ट्रीय झंडा फहराकर शपथ ली थी कि हम स्वतन्त्र होकर रहेंगे। मार्च में गांधीजी ने नमक-कर न देने की घोषणा की। इसके लिए उन्होंने नमक कानून तोड़ा। १२ मार्च को उन्होंने आश्रम से प्रस्थान किया। हजारों लोग उनके पीछे-पीछे चले। ५ अप्रैल को सभी डाँडी पहुँचे। वहाँ एक-एक कर नेताओं को पकड़ लिया गया। अप्रैल-मई में सारे देश में असहयोग आन्दोलन आग के समान फैल गया। क़रीब एक लाख व्यक्ति जेलों में डाल दिए गए। असहयोग आन्दोलन में महिलाओं ने भी जमकर हिस्सा लिया। इनमें प्रमुख थीं - सरोजिनी नायडू, रमाबाई रानडे, कमला नेहरू, चिमनाबाई, कसलादेवी चट्‌टोपाध्याय, अरूणा आसफ अली, मृदुला साराभाई, हंसा मेहता आदि। भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने आन्दोलन चलाया। लन्दन में जब गोलमेज परिषद हो रही थी तब असहयोग आन्दोलन अपने उत्कर्ष पर था। ४ मार्च, १९३१ को गाँधी-इर्विन संधि हो गई। असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया गया। राजनीतिक बन्दी रिहा कर दिए गए। इधर गांधी जी ने तय किया कि अंग्रेज़ी राज के प्रति एक नैतिक विरोध प्रकट करने के लिए सीमित अर्थों में असहयोग आन्दोलन चलाया जाए। आन्दोलन चला और विनोबा भावे, जवाहरलाल नेहरू तथा सभी प्रमुख कांग्रेसी गिरफ्तार कर जेल में डाल दिए गए, जिनकी संख्या २५,००० से भी ऊपर थी।

सन् १९४१ ई. में सुभाषचन्द्र बोस, जिन्होंने कांग्रेस के अन्दर'ही फॉरवर्ड ब्लॉक कायम किया था, पुलिस के पहरे में से रहस्यमय ढंग से गायब हो गए। उन्होंने विदेशों में जाकर आज़ाद हिन्द फौज की स्थापना की और उस फौज की मदद से भारत को स्वतंत्र कराने की योजना बनाई। अंग्रेज़ों के खिलाफ लड़ते हुए जापानी सेना बर्मा पार कर भारत के निकट आ गई। इसलिए सामरिक दृष्टि से भारत का महत्त्व बहुत बढ़ गया। ऐसी दशा में भारतीयों का युद्ध में असहयोग करना बड़ा मायने रखता था। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने फुसलाने के लिए कहा कि युद्ध के बाद भारत

को अपना संविधान स्वयं बनाने दिया जाएगा। लेकिन उसके साथ की अन्य शर्तें ना कांग्रेस को मान्य हुईं, ना मुस्लिम लीग को।

२० वीं शताब्दी के चौथे दशक तक क्रान्तिकारी दल के अनेक संचालक या तो फाँसी के तख्ते पर झूल गए थे या पुलिस का सामना करते हुए अमर गति प्राप्त कर चुके थे। शेष बंदीगृहों की तंग कोठरियों में जीवन के शेष दिन व्यतीत कर रहे थे। वास्तव में पहले तीन दशकों में जो क्रान्तिकारी आन्दोलन ज़ोरों पर था, वह अब बहुत निर्बल हो चुका था। उधर कांग्रेस में भी समाजवादी क्रान्तिकारी दल का आविर्भाव हो गया। समाजवादी क्रान्तिकारी दल के सदस्य, कांग्रेस दल के भी सदस्य थे जिन्होंने कांग्रेस की विचारधारा में क्रान्तिकारी मोड उपस्थित कर दिया। सन् १९४२ का भारत छोडो आन्दोलन इसी विचारधारा का परिणाम था।

सन् १९४२ में गांधी जी ने हिंद छोड़ो का नारा दिया था और कुछ ही वर्षों में हमारा देश आज़ाद हो गया। ८ अगस्त, १९४२ को कांग्रेस ने भारत छोडो प्रस्ताव पास किया। गांधी जी ने करो या मरो का नारा दिया और सारे भारत में दूसरे दिन से यह आन्दोलन छिड़ गया। यह बड़ा भीषण संघर्ष था। सारे नेताओं को पकड़कर जेलों में ठूँस दिया गया। लगभग ६०,००० लोगों को बन्दी बनाया गया। इससे जनता में बड़ा आक्रोश फैला और उसने जगह-जगह पर फोन और टेलीग्राफ के तार काट डाले, पुल तोड़ डाले, डाकखानों को आग लगा दी और रेल की पटरियाँ उखाड़ दीं।

ब्रिटिश सरकार ने बर्बरता के साथ संघर्ष को कुचल देना चाहा पर वह बढ़ता ही गया। कांग्रेस के कार्यकर्ता छुप-छुपकर आन्दोलन चलाते रहे। ५ मई १९४४ को बीमारी के कारण गाँधीजी को जेल से रिहा कर दिया गया। उन्होंने बाहर आते ही पहला काम यह किया कि जिन्ना से वार्ता करनी शुरू की ताकि उन्हें समझाकर कांग्रेस और लीग का संयुक्त मोर्चा बनाया जा सके। बाद में यह मोर्चा अंग्रेजों को देश छोड़ने के लिए विवश कर देता। लेकिन सत्रह दिनों तक वार्ता चलती रही और बाद में विफल हो गई, क्योंकि जिन्ना पाकिस्तान बनाने पर अड़े रहे।

इन आन्दोलनों के साथ-साथ नारी जीवन को महत्व प्रदान करने वाला नारी आन्दोलन पर भी दृष्टिपात करना अनिवार्य हो जाता है। इसी संदर्भ में बद्रीनारायण ने लिखा है - *"उपाश्रयी समुदाय सदैव शोषक वर्गों की गतिविधि का अधीनस्थ विषय रहा है, तब भी जब वह विद्रोह कर रहा होता है... सिर्फ उसकी स्थायी विजय ही उसे अधीनस्थता से मुक्त कर सकती है।"*[1]

देश की आज़ादी में महिलाओं ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पुरुष आंदोलनकर्ताओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर साथ चलने वाली कुछ महिलाओं की संघर्ष गाथा - उत्पीड़न, सामाजिक-आर्थिक शोषण और विषमताओं, रूढ़ीगत प्रथाओं और परंपराओं तथा परंपरागत सामाजिक मान्यताओं के खिलाफ आक्रोश और विद्रोह करती हुई नारी-अस्मिता की तलाश के लिए जद्दोजहद करती नज़र आती हैं। नारीवादी आंदोलन ने स्त्री की मुक्ति के सवाल को स्त्रीत्व से मुक्ति के सवाल में बदल दिया है। इसलिए आज नारी परंपरागत रूढ़ियों और बंधनों को तोड़कर स्वच्छंद जीवन जीना चाहती है। आँसू और आशिकी की दीवारें भी उसको मंज़िल से अलग नहीं कर सकती। इसलिए नारी पितृसत्तात्मक पिंजरों को तोड़कर परिंदे की तरह स्वच्छंद विचरण करना चाहती है।

"मैं परिंदा हूँ
मुझे खुला आसमान चाहिए
न बरगल
मैं पिंजरा तोड़के आई हूँ।"[2]

यह सही है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार मानवाधिकार घोषणापत्र में सभी स्त्री-पुरुष को समान अधिकार दिए गए हैं परंतु व्यवहार में उनका पालन नहीं किया जाता, ऐसी ही भेदभावपूर्ण परिस्थितियों पर नारी आन्दोलन से जुड़ी महिला लेखिकाओं ने अपनी चिंता अभिव्यक्त की है। क्योंकि स्त्रियों में भी दलित-स्त्री आज भी मानवाधिकारों से वंचित है। उसे दलित स्त्री होने का अहसास बार-बार जाति पर आधारित समाज संरचना द्वारा कराया जाता है।

---

[1] 'चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य', डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन एवं डॉ. देवेन्द्र चौबे पृ. ३७
[2] अजंता वार्षिकी अंक-८, २००१-०२ सं. प्रो. भीमसेन निर्मल, पृ. २८

स्त्री की मुक्ति की पहली मशाल सावित्री बाई फुले ने ही जलाई थी, जिसकी वज़ह से दलित समाज में पुरोहितवाद और वेदशास्त्रों के खिलाफ संचेतना के बीज अंकुरित हुए। सावित्री बाई फुले ऐसी पहली शिक्षिका थीं जिन्होंने अपनी पाठशालाओं में दलित, पद-दलित स्त्रियों में केवल अक्षर-ज्ञान ही नहीं बल्कि स्त्री मुक्ति की लौ भी जलाई थी। इसलिए मनुवादियों ने उन्हें अपने इतिहास से हटा दिया था क्योंकि -

" तुम थीं पहली पद-दलित स्त्री
जिसने ऊँची आवाज में
ब्राह्मणी समाज को दुत्कारा था
शूद्र अतिशूद्रों एवं स्त्री-जाति के
मान-स्वाभिमान को जगाया थीं।[1]

दलित पुनर्जागरण के दौरान आधुनिक शिक्षा के महत्व को समझकर ही सावित्रीबाई फुले ने दलित समाज की स्त्रियों में ही नहीं बल्कि समाज की सभी स्त्रियों में संस्कृतीकरण का जो बीजवपन किया, वह अब पौधे से वृक्ष बनकर नारीवादी स्वर को मुखर कर रहा है।

रजनी तिलक के अनुसार" *यदि पूरे समाज की औरतें पितृसत्तात्मक समाज में पिछड़ गई हैं तो दलित समाज की औरतें जो पहले से सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक रूप से पिछड़ी हैं, मुस्लिम और पिछड़ी औरतें जो साफ-सफाई एवं हाथ के छोट-मोटे धंधों में लगी हैं और भी ज्यादा पिछड़ी है।*[2]

ठीक इसी क्रम में दलित आन्दोलन को भी देखा जा सकता है। वस्तुतः दलित मुक्ति आंदोलन की शुरुआत को डॉ. अम्बेडकर द्वारा २४ दिसंबर, १९२७ को मनुस्मृति के दहन और दलित मुक्ति संग्राम से जोड़कर देखना ज़रूरी है। मनुस्मृति दहन के द्वारा मनु निर्मित हिन्दू धर्म की विषम समाज रचना और मूलभूत ब्राह्मणवादी विचारधारा के प्रति विरोध प्रकट किया था। उन्होंने महाड़ के

---

[1] अजंता वार्षिकी अंक-८, २००१-०२ सं. प्रो. भीमसेन निर्मल, पृ. २७
[2] अजंता वार्षिकी अंक-८, २००१-०२ सं. प्रो. भीमसेन निर्मल, पृ. २६

चवदार तालाब के सत्याग्रह द्वारा छुआछूत और अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष किया और मानवाधिकारों की प्राप्ति के लिए दलित समाज को जागृत किया। मानवाधिकारों की प्राप्ति के इस तरह के क्रान्तिकारी कदम का सवर्ण वर्ग की ओर से ज़ोरदार विरोध किया गया। उनकी पुरोहितवादी सनातनी मानसिकता को इससे धक्का लगा। नासिक का प्रसिद्ध कालाराम मंदिर-प्रवेश सत्याग्रह इसी संघर्ष की अगली कड़ी थी। इन क्रांतिकारी घटनाओं से डॉ. अम्बेडकर दलित मुक्ति आन्दोलन की शक्ति बढ़ा रहे थे। छीने गए अधिकारों को पाने के लिए उन्होंने सत्याग्रह का रास्ता अपनाया और राजनीतिक अधिकारों के लिए ब्रिटिश गवर्नमेंट से टक्कर ली।

सन् १९३० में लंदन में हुई पहली भारतीय गोलमेज परिषद में डॉ. अम्बेडकर भारतीय दलितों के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। इस सम्मेलन में अछूतों के साथ सदियों से हो रहे अन्याय को दूर करके उन्हें सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार देकर सभी के साथ बराबरी तक पहुँचाने के लिए दलितों के अधिकारों की और साथ ही पृथक निर्वाचन की भी मांग की थी। जिसे ब्रिटिश सरकार ने मान्यता दी, परंतु महात्मा गाँधी ने स्वतंत्र पृथक निर्वाचन की माँग के विरुद्ध आमरण अनशन किया। परिणामस्वरूप गाँधी- अम्बेडकर विवाद ने उग्र रूप धारण किया। दलितों को मिलने वाले इस राजनीतिक अधिकारों से गाँधी जी डर गए थे। वे चाहते थे कि इस देश के दलित, हिन्दुओं की ही इकाई रहे, अन्यथा हिंदू बहुसंख्यक से घटकर अल्पसंख्यक होने की संभावना है।

संपूर्ण देश में डॉ. अम्बेडकर के खिलाफ रोष व्यक्त होने लगा। अंत में गाँधी जी की जिद्द और उनकी बिगड़ती दशा देखकर डॉ. अम्बेडकर को इस राजनीतिक अधिकारों को छोड़ना पड़ा था। केवल विधानसभा में और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की सुविधाएँ मिली। गाँधी जी का अस्पृश्यता निवारण का अभियान दया और सहानुभूति की भावना से जन्मा था। इसलिए गाँधी जी अस्पृश्यता-निवारण के लिए क्रांतिकारी भूमिका नहीं निभा सके। इस अपमानजनक अनुभव से डॉ. अम्बेडकर का हृदय आक्रोश से भर उठा था। हिन्दू धर्मावलंबियों की मानसिकता को वे अच्छी तरह जान चुके थे। अतः दलित समाज को तथा-कथित उच्चवर्णियों की गुलामी से मुक्त

करके स्वतंत्र व्यक्तित्व देने के लिए अक्तूबर सन् १९३५ में येवले गाँव में उन्होंने दलितों के साथ अन्य धर्म में धर्मान्तर करने की घोषणा की। उन्होंने कहा था- मैंने हिन्दू धर्म में जन्म लिया है, परन्तु मैं हिन्दू रहकर मरना नहीं चाहूँगा।

श्री मधु लिमये ने डॉ. अम्बेडकर की धर्म परिवर्तन की घोषणा के कारणों को स्पष्ट करते हुए कहा है - डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि अनुसूचित जातियों के साथ इसीलिए भयानक दुर्व्यवहार किया जाता है क्योंकि वे अपने को हिन्दू कहती हैं। अगर वे किसी और धर्म की सदस्य होती तो किसी में भी उन्हें अस्पृश्य का दर्जा देने का साहस न होता। अतः उन्होंने अनुसूचित जातियों के लोगों से कहा कि वे किसी भी ऐसे धर्म को चुन लें जो उन्हें समान व्यवहार और प्रतिष्ठा दे सके।

हमारी प्राचीन परंम्परा वाली धरती पर एक नयी सरकार बनी है, जिसे अन्तरिम सरकार या काम-चलाऊ सरकार कहते हैं। यह पूर्ण स्वराज्य की दिशा में अपने देश का प्रथम चरण है। इस अवसर पर हमने कोई जलसा नहीं मनाया है, क्योंकि हमारे दिल शोक से भरे हुए हैं। कलकत्ता की दुःखदायी घटनाएँ हमारे सम्मुख हैं, जहाँ एक भाई पागलों की तरह दूसरे भाई का गला काट रहा है। जिस स्वाधीनता का स्वप्न हमने देखा था और जिसके लिए हमारी कई पीढ़ियाँ लड़ती आईं वह भारत की सारी जनता के लिए थी, किसी एक जाति या सम्प्रदाय मात्र के लिए नहीं।

स्वाधीनता-संघर्ष की यह संक्षिप्त कथा यहाँ इसलिए दी गई कि इसकी पृष्ठभूमि में हिन्दी साहित्य के तत्सम्बन्धी अंश को पाठक विश्लेषित कर सके। आगे आने वाले पृष्ठों में दलित आन्दोलन एवं दलित साहित्य के सन्दर्भ में जयप्रकाश कर्दम के कथा-साहित्य का विवेचन करेंगे।

2.2. दलित आंदोलन का उद्भव एवं विकास

" जिन लोगों की जन-आंदोलनों में रुचि है, उन्हें केवल धर्मिक दृष्टिकोण अपनाना छोड़ देना चाहिए। उन्हें भारत के लोगों के प्रति सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण भी अपनाना होगी।[1]

इस दलित आन्दोलन का सम्पूर्ण विचार करना यहाँ असम्भव है, फिर भी सारांश में कुछ ठोस बातें बताई जा सकती हैं। हम समझते हैं कि, अस्पृश्यता खत्म हो गयी है किन्तु यदि हम गत पाँच वर्षों के समाचार पत्रों के पन्ने केवल उलट ही दें तो पता चलेगा कि अस्पृश्यता का प्रश्न समाप्त नहीं हुआ है। अस्पृश्यों पर होने वाले अत्याचारों की संख्या देहातों में कई गुना बढ़ गई है। देहातों में होने वाले अत्याचार मुख्यतः भूमि-प्रश्नों से सम्बन्धित हैं। उच्चवर्णीय ज़मीन मालिकों तथा निम्न-वर्णीय भूमिहीन किसानों के बीच संघर्ष अत्यन्त क्रुर स्वरूप ग्रहण करता है। आर्थिक हित-संबंधों के साथ-साथ वर्ण श्रेष्ठत्व के अभिमान के बदले की भावना अधिक ही प्रज्वलित हो उठती है और भयानक अत्याचार होते हैं। बार-बार अग्निकांड और हिंसा की खबरें सुनाई देती हैं, इसके पीछे भी यही कारण है। अंधश्रद्धा तथा केवल वर्णश्रेष्ठत्व के अभिमान से भी अत्याचार होते रहते हैं। महाराष्ट्र के शहरों में अब दलित वर्ग कुछ अंशों में सुशिक्षित हो गया है। बडे पैमाने पर वह मध्यवर्ग में शामिल हो रहा है। इसी कारण पुराने सफेदपोश वर्ग के मानसिक स्तर पर उसका संघर्ष अनिवार्य हो रहा है। छात्रवृत्तियों एवं आरक्षित स्थानों के कारण उसे सुस्थिति नसीब हुई है, यह सच है। किन्तु कोई यह मत समझे कि ये सुविधाएँ उसे पुराने सफेदपोश वर्ग की उदारता से मिली हैं। ये सुविधाएँ अन्दोलन और विशेषतः इस वर्ग के कार्यदक्ष नेता ने ही उन्हें प्राप्त करा दी हैं अर्थात उन्होंने खुद ही उन्हें हासिल किया है। इसका परिणाम जो होना था वही हो रहा है। इस वर्ग की बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्षमता के विकास एवं भौतिक उत्कर्ष के कारण मनुष्य के नाते उनका अपेक्षाएं स्वाभाविक रूप में बढ़ गयी हैं।

दलित साहित्य के बारे में बहस १९६७ के आस-पास शुरू हुई। तब समीक्षकों के सामने प्रधान रूप से एक ही विधा थी- दलित कविता। दलित-साहित्य के बारे में जो कुछ भी कहा जाता

---

[1] बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर संपूर्ण वाड्मय खण्ड-१४,.पृ. ९८

था वह इसी विधा के आधार पर। इसलिए इस बात को ध्यान में लाना आवश्यक है कि दलित साहित्य के बारे में जो कुछ कहा जाता है वह दलित कविता के बारे में भी सार्थक है। मराठी, हिंदी, तेलुगु, कन्नड़, बंगला और गुजराती साहित्य में अगर कोई विवादाग्रस्त साहित्य रहा है तो वह है - 'दलित साहित्य'। दलित साहित्य सिर्फ साहित्य ही नहीं बल्कि एक साहित्यिक आंदोलन भी है।

डॉ. अम्बेडकर ने १९२७ में मनुस्मृति के नियमों को तोड़ने और अछूतों के लिए वर्जित चवदार तालाब का पानी पीने का अपना आन्दोलन शुरू किया।

मंदिर प्रवेश का यही आन्दोलन डॉ. अम्बेडकर ने १९३० में शुरू किया। इसके पहले गाँधी जी मंदिर प्रवेश आन्दोलन के खिलाफ थे और वे हिन्दू सभा की तरह राजनैतिक कारणों से इस समस्या की ओर उन्मुख हुए।

कुछ विद्वान लोग दलित-मुक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दू सुधारवादी आन्दोलन या हिन्दू पुनर्जागरण आन्दोलन से मानते है और इस प्रकार की धारणा खास तौर पर बंगाल, हिन्दी भाषी क्षेत्रों में ज्याद तौर पर दिखायी देती है। उनकी मान्यता के अनुसार दलित शब्द विवेकानन्द, एंनी बेसेंट आदि लोगों द्वारा कई बार प्रयोग में लाया गया है। उसी प्रकार ब्राह्मो-समाज और प्रार्थना-समाज आदि हिन्दू पुनर्जागरणवादी समाजों ने हिन्दू समाज में सुधार लाने के लिए , अछूतपन को समाप्त करने के लिए कार्य किया है।

दलित-साहित्य का आंदोलन १९६० के बाद मराठी में ही शुरू हुआ। दलित साहित्य की बुनियाद डॉ. भीमराव आम्बेडकर के आंदोलन ने ही डाली है। डॉ. भीमराव आम्बेडकर का जन्म एक महार घराने में हुआ था और वे अपने बचपन में छूत-छात की अपमानित ज़िंदगी बर्दाश्त करते रहे थे। अँग्रेज़ी शिक्षा और कानून की डिग्री प्राप्त करने के बाद से वे इस लानत के ख़िलाफ़ विद्रोह करने पर कटिबद्ध हुए। पीढ़ियों से जो दलित और शोषित रहा, उसके पुनरूत्थान के लिए, सनातनियों की सामंती समाज-संरचना के ख़िलाफ़ डॉ. अम्बेडकर ने विद्रोह किया। डॉ. अम्बेडकर के आंदोलन ने दलितों में जागृति की एक ज़बरदस्त लहर पैदा की और उन्हें नई चेतना दी। सन्

१९६५ के बाद बुद्ध की करुणा, मार्क्स की क्रांति दृष्टि तथा नीग्रो साहित्य ने भी समय-समय पर इस वैचारिकता को प्रभावित किया है। इंसानी मूल्यों की भूमिका पर सामंती मानसिकता के ख़िलाफ़ आक्रोश, इसीलिए विद्रोह और संघर्ष यानी दलित-साहित्य।

बाबूराव बागूल के शब्दों में -दलित-साहित्य इंसान को केन्द्र बनाता है। इंसान को महानता प्रदान करता है। इंसान प्रकृति का एक नन्हा-सा रूप है। प्रकृति हमेशा गतिशील है और सर्जनशील होनी चाहिए। स्वतंत्रता, समानता और बंधुता की मूल्य-चेतना, दलित साहित्य की मूल्य-र्भ चेतना है। दलित साहित्य की अनुभूति परम्परागत साहित्य से बिल्कुल अलग है।

स्वतंत्र भारत में कई सदियों से और आज भी जो उपेक्षित, अनादरित हैं, बहिष्कृत हैं, भद्र समाज के पालतू पशु, पंछी, जानवरों से भी बदतर ज़िंदगी जीते हैं। सदियों पूर्व हिंदू धर्म की वर्ण-प्रधान समाज-रचना की वजह से अनपढ़ पशु-समान हालत में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजकीय अनादरित वैदिक काल में दास-शूद्र और स्मृति-काल में शूद्र, महाशूद्र और अतिशूद्र या अस्पृश्य, अंत्यज, अछूत, बहिष्कृत, हरिजन, दक्षिण भारत में पंचम, 'दलित'(Depressed) जैसी शब्द की संज्ञा में जीता है एक विशाल वर्ग।

१९ वीं सदी में महात्मा ज्योतिराव फूले और २० वीं सदी में डॉ. अम्बेडकर ने ज्ञान फ़क़ीरी हासिल करके, दलितों के हाथ में ज्ञान के सूरजमुखी रख दिये। 'शिक्षा, संगठन और संघर्ष' का नारा गुंज उठा। तब से दलित सूरजमुखी की तरह सूर्योन्मुख हुए।

दलित साहित्य वर्ण-वर्ग विहीन समाज रचना का एक आंदोलन, एक तहरीक है।

डॉ. अम्बेडकर दलित साहित्य के प्रेरणास्रोत हैं। उन्होंने दलितों की गरिमा, उनकी अस्मिता को जगा कर और दलितों के प्रति हो रहे अत्याचारों के ख़िलाफ़ जेहाद जगा कर, उनके अधिकारों के लिए आंदोलन की शुरुआत की। परंपरागत अन्यायों के ख़िलाफ़ विद्रोह जगाया। समानता, समता और न्याय के लिए सामाजिक आंदोलन चलाया। इससे डॉ. अम्बेडकर की युग-पुरुष की छवि बनी।

दलित साहित्य समाज व्यवस्था के संदर्भ में एक आंदोलन है। मानव-मूल्य समय-समय पर बदलते रहते हैं, इसलिए मानव-मूल्यों के संदर्भ में, 'इन्सान को केन्द्र में रख कर लिखी जाने वाली दलित कविता, कहानी व उपन्यास को समझने के लिए दलित समाज के हरेक पहलू से परिचित होना आवश्यक है। जब हम दलित साहित्य की समग्रता की बात करते हैं, तब उसमें से ध्वनित प्रतिध्वनित होने वाले 'आक्रोश' और 'आंदोलन' शब्दों को केवल अभिधात्मक दृष्टि से ही न समझ कर विशिष्ट अर्थ में लेना चाहिए। आक्रोश का अर्थ गुस्सा, उपेक्षा या डांट-फटकार न लगा कर *'युगों से पीड़ित समाज की जागृत और शोषक वर्ग के प्रति उसकी घृणा'* के अर्थ में लेना चाहिए। उसी तरह आंदोलन का अर्थ शहर की गलियों में हर दूसरे दिन होने वाली नारेबाजी या तमाशा न लगाकर, उसे *दलित सर्जक के संवेदनशील हृदय में पैदा होने वाली उग्र खलबली'* के रूप में समझना चाहिए।

दलित समाज के लोगों में ऐसी खलबली क्यों? किसलिए? दलित साहित्य वास्तव में साहित्य द्वारा समाज में जागृति लाने का सजग प्रयास कर रहा है। यह 'संघर्ष' तीर-तलवार या रिवोल्वर का नहीं है। यह संघर्ष तो वैचारित क्रान्ति और आमूल वैचारिक परिवर्तन का है और यही दलित साहित्य का लक्ष्य है। समाज में रूढ़ हो चुकीं विषमताओं के विरोध में दलित साहित्य का प्रवाह शुरु हुआ है।

दलित साहित्यकार समाजोत्थान के आंदोलन को मजबूत बनाने वाली प्रेरणा शक्ति के रूप में साहित्य की गिनती करें, यह अनिवार्य है। इस प्रवृत्ति को उधर्वगामी बनाने के लिए रुढ़िगत, अन्यायी मूल्यों को दूर करना है, उन्हें जड़-मूल से उखाड़ फेंकना है। रूढ़िवादी लोगों के मानस में जमी हुई काई को दूर करना है।

इसलिए आज दलित साहित्यकारों को अपना काम सत्त जारी रखने की आवश्यकता है। माध्यमों का उपयोग करके उसका प्रसार करने की आवश्यकता है क्योंकि, आवश्यकता आविष्कार की जननी'है।

प्रतिशोध की आग को बुझने नहीं देना है। डॉ. अम्बेडकर ने सच ही कहा था"- *हमारे देश में उपेक्षितों तथा दलितों की एक बहुत बड़ी दुनिया है, यह कभी नहीं भूलना चाहिए। उनके दुःख और पीड़ा को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। साहित्य का आधार लेकर उनकी जीवन उन्नत बनाने के ठोस प्रयास हमें करने चाहिए। और यह तभी सिद्ध हो पायेगा जब हमारे देश में समानतामूलक समाज(Egalitarian society) का निर्माण होगा"।*

'What is literature' में सार्त्र कहते हैं कि अतिव्यक्तिवादी की चेतना प्रयत्नशील वर्ग की विनाशकारी चेतना है, यह सच है, परन्तु उसी से एक शाश्वत मानवी स्थिति(Human Condition) का दर्शन भी सम्भव है। जब ऐसा होता है तब निःसन्देह वह श्रेष्ठ कला हो सकती है।

मार्क्स के सौंदर्यशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार"- *लेखक जिस समाज या जिति का हो, उसकी सामाजिक स्थिति जैसी है, उसी के अनुसार उसके विचार, भावनाएँ और अभिरुचि साहित्य में प्रतिबिंबित होती है। साहित्य समाज से भिन्न नहीं है। इसीलिए दलित साहित्यकारों की रचनाओं को समझने के लिए उनकी ऐतिहासिक और सामाजिक परिश्थितियों का अध्ययन करना अनिवार्य है। दलित साहित्य समाजोद्‌भावित साहित्य है। अपने समाज की मान्यताओं भावनाओं आदि को वह स्वाभाविक रूप से स्वीकार करता है। भावनाएँ और विचार कभी-कभी उसकी कल्पना की सीमा भी बन जाते हैं। समाजशास्त्रियों तथा इतिहासकारों ने तो इस बात को स्वीकार किया है, पर न जाने क्यों कलाकार और साहित्यकार यह मानने को तैयार नहीं हैं"।*[1]

संघर्ष के मूल कारण वैसे आर्थिक होते हैं किन्तु उनकी अभिव्यक्ति जातीय स्तर पर होती है। इसका मतलब यह नहीं कि सभी लोग जातीयता की दृष्टि से विचार करने वाले होते हैं। विकसित एवं सजग संवेदनशीलता के कारण इस वर्ग को समाज में अपनी अस्पृश्यता का हीन स्वरूप साफ-साफ दृष्टिगोचर होना स्वाभाविक है। स्वतंत्रता प्राप्ति को आज पाँच दशक व्यतीत हो गये। इस दौरान स्वतंत्र भारत के नये माहौल में पनपी केवल एक ही पीढी आगे आई है। इसमें

---

[1] 'मार्क्सवाद और सौंदर्यशास्त्र', डॉ. भीखुभाई पारेख, पृ. २३

आश्चर्य क्या है कि इसी पीढ़ी को उसकी विकास-प्रक्रिया में ही दलित- जीवन का अर्थ स्पष्ट एवं समग्र सामाजिक अर्थों सहित प्रतीत हो जाए

सामाजिक-आर्थिक आन्दोलन पहले और बाद में राजनैतिक आन्दोलन यह क्रम योरोप में रहा। मगर भारत में पराधीनता के कारण राजनैतिक स्वातंत्र्य के पश्चात् जागरण का कार्य गतिमान हो रहा है। भारतीय मार्क्सवाद ने आरम्भ से ही आमूल सामाजिक परिवर्तन का चित्र उभारा अवश्य परन्तु पूँजीवादी अर्थरचना से निर्मित वर्ग विषमता की लड़ाइयाँ ही लड़ी गयी। इस क्षेत्र में उन्होंने निश्चय ही बहुत बड़ा कार्य किया। परन्तु जिस समाज में क्रान्ति लानी है उसके सम्पूर्ण स्वरूप को बिना जाने क्रान्ति का विचार व्यर्थ हो जाता है। असल में मार्क्सवादियों ने भारत के चातुर्वर्ण्य-विशिष्ट स्वरूप की ओर ध्यान ही नहीं दिया। अगर ऐसा होता तो यहाँ भारतीय परिस्थिति के अनुरूप मार्क्सवाद का सर्जनशील एवं अनोखा विकास होता। इस सर्जनात्मक क्रय को जाने-अनजाने टाल दिये जाने से ही मार्क्सवाद केवल आर्थिक मोर्चे पर ही काम कर सका। मार्क्सवाद को भारत में तीन कार्य करने थे : १. किसानों एवं मजदूरों की लड़ाइयाँ लड़ना, २. स्वतंत्रता आन्दोलन में अन्य वर्गों के साथ सम्मिलित होना एवं ३. ढुलमुल स्तर पर चल रहे सामाजिक जागरण की प्रक्रिया को अधिक व्यापक, गहन एवं तेज करना।

इन तीन कार्यों को एक ही सुव्यवस्थित नीति में पिरोकर तदनुसार क्रांति के साधनों को सिद्ध करने का कार्य भारतीय मार्क्सवादियों के सामने था। इनमें से पहले कार्य को मार्क्सवादियों ने महत्वपूर्ण समझा। स्वतंत्रता-आन्दोलन में सम्मिलित होकर भी दूसरे कार्य के बारे में वे उचित निर्णय नहीं कर सके। तीसरे कार्य की ओर वैचारिक स्तर पर वे ध्यान नहीं दे सके। यह काम भी कुछ मामूली नहीं था।

इस संदर्भ में इस आन्दोलन का एक वैशिष्ट्य दर्ज करना आवश्यक है। वह यह कि दलित आन्दोलन की यह चेतना मूल्यगर्भ चेतना है। इस आन्दोलन को प्रेरणा देने वाले मूल्यों का उल्लेख प्रतिभाशाली दलित लेखक के ही शब्दों में करना उचित होगा"- *दलित साहित्य मनुष्य को केन्द्र बनाता है। मनुष्य को महानता प्रदान करता है। मानवी स्वातंत्र्य का जी जाने से उद्घोष करता*

है।[1]

इस प्रकार दलित साहित्य की चेतना मूल्यगर्भ चेतना है। स्वातंत्र्य दलित-साहित्य की चेतना का मूल है। इसीलिए दलित-साहित्य की चेतना और प्रगतिशील लेखकों की चेतना भिन्न मूल्याधिष्ठित नहीं, विरोधी नहीं, इसको ध्यान में रखना चाहिए।

साहित्य धारा की दृष्टि से देखें, तो आम तौर पर सामाजिकता का विरोध इस प्रकार के साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। दलित साहित्य की चेतना इस धारा के खिलाफ दिखाई देती है। एक असहायता की चेतना है तो दूसरी स्वातंत्र्य की चेतना। एक वर्गतः विकास की सम्पूर्ण संभावनाएँ गँवाकर बैठे व्यक्तियों की चेतना है, तो दूसरी वर्गतः विकास की सभी संभावनाओं से युक्त लोगों की। निस्संदेह दलित साहित्य का आन्दोलन इस संदर्भ में विशेष अर्थपूर्ण है।

यह आन्दोलन सर्जनशीलों का है। इस बात की ओर ध्यान दें कि अपनी जीवनानुभूति के प्रति आस्था होना सर्जनशीलों का धर्म ही है। इसी से उसको अभिव्यक्त करते-करते कितने ही कलाकारों की पूरी जिन्दगी धूल में मिल चुकी है। प्रतीतियों के अन्तर्गत संघर्ष उत्पन्न होते हैं और जी जान से मुकाबले होते हैं। नयी-पुरानी प्रतीतियों के अन्तर्गत संघर्ष चलता है और कला कला क्षेत्र में भी उसे लड़ाया जाता है। इसीलिए अपनी बात तीव्रता से प्रकट करना कलाकार की भूमिका के रूप में उचित ही हैं।

अब दलित आंदोलन और साहित्य को उद्देशित कर उसकी अर्थवत्ता और प्रासंगिकता संबंधी विद्वानों के विचारों से अवगत होना भी उपयोगी साबित होगा।

दलित आन्दोलन से पूरे हिन्दी समाज के विकास में मदद मिलेगी, क्योंकि उससे पूरे हिन्दी समाज में जो जातिवाद, रूढ़िवाद, जड़ता और मानसिक पिछड़ापन है, वह सब घटेगा और मिटेगा। इसके अलावा हिन्दी समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा, जो पहले बेजुबान था, अब अपनी भावनाओं और समस्याओं को पूरी सच्चाई और तीव्रता के साथ सामने रखेगा। उससे हिन्दी साहित्य में एक नए ढंग का ऊर्जावान साहित्य विकसित होगा। यहीं नहीं, इससे हिन्दी साहित्य की भाषा में भी

[1] बाबूराव बागूल - अध्यक्षीय भाषण, दूसरा महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य-सम्मेलन, महाड़

एक सार्थक मोड़ आएगा औह जो भाषा आजकल शहरी मध्यवर्ग की भाषा बनकर रह गयी है वह व्यापक जनजीवन की भाषा बनेगी। मुझे यह भी लगता है कि आज का हिन्दी साहित्य जितना पश्चिम की ओर देखता है, उनता अपने देश के गाँव की ओर नहीं। हिन्दी साहित्य की इस पश्चिमोन्मुखी प्रवृत्ति के सामने, दलित साहित्य एक संभावनापूर्ण चुनौती के रूप में होगा, जो हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा के संवेदनशील रचनाकारों को भी इस देश की व्यापक जनता से जोड़ने की प्रेरणा देगा।

शिक्षा के महत्व को समझकर डॉ. अम्बेडकर ने सन् १९४५ में मुंबई में 'पीपुल्स एज्युकेशन सोसाईटी' की स्थापना की, जिसके अंतर्गत मुंबई में 'सिद्धार्थ' कालेज और और औरंगाबाद में 'मिलिंद' कालेज की स्थापना हुई है। ये दोनों ही शिक्षा संस्थान डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा को आगे बढ़ाने वाले दो महत्वपूर्ण केंद्र बन गए। डॉ. अम्बेडकर की मृत्यु के बाद दलित मुक्ति आंदोलन की बागडोर इन शिक्षा केंद्रों में शिक्षित दलित युवकों ने संभाली।

सन् १९६६ में 'सिद्धार्थ साहित्य संघ' नामक साहित्य संस्था की स्थापना हुई जो बाद में बदल कर महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ हो गया। इस संघ की स्थापना के बाद दलित साहित्य के सृजन और उसेक प्रकाशन में तीव्रता आई। ये रचनाएँ रिपब्लिकन पार्टी द्वारा प्रकाशित 'जनता', 'प्रबुद्ध भारत', 'बहिष्कृत भारत', 'मूकनायक' आदि समाचार पत्रों तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी। इस पृष्ठभूमि में 'महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ' ने दलित लेखकों का प्रथम सम्मेलन २ मार्च १९५८ को मोरबाग, दादर बंबई में बंगाली हाई स्कूल के हॉल में आयोजित किया। इसके अंतर्गत 'ही दलित वर्गातील वांड्मयाचा दृष्टिकोण काय असावा?' (दलित साहित्य की दृष्टि क्या होनी चाहिए?) विषय पर एक निबंध प्रतियोगिता भी आयोजित की गई थी।

दलित साहित्य सम्मेलन की आवश्यकता के बारे में बन्धुमाधव ने प्रबुद्ध भारत में लिखा - जिस प्रकार लेनिन के क्रांतिकारी विचारों का रूसी लेखकों ने अपनी रचनाओं द्वारा प्रचार करके रशियन क्रांति की मदद की थी, उसी प्रकार डॉ. अम्बेडकर के प्रचारों को गाँव-गाँव तक पहुँचाने का कार्य दलित साहित्यकारों का है।

इस सम्मेलन के अवसर पर 'प्रबुद्ध भारत' का विशेषांक निकला जिसके संपादकीय लेख में दलित साहित्य की व्याख्या इस प्रकार की गई इस विषम समाज-व्यवस्था के विरुद्ध दलित समाज का संघर्ष निरंतर चलता रहेगा और इस संघर्ष का इतिहास ही दलित साहित्य होगा। इस सम्मेलन में यह माँग की गई थी कि दलित साहित्य को मराठी भाषा तथा साहित्य में, साहित्य के एक प्रभाग के रूप में सम्मिलित किया जाए। इस साहित्य के सांस्कृतिक महत्व को समझकर साहित्य संघ और विश्वविद्यालयों द्वारा उचित सम्मान दिया जाए।

दलित लेखकों के इस प्रथम सम्मेलन से दलित साहित्य के आंदोलन को एक ठोस आधार मिला। इस सम्मेलन की चर्चा दैनिक मराठा समाचारपत्र के अतिरिक्त और किसी भी समाचार पत्र ने नहीं की। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले महत्वपूर्ण लेखक थे - घनश्याम, कॉ. आर. बी. मोरे, दिनेश लखमापूरकर, टी. पी. अडसूल, राम उपशाम, जनार्दन वाघमारे, अण्णा रणपिसे, दादा रूपवते, बन्धुमाधव, भाई नरेन्द्र मोरे, चोखा कांबले, म. दु. ताम्हेणेकर, यादवराव गागुर्डे तथा डी. वाय कांबले।

ये लेखक रिपब्लिकन पार्टी से संबंधित थे या उसके कार्यकर्ता थे। डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर की मृत्यु के बाद रिपब्लिकन पार्टी में फूट पड़ गई और वह दो हिस्सों में विभाजित हो गई। इस विभाजन से महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ भी दो टुकड़ों में बँट गया जिसमें एक थी 'महाराष्ट्र की बौद्ध परिषद' और दूसरी 'महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सभा'। इन दोनों साहित्यिक संस्थाओं का दलित साहित्य आंदोलन को आगे ले जाने में बड़ा योगदान रहा है। इस समय जो दलित लेखक दलित जीवन की व्यथा को अपनी कृतियों के माध्यम से व्यक्त कर रहे थे उनमें प्रमुख थे आण्णाभाऊ साठे, शंकरराव खरात और बाबूराव बागुल। बाबूराव बागुल की कहानियाँ दलितों की वेदना की अभिव्यक्ति के द्वारा विषम समाजव्यवस्था के विरुद्ध एक विद्रोही के रूप में जूझ रही थी। ' विद्रोहाच्या कविता' शीर्षक का इनका पंद्रह कविताओं का एक संकलन इसी समय प्रकाशित हुआ था जो सायक्लोस्टाईल कापी के रूप में था। अस्पृश्यता के दाहक अनुभवों से दग्ध जीवन की अभिव्यक्ति इसमें मिलती है। उनकी एक कविता यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत है - यहाँ (इस देश में)

जन्म लेने की भूल जिन्होंने की है वे ही इसे सुधारेंगे देश त्याग करके या भीषण युद्ध करके।

बाबूराव द्वारा प्रयुक्त इस शैली को अन्य दलित जीवन को चित्रित करने के लिए मराठी ललित साहित्य के समीक्षा के मानदंडों से निर्मित चित्र फलक छोटा पड़ रहा था। उन समीक्षा मानदण्डों से केवल मराठी के परंपरागत ललित साहित्य का ही मूल्यांकन हो सकता था। दलित साहित्य के मूल्यांकन के लिए वे सक्षम नहीं थे। अतः दलित साहित्य की समीक्षा के लिए मराठी समीक्षा को अपने मानदंड बदलने पड़े हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने दलितों में शिक्षा के महत्व के प्रति जागृत चेतना को मूर्त रूप देने हेतु औरंगाबाद शहर में मिलिंद महाविद्यालय की स्थापना की थी। यहाँ पर महाराष्ट्र के कोने-कोने से दलित विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आने लगे। यहीं नागसेनवन में स्थित मिलिंद महाविद्यालय और औरंगाबाद, दलित साहित्य आंदोलन के केन्द्र बन गए। यहीं से दलित साहित्य का आंदोलन अपना रूप गढ़ रहा था। शिक्षित सुसंस्कृत दलित युवकों के मन में अपने जीवन के अनुभवों को शब्दांकित करने की इच्छा जाग उठी थी। परिणामतः कहानी, कविताएँ लिखी जा रही थी। परंतु प्रश्न था उनके प्रकाशन का। क्योंकि रचनाकार और उनके विषय तथा आशय दलित जीवन से संबंधित थे। लेखक की रचना को प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त न हुआ तो उसे मर्मान्तिक यातनाएँ होती है। परंतु लेखन शक्ति को इस तरह दबाकर नहीं रखा जा सकता। पत्थर को तोड़कर पानी का स्त्रोत मैदान की ओर बहने के लिए जिस प्रकार व्याकुल रहता है उसी प्रकार की व्याकुलता रचनाकार में भी होती है।

डॉ. म. ना. वानखेडे उस समय मिलिंद विश्वविद्यालय के प्रधानाचार्य थे, छात्रों की इस छटपटाहट को वे महसूस कर रहे थे। वे लिखते हैं - इस व्यग्रता को देखकर मैंने मेरे सहयोगियों की सहायता से दलितों के सांस्कृतिक और शिक्षा के केंद्र में 'दलित साहित्य मंच' की स्थापना का निश्चय किया। मराठी साहित्य क्षेत्र में विशिष्ट वर्ग का वर्चस्व होने एवं फार्म संबंधी गलत दृष्टिकोण के कारण दलित जीवन इससे पहले कभी भी साहित्यिक विषय नहीं बन सका। इस तरह का अन्याय न केवल समाज के साथ है बल्कि साहित्य के साथ भी है। इस बात की गंभीरता को देखकर हमने

सन् १९६७'में मिलिंद साहित्य संभा की स्थापना की। जिसके अंतर्गत 'अस्मिता' पत्रिका का प्रारम्भ हुआ। मिलिंद साहित्य सभा, अस्मिता, अस्मितादर्श और दलित साहित्य के आंदोलन का जन्म डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा से प्राप्त प्रेरणा और लेखकों में जागृत सामाजिक दायित्व के अहसास से हुआ है।

दलित साहित्य आंदोलन को निश्चित दिशा देने और उसका विकास करने में अस्मितादर्श त्रैमासिक पत्रिका का बहुत बड़ा योगदान रहा है। बाबूराव बागुल, दया पवार, अर्जुन डांगले, वामन निंबालकर, नामदेव ढसाल, केशव मेश्राम, वामन इंगले, ज. वि. पवार, यशवंत मनोहर, शंकरराव खरात, कुमद पावडे, ज्योति लांजेवार, लक्ष्मण गायकवाड, लक्ष्मण माने, अमिताभ आदि दलित लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित करके 'अस्मितादर्श' पत्रिका साहित्यिक दायित्व के साथ-साथ सामाजक दायित्व को निभा रही है।

दलित साहित्य आंदोलन और दलित मुक्ति आंदोलन एक दूसरे के पर्याय के रूप में जन्में आंदोलन है। दलित मुक्ति आंदोलन जो सामाजिक स्तर पर सक्रिय था उससे प्रेरणा इसी चेतना की अगली कड़ी' है दलित पैंथर आंदोलन ।

यह दलित रचनाएँ आपके समक्ष समाज के एक ऐसे हिस्से की त्रासदी को उजागर करती है जो समाज का अनिवार्य हिस्सा होते हुए भी कथित आभिजात्य वर्ग ने उन्हें जानवरों से भी बदतर मानकर बहिष्कृत किया। इनके जीवन को दुःख, वेदना, अवहेलना, अपमान का पर्याय बनाकर समाज की मुख्य धारा से अलग रखा। अन्याय-अत्याचार, शोषण के द्वारा इस दलित समाज को गुलाम बनाए रखा, देश की संपत्ति, संसाधनों से वंचित रखकर, अभाव-दरिद्रता का जीवन जीने के लिए मजबूर किया। उत्पादन के किसी भी साधन पर के अधिकार से वंचित रखा गया। यह वही दलित समुदाय है, जो हजारों वर्षों की गुलामी के बाद चेतनशील होकर अपने अपने मानव अधिकारों की माँग कर रहा है। इस साहित्यिक आंदोलन के उद्‌भव और विकास को जाने बगैर हम दलित साहित्य के आविर्भाव को समझ नहीं सकेंगे।

साहित्य के क्षेत्र में नई चेतना का जन्म सामाजिक, सांस्कृतिक अभिसरण के फलस्वरूप होता है। हर बार यही देखा गया है कि समाज में होने वाले परिवर्तनों का सही रूप साहित्य में प्रकट होता है। दलित साहित्य मराठी साहित्य में सामाजिक परिवर्तन की माँग को लेकर प्रस्तुत हुआ है। मनुष्य की एक नई पहचान कराने वाले साहित्य के रूप में दलित साहित्य उभरा है।

दलित साहित्य के बारे में कमलेश्वर ने कहा था"- *जिस देश की आधी मानवता अपमान से पीड़ित हो, उस देश में स्वाभिमान से यह कह सकने वाला साहित्य कि हम अपमान के लिए अपने को समर्पित करते हैं, मराठी के दलित साहित्य के अलावा दूसरा नहीं हैं।*

भारतीय समाज के एक बहुत बड़े हिस्से को समाज ने हमेशा दुत्कारकर अपमानित किया और मनुष्य होकर भी उसके साथ पशु से बदतर व्यवहार किया है। यह अहसास वेदनामय है और यह वेदना एक व्यक्ति की नहीं पूरे दलित वर्ग की है। इस वेदना की रचनात्मक अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य है। इस दृष्टि से इसे एक महत्वपूर्ण सामाजिक घटना मानना चाहिए। दलित साहित्य की निर्मिति सामाजिक परिवर्तन का ही परिणाम है, और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में प्रेरित संवेदनात्मक मन की अभिव्यक्ति भी'है।

सबसे पहले परिवर्तन की आकांक्षा का यह स्वर मराठी के दलित साहित्य में प्रस्फुटित हुआ। यह दलित साहित्य का प्रथम स्वर था। दलित साहित्य का उद्भव मराठी साहित्य में एक साहित्यिक सामाजिक विद्रोह के रूप में हुआ है जिसके माध्यम से दलित, शोषित समाज में धधक रहे विद्रोह, आक्रोश का यह रूप मुखरित हुआ है। सदियों से अछूत की जिंदगी जी रहे वंचितों के हिन्दू धर्म व्यवस्था ने वह स्थान दिया जो गाँवों, नगरों के अहातों से दूर था और जहाँ केवल अंधकार ही अंधकार था। इस चेतनहीन समाज की सोयी हुई आत्मा को डॉ. अम्बेडकर ने जगाया। और वह मनुष्य अपने सामर्थ्य के साथ और साहित्य के साथ इस आंदोलन में शामल हुआ।

दलित साहित्य में व्यक्त होने वाला अनुभव मौलिक अनुभव है। इस अनुभव की मुख्य प्रेरणा है-स्वतंत्रता। स्वतंत्रता के महत्व को दलितों ने तब जाना जब उन्होंने हिन्दू धर्म का त्याग कर बुद्ध धर्म को स्वीकार किया। डॉ. अम्बेडकर के धर्मान्तरण के बाद के इन उद्गारों से यह पता चलता

है कि दलित उस समय कैसा अनुभव कर रहे थे।

" *विषमता और जुल्मों पर आधारित पुराणपंथी धर्म का त्याग करने से मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे मैंने नरक तुल्य जीवन से छुटकारा पा लिया है और मेरा पुनर्जन्म हुआ है।*

इसी नया जन्म होने और स्वतंत्रता के अहसास की अभिव्यक्ति दलित साहित्य में हुई है। आज हम देखते हैं कि दलित साहित्य आंदोलन द्वारा अभिव्यक्त विद्रोह की भावना एवं स्वतंत्र चेतना का विस्फोट साहित्यिक, राजनीतिक और वैचारिक स्तर पर हो रहा है। यही कारण है कि भारत की दलित युवा पीढी की तरफ तथा उनकी प्रेरक विचारधारा, राजनीतिक आंदोलन और साहित्यिक अभिव्यक्ति की ओर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी का ध्यान आकर्षित हुआ है। दलित साहित्य उस विद्रोह का उन्मेष है जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि 'स्व की खोज में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परंपराओं से विद्रोह एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है।

दलित साहित्य के विचारक, चिंतक और लेखक डॉ. ताराचंद्र खांडेकर के अनुसार दलित साहित्य केवल विद्रोह प्रतिकार या प्रतिशोध नहीं है, या केवल नकार या निषेध नहीं है। बल्कि जो कुछ मंगल और शुभ है उन सबकी निर्मिति के लिए यह पूर्व परंपराओं से विद्रोह है। यह विद्रोह हिन्दू धर्म पर आधारित परंपराओं, रूढियों और विचारों से है और उस समाज के विरुद्ध जिसने उन्हें पद्दलित, शूद्र और अस्पृश्य नाम देकर अन्याय, अत्याचारों के द्वारा अपने मन में छिपी बर्बरता का पूरा-पूरा परिचय दिया।

यह कहना उचित होगा कि *विद्रोह ही दलित साहित्य का मूलधर्म और उसकी विशिष्टता है।* डॉ. म. ना. वानखडे ने दलित साहित्य के बारे में कहा है"- *दलित साहित्य का अर्थ है दलित लेखकों ने दलितों के बारे में लिखा हुआ प्रक्षोभक विद्रोही साहित्य। इसका अर्थ यह नहीं कि उसे समाज से विभक्त होना है बल्कि समाज में रहकर ही उस विद्रोह को प्रकट करना है। वह समाज से दया की भीख नहीं माँग रहा है वह उन पर आग बरसाना चाहता है। यह फूट डालने वाली नीति नहीं है, यह असल में, ढ़ोंग, अन्याय के खिलाफ उठी आवाज और समाज को एक दूसरे*

से जोड़ने वाली प्रवृत्ति हैं।

दलित साहित्य का केन्द्र स्थान मनुष्य है। धर्म की साजिश द्वारा छीनी हुई प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त करने के लिए यह साहित्य प्रतिबद्ध है। यह उसे सम्यक क्रान्ति की तरफ ले जाना चाहता है। क्योंकि साहित्य समाज चेतना का ऐसा माध्यम है जो समाज की वास्तविकता को रचना के माध्यम से समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है।

ज्यां पाल सार्त्र ने इस विषय में कहा है"- *लेखन केवल लेखन नहीं है वह कृति है, दुष्ट प्रवृत्तियों के विरुद्ध मनुष्य का जो सतत संघर्ष चल रहा है, उस संघर्ष मे लेखन को एक हथियार के समान उपयोग में लाने की जरूरत को लेखक वर्ग समझे। लेखन के महत्व को दलित लेखक अच्छी तरह जान चुके हैं और इस विषम समाजव्यवस्था के खिलाफ़ वे इस हथियार का सही अर्थों में उपयोग भी कर रहे हैं।*[1]

[1] 'What is literature', जां-पाल-सार्त्र, पृ. २३३

2.3. 'दलित' शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

दलित आंदोलन, दलित साहित्य इत्यादि पर विचार करने से पूर्व हमें सर्वप्रथम दलित साहित्य'में दलित शब्द की व्याख्या करनी होगी। दलित अर्थात् केवल हरिजन और नवबौद्ध ही नहीं, बल्कि गाँव की सीमा से बहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ, आदिवासी, भूमिहीन खेतीहर मजदूर श्रमिक, दुःखी जनता, भटकी-बहिष्कृत जाति इन सभी का दलित शब्द की व्याख्या में समावेश होता है। दलित शब्द की व्याख्या केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से नहीं होगी। इसमें आर्थिक तौर पर पिछडे हुए लोगों का भी समावेश करना चाहिए।

' दलित साहित्य शब्दावली का जो विशेष अर्थ है उसी में इस साहित्य की अर्थवत्ता निहित है। दलित साहित्य के नामकरण पर विचार करने से पहले दलित शब्द पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

विभिन्न विचारकों ने दलित शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं। डॉ. अम्बेडकर ने दलित शब्द को अस्पृश्य के स्थान पर अपनाया है। अस्पृश्य शब्द की जो व्याख्या उन्होंने 'The Untouchable' नामक अपने अंग्रेज़ी ग्रंथ में दी है, उससे यही पता चलता है। डॉ. अम्बेडकर ने गिरिजन, खानाबदोश जातियों, अपराधी घोषित की हुई जातियों Excriminal tribes (denotifide) और अछूत, इन तीनों समुदायों को अस्पृश्य (दलित) कहा है।

उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार दलित शब्द में शोषित, पीड़ित और आर्थिक दृष्टि से दुर्बल सभी वर्गों का समावेश हो जाता है। इन सभी जातियों की गुलामी और दासता का स्वरूप सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक ही है। इसलिए दलित शब्द का प्रयोग उन सभी उपेक्षित जातियों, जनजातियों के लिए किया जाता है।

डॉ. अम्बेडकर ने 'What congress and Gandhiji have done to the Untouchables' नामक ग्रंथ में अस्पृश्य शब्द के लिए जिन पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है, उससे अस्पृश्यता शब्द का बोध होता है। उन्होंने अस्पृश्य (Untouchables) के लिए

'Depressed classes, Scheduled caste और Servide caste इन शब्दों का प्रयोग किया है। इसके कारणों को बताते हुए वे लिखतें हैं इस पुस्तक में मैंने अस्पृश्य वर्ग के लिए डिप्रेस्डक्लासेस, शैड्यूल्ड कास्ट्स, और गुलाम वर्ग इन नामों का प्रयोग किया है जिसका कारम है अस्पृश्य वर्ग के लिए समय-समय पर अधिकृत और अनधिकृत तौर पर इन शब्दों का प्रयोग किया गया है।
' गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया द्वारा शैड्यूल्ड कास्ट का प्रयोग होता है। सन् १९३६ के बाद इस शब्द का प्रयोग होता रहा, इससे पूर्व गाँधी जी द्वारा हरिजन और सरकार की ओर से डिप्रेस्ड क्लासेस कहा जाता था। अतः ये सारे शब्द प्रयोग समानार्थी ही हैं और अस्पृश्य वर्ग के लिए ही प्रयुक्त भी किए गए'हैं।

बाबूराव बागुल के अनुसार - दलित वह है जो वर्णव्यवस्था और उसकी मानसिकता को ध्वस्त कर देना चाहता है। दलित इस विश्व और जीवन को नए रूप में ढालना चाहता है जिसके हाथों को इस युग ने प्रज्ञावंत प्रलयंकारी बनाने के लिए, शस्त्रों तथा शास्त्रों को उपलब्ध कर दिया है।

दलित साहित्य पर विचार करने से पहले दलित शब्द को ठीक तरह समझना आवश्यक है। दलित का सामान्य अर्थ शोषित, वंचित और पिछड़ा हुआ है। इस सामान्य अर्थ को लेने पर हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता दलित है, बल्कि विश्व की बहुसंख्यक जनता दलित कही जा सकती है। स्पष्ट है कि दलित शब्द को विशिष्ट अर्थ में ग्रहण करना होगा। आलोचना और साहित्य के क्षेत्र में विभिन्न भाषाओं में बहुत से ऐसे शब्द प्रचलित हो गये हैं, जिनके सामान्य अर्थ के बजाय विशिष्ट अर्थ लिये जाते हैं और उन विशिष्ट अर्थों में वे रूढ़ हो गये हैं।

दलित साहित्य की कोई सैद्धान्तिक परिभाषा नहीं बन सकती। इसे ऐतिहासिक दृष्टि से ही देखना चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में दलित शब्द का प्रचलन पहले मराठी में दलित साहित्य के प्रसंग में हुआ। उसके भी पहले दलित शब्द महाराष्ट्र के दलितों के आंदोलनों के प्रसंग में प्रचलित हुआ। यदि इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखा जाए तो दलित शब्द भारतीय समाज में शूद्र समझे जाने वाले लोगों के लिए इस्तेमाल किया गया और इसी अर्थ में मराठी के दलित साहित्य में इस

शब्द को ग्रहण किया गया।

सम्भव है कि दलित शब्द महाराष्ट्र के बाहर भी दलित, शोषित, वंचित, पिछड़े, शूद्र कहे जाने वाले लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ हो, पर इस अर्थ में इसका अधिक प्रचलन महाराष्ट्र के दलित आंदोलनों तथा दलित साहित्य के उद्भव एवं विकास के साथ हुआ। यहाँ मैं दलित आंदोलनों तथा दलित साहित्य को अभिन्न मानते हुए एक साथ उनका उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि महाराष्ट्र के दलित आंदोलनों के बिना मराठी के दलित साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती थी।

दलित शब्द डॉ. अम्बेडकर के 'Depressed' का हिन्दी अनुवाद ही है। वैसे 'भी दलित 'या डिप्रेस्ड दोनों ही समानार्थी शब्द हैं, जिनमें शोषित, उपेक्षित, दबे-कुचले और दमन के शिकार व्यक्ति अथवा वर्ग शामिल है।

लक्ष्मण शास्त्री के शब्दों में, दलित मानवीय प्रगति में सबसे पीछे धकेल दिया गया सामाजिक वर्ग'है।

डॉ.म.ना.वानखेड़े के अनुसार - जो दबे हुए श्रमजीवी हैं, वे सब दलित की व्याख्या में शामिल होते हैं।

गोविन्द शंकर वाघमारे के अनुसार' - दलित उसे कहते हैं, जो आर्थिक रूप से अत्यंत दबा हुआ है, इस समाज व्यवस्था में सबसे नीचे रहने वाला कमजोर वर्ग दलित समझा जाता'है।

शरणकुसार लिम्बाले के अनुसार - दलितों की परेशानी, गुलामी परिवारिक विघटन, दुःख, गरीबी और उपेक्षापूर्ण जीवन का वास्तविक चित्रण करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। पीड़ा और आह का उदात्त स्वरूप अर्थात दलित साहित्य।

रामचन्द्र वर्मा के अनुसार' - दलित शब्द का अर्थ मसला हुआ, मर्दित, दबाया, रौदा या कुचला हुआ, विनष्ट किया हुआ'है।

---

[1] 'संक्षिप्त शब्द सागर' मूल संपादित, काशी प्रचारणी सभा, पृ. ४६८

वी. आर. के. अय्यर के अनुसार - दलित शब्द जन संख्या के उन शोषित व पीड़ित वर्ग से है जो परंपरात्मक आधार पर सदियों से सामान्य सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक अधिकारों से वंचित रहा'है।[1]

लक्ष्मण शास्त्री जोशी दलित शब्द को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि"- *दलित मानवीय प्रगति से सबसे पीछे पड़ा हुआ अथवा पीछे ढकेला गया सामाजिक वर्ग है। महाराष्ट्र के हिन्दू समाज में महार, चमार, डोम इत्यादि जिन जातियों को गाँव के बाहर रहने के लिए बाध्य किया गया और जिनसे, समाज विशेषतः सवर्ण समाज शारीरिक सेवाएँ तो लेता रहा, लेकिन जीवनावश्यक, प्राथमिक जरूरतों से भी जिन्हें जानबूझकर वंचित रखा गया और पशुओं के स्तर पर घृणित जीवन के लिए बाद्य किया गया उनको अछूत या दलित कहा गया है।"*[2]

मैनेजर पाण्डेय के अनुसार"- *मैं जब दलित शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ तो में ध्यान में वे हैं, जिन्हें भारतीय वर्णव्यवस्था व शूद्र कहा जाता है या जिन्हें समाज में अछूत माना है। मैं केवल उन्हें दलित मान रहा हूँ जो जाति से दलित है।"*[3]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि समाज के सर्वाधिक दुर्बल, सर्वहारा, उपेक्षित, तिरस्कृत, शोषित, दमनित, सामाजक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और अन्य मानवीय आधिकारों से वंचित वह वर्ग जिसे सामाजिक न्याय नहीं मिल सका, दलित की श्रेणी में आता है।

' [1] हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा', पृ. २

[2] 'दलित साहित्य : चिन्तन के विविध आयाम', सं. डॉ. एन. सिंह, पृ. २४

[3] 'संचेतना' मार्च-९८, पृ. ३८

2.4. दलित साहित्य : नामकरण और स्वरूप

मराठी साहित्य के इतिहास में यह दूसरा प्रसंग है जब साहित्य को आंदोलन के रूप में देखा गया। प्रथम प्रसंग भक्ति साहित्य आंदोलन का था और दूसरा प्रसंग दलित साहित्य आंदोलन का। पर यह किसी राजनीतिक आंदोलन के तौर-तरीक़े का आंदोलन नहीं है, जिसमें तत्कालीन प्रश्नों पर दृष्टि केंद्रित रहती है। किसी साहित्यिक आंदोलन के पीछे कोई राजनीतिक या सामाजिक आंदोलन हो सकता है परंतु उसे साहित्यिक प्रतिष्ठा सर्जनात्मक कर्म और मूल्य-चिन्तन से मिलती है। दलित साहित्य आंदोलन की पृष्ठभूमि में दलित मुक्ति संग्राम अवश्य है, पर वह किसी राजनीतिक दल का साहित्यिक मोर्चा नहीं है।

डॉ. वी. कृष्णा ने लिखा है कि, *"दलित साहित्य आज की मांग है। सदियों से पीडित-उत्पीडित व बहिष्कृत तबकों की सही और सार्थक आवाज दलित साहित्य है जिसने मराठी से अपनी यात्रा शुरू की थी और आज पूरे भारतीय भाषाओं के साहित्य में प्रवेश कर अपनी विशिष्ट एवं अलग अस्मिता बना ली है। दलित साहित्य जाति, धर्म और वर्ग के नाम पर जारी शोषण के विरूद्ध संघर्षरत है। अतः दलित साहित्य मुक्ति संघर्ष का साहित्य है।"*

आज कल दलित साहित्य बहुचर्चित विषय हो चुका है। अलग-अलग दृष्टिकोणों से इस आन्दोलन पर विचार किया गया है। कलात्मक संभावनाओं की दृष्टि से इस आन्दोलन की ओर देखने का यह एक प्रयत्न है। दलित शब्द की उत्पत्ति के बारे में, दलित साहित्य के विकास के बारे में बहुत तरह के विवाद है।

दलित साहित्य की मिली जुली अनेक परिभाषाएँ पढ़ने को मिली हैं। साहित्य को नाम देने की दृष्टि से डॉ. धर्मवीर ने इसे 'शेष साहित्य' कहा था। कथाकार ओम प्रकाश वाल्मीकि ने 'अस्मिता की पहचान का साहित्य' कहा है। दलित साहित्य वर्ण जाति के भेदभाव की विषमतामूलक समाज व्यवस्था के प्रति आक्रोश और विद्रोह के रूप में सामने आता है।

दलित साहित्य का आन्दोलन उचित है या अनुचित यह निश्चित करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि, वह अचानक क्यों उत्पन्न हुआ? इस प्रश्न को लेकर दलित लेखक आज बड़ी आत्मीयता से लेखन कर रहे हैं। आज आग्रहपूर्वक वे अपने को दलित संबोधित कर अपनी पृथकता स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस आन्दोलन के समर्थक स्वयं लेखक, उपन्यासकार एवं कवि हैं, प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति हैं।

वास्तव में 'दलित' हैं क्या? क्योंकि आजकल 'दलित' शब्द का अर्थ बहुत सीमित अर्थ में लिया जा रहा है। यहाँ तक की लेखक और कवियों के बीच इस विषय को लेकर अनेक विवाद उठ रहे हैं। बड़े-बड़े साहित्यकार भी इस विषय के विवाद से अपने को नहीं बचा पा रहे हैं। सर्वप्रथम दलित साहित्य में 'दलित' शब्द की व्याख्या निश्चित करनी होगी - *"दलित केवल हरिजन और नवबौद्ध नहीं। गाँव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ, आदिवासी, भूमिहीन खेत मज़दूर, श्रमिक, काष्ठकारी जनता और यायावर सभी की सभी 'दलित' शब्द से व्याख्यायित होती हैं। दलित शब्द की व्याख्या में केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से नहीं चलेगा। इसमें आर्थिक दृष्टि के पिछड़े हुए लोगों का भी समावेश करना होगा।"*[1]

दलित अपने आप से ही पूछता है कि वह असल में है कौन? उसी में दलित साहित्य का जन्म हो रहा है। दलित साहित्य प्रयोगशील नहीं है। लोग जैसे जी रहे हैं, वैसे ही शब्दों में वह व्यक्त होता है। *"हम दलित हैं और हमारे दुःख अलग है।"* अनुभूति की इस विशिष्टता की अभिव्यक्ति अब तक हिंदी साहित्य में नहीं हुई है। जिस समाज में दलितों को मानवीय अस्तित्व से भी वंचित रखा, उस समाज के साहित्य में उनकी वेदनाओं की वाणी कहाँ से मिल पाती? दलित साहित्यकारों ने अनुभव किया कि उनके अनुभव भी साहित्य में अब तक बहिष्कृत होते रहे हैं।

आज के संदर्भ में दलित शब्द का प्रयोग बहुत उपयुक्त माना जाता है। दलित की जब बात है तो एक ऐसे समुदाय की बात होती है जिसके ऊपर हज़ारों वर्षों से अमानवीय तरीके से दमन किया गया है, निर्मम शोषण किया गया है, असहनीय अपमान किया गया है। महात्मा गाँधी ने

[1] 'दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र', डॉ. शरदकुमार लिम्बाले, (अनु. रमणिका गुप्ता), पृ. ३८

आजादी की लड़ाई के दौरान दलितों को सम्मानजनक स्थान दिलाने, जातिगत भेद एवं छुआछूत के विरूद्ध आन्दोलन भी चलाया था। सन् १९३२ में बूना पैक्ट हुआ, हिन्दुओं एवं दलितों के बीच में। दलितों का नेतृत्व डॉ. अम्बेडकर कर रहे थे एवं हिन्दुओं का नेतृत्व महामना मालवीय।

दलित साहित्य, दलितों की यातना और अस्तित्व की बात करता है। मानवीय गौरव और सम्मान की बात करता है। सामाजिक वेदना और चेतना की बात करता है। डॉ. अम्बेडकर का समाज दर्शन समता, समानता और बंधुता में है। सामाजिक अन्याय के ख़िलाफ़ आक्रोश की बात है। 'ब्लैक लिटरेचर' में भी सामाजिक न्याय की बात है।

मार्टिन लूथर किंग के शब्दों में कहें तो *"अब लोकतंत्र के वचनों को सार्थक करने का, वर्णभेद के अंधकारमय विश्व से जातिवादी न्याय के सूर्य के प्रकाशित होने का, सभी के लिए समान न्याय प्राप्त होने का समय आ पहुँचा हैं।"*

अब युगबोध को पकड़ने का काम दुनिया के दलित, कुचले हुए दलित वर्ग के सर्जकों का है। दलित साहित्य में सामाजिक प्रतिबद्धता है। दलितों के उत्थान की बात मानवीय गरिमा की बात है। शब्दों में शस्त्रों से अधिक शक्ति है। नोबेल विजेता हीनी सेमशन के शब्दों में - *'मेरी उंगली तथा अँगूठे के बीच कलम ही बंदूक से भी अधिक सुरक्षित और कातिल है।'*[1]

'सामाजिक चेतना' के कारण भालचन्द्र फड़के कहते हैं कि, *"हरेक झोपड़ी में सूर्य सुलगने लगा है। ऐसी स्थिति में दलित साहित्य सम्यक् क्रांति का नेतृत्व करेगा ही करेगा, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।"*

दलित साहित्य में अन्याय, असमानता, शोषण के सामने विद्रोह जगाने की भूमिका तो होती है, परंतु महत्व की बात, अस्पृश्य होने के नाते जिन मुश्किलों का सामना करना पड़ता है, उसके

---

[1] "Between my finger and my thumb, the squat pen rest snug as gun."

ख़िलाफ़ दलित साहित्य आक्रोश व्यक्त करता है। इस तरह दलित साहित्य प्रगतिशील साहित्य के साथ कुछ मुद्दों में साम्य रखता है। किंतु दलित होने के नाते जो तकलीफ़ें झेलनी पड़ती है, उनके कारण दलित साहित्य के रूप रंग अलग प्रकार के हैं।

दलित साहित्य आज के समय की माँग है। इसलिए इसने यह नाम धारण किया है। इसके दो कारण हैं। एक तो हमारे मुल्क में दलित है। दूसरी वजह है हमारा देश और इस देश का पुराना साहित्य जो जाति-पाँति की लानत में फँसा हुआ है। दुनिया की किसी भी भाषा या बोली में जिसका उदाहरण या मिसाल न हो, दुनिया भर के शब्दकोषों में जिससे अधम और अश्लील कुछ भी न हो, धिक्कार, अपमान, अन्याय, जुल्म, दमन, गरीबी इन सबको मिला कर ऐसी ही एक संज्ञा बनाई गई 'धेड़'। यह संज्ञा खाली और आधे भरे पेटों की संज्ञा है, काम की परेशानियों की संज्ञा है। यह गंदे नालों और नालियों के पास पड़े चिपके हुए पेटों की संज्ञा है। पृथ्वी से भी भारी भरकम गाली है यह संज्ञा।

जो आज अछूत हैं वास्तव में वे हिन्दुस्तान के असल निवासी थे, जिन्हें बाहर से आने वाले आर्यों ने लड़ाई में पराजित किया और समाज की निम्नस्तरीय सीढ़ी पर ढकेल कर तिरस्कार भरी अपमानित ज़िंदगी जीने पर मजबूर किया। इन्हें हिन्दुओं ने गुलाम नहीं बनाया चूंकि उन्हें विद्रोह का डर था। इसलिए धर्म का लेबल लगा कर इन्हें अछूत बनाया गया और गुलामों से बदतर ज़िंदगी गुज़ारने पर मजबूर किया गया। लेकिन सदियों के जमूद(जमाव) के बाद छूत-छात धर्म की शक्ल में भी कबूल नहीं रही। व्यक्ति हमेशा अपने वर्ण और आर्थिक 'स्टेट्स' से आदरित या अनादरित था।

दलित साहित्य एक जन साहित्य (MASS LITERATURE) है। इतना ही नहीं वह कार्य का साहित्य (LITERATURE OF ACTION) भी है, जिसमें कार्य (ACTION) शब्द 'क्रिया' के साथ चौकस परिणाम का संबंध रखता है। यह क्रिया मूल्य स्वीकार की है।

भारतीय साहित्य के मूलमंत्र 'सत्यं, शिवम्, सुन्दरम्' का पुनर्मूल्यांकन करने के बाद दलित-साहित्य इसको भी निषिद्ध मानता है। इसके स्थान पर वह 'सब्ब पापस्स' अकरणं कुसलस्य

उपसंपदा सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानुसासनं' को स्वीकार करता है। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' को नकारने के कारण ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में खोजने होंगे। संस्कृत साहित्य - दूसरे शब्दों में ब्राह्मण धर्म - को जो सत्य लगता था वह ब्राह्मणेतरों के लिए सत्य नहीं था, ब्राह्मणों को प्रतीत होने वाला शिव इतर जनों को शिव नहीं लगता था और इसी प्रकार ब्राह्मणवाद ने जो सुन्दर के रूप में स्वीकार किया उसके कारण ब्राह्मणेतरों को दुःख भोगना पड़ा।

सारांश यह है कि 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की रचना एक वर्ण विशेष के लिए की गयी थी। अन्य वर्ण के लोगों तथा वर्णहीन अस्पृश्यों को इसी कारण 'दास' बनना पड़ा। इस 'सत्यं शिवं सुन्दरं' ने भारतीय शूद्र, अस्पृश्य, दास, नाग और क्षत्रिय - इन सबके सांस्कृतिक इतिहास को गुलामी तथा पराजय का इतिहास बना दिया। इसके बावजूद इन्हीं दासों की स्वाभिमानी कड़ी के रूप में डॉ. अम्बेडकर ने 'हिन्दुस्तान' का नया नाम 'भारत' रखकर अस्पृश्यों और शूद्रों को उनकी प्रचंड एवं विलोमनीय सांस्कृतिक महानता का अहसास कराया। यह बात कितने लोगों को मालूम है कि 'भारत' दासों के एक गोत्र का नाम था और इस 'भारत' का दुष्यंत शकुन्तला के भरत से लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है?

ब्राह्मण परंपरा के षडयंत्र के परिणामस्वरूप ही वस्तुतः आज तक के लेखकों को प्रतीत होने वाला 'सत्य' दलितों के लिए असत्य, 'शिव' दलितों के लिए अस्पृश्य और 'सुन्दर' दलितों के लिए गुलामी रहा। दलित साहित्य ने इस ब्राह्मणी साहित्य के अंतरंग को उघाड़ कर रखा है। अतएव दलित रचनाओं की विशिष्टता स्पष्ट परिलक्षित होती है।

2.5. हिन्दी दलित साहित्य का आविर्भाव

दलित साहित्य मराठी साहित्य का एक अभिनव उन्मेष है और उसकी प्रेरणा ऐतिहासिक-सांस्कृतिक है। मराठी में दलित साहित्य के आविर्भाव के कारणों का ऐतिहासिक विश्लेषण करना आवश्यक है। साथ ही मराठी साहित्य के संदर्भ में इसकी विशेषताओं पर भी विचार करना चाहिए। निषेध, नकार और विद्रोह दलित साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ मानी जा सकती हैं।

वस्तुतः ज्योतिबा फुले जैसा युग प्रवर्तक लेखक इस प्रकार के सर्वस्पर्शी विद्रोह का आदि रूप हो सकता है, किन्तु दलित साहित्य का विद्रोह इन सबसे भिन्न है।

इसके कारणों का विश्लेषण करते समय अम्बेडकर के द्वारा प्रतिपादित क्रांति के ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं पर विचार करना होगा क्योंकि अम्बेडकर-दर्शन दलित साहित्य का प्रेरणा स्रोत है। महाराष्ट्र में दलित-साहित्य शब्द का प्रयोग सन् १९५४ से होने लगा था। यूँ तो मराठी कवि कुलगुरू केशवसुत की सामाजिक क्रांतिकारी रचनाओं में दलित समाज के अन्याय का चित्रण मिलता है। इसके अलावा २० वीं सदी में मार्क्सवादी दलित कवियों ने भी दलित कविताएँ लिखी हैं। इस जनवादी आंदोलन में किसन फागु बनसौड़े प्रमुख कवि हैं। इनके अलावा साहर घेगड़े, वामन कर्डक, दीनबंधु वगैरह कवि हैं, पर वे स्वतंत्रता पूर्व के कवि हैं।

संत श्री चोखामेला, चक्रधर स्वामी और महात्मा फूले जैसे पुरुषों की भूमि में डॉ. अम्बेडकर ने दलितों के अधिकों तथा हितों के आंदोलनों द्वारा लेखों, प्रवचनों, पत्रों, पुस्तकों तथा अन्य प्रवृत्तियों के माध्यम से सामाजिक चेतना का नाद गुंजाया और वही दलित साहित्य की मुख्य धारा बना। परिणामतः मराठी दलित साहित्य में योगीराज वाघमारे, शंकर राव खरात, बाबू राव बगुल, नामदेव ढसाल, दया पवार, नारायण सुर्वे, अर्जुन डांगले, सोनकांबले, डॉ. पाणतावणे, लक्ष्मण माने, गायकवाड और कई सशक्त सर्जक हुए।

दलित साहित्य आखिरकार समानता और संवादिता ही चाहता है। उसका उज्ज्वल पक्ष यह है कि दलित-चेतना (Dalit Consciousness) और दलित अस्मिता (Dalit Identity) के अतिरिक्त अन्य मानव मूल्यों के संदर्भ में भी वह लिखा जाता है।

डॉ. अम्बेडकर ने दलितों की मुक्ति हेतु जो प्रचंड लड़ाइयाँ लड़ी थीं। उन्होंने नये मनुष्य की उस मानसिकता का निर्माण किया जो किसी भी रूप में मराठी साहित्य की संवेदना में व्यक्त नहीं हो रही थी। अंबेडकर द्वारा नवनिर्माण के लिए किए संघर्ष तथा नृशास्त्र, राजनीति, अर्थनीति पर उनके द्वारा लिखित ग्रंथ बाबासाहेब के जीवन एवं साहित्य विषयक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं।

दलित साहित्य महाराष्ट्र के अम्बेडकरवादी दलितों की नवनिर्मितिक्षम निष्ठाओं का साहित्य है।

दलित साहित्य की कल्पना आज अधिक विकसित हुई है लेकिन उसकी अभिव्यक्ति प्रथमतः सन् 1928 में हो चुकी थी किन्तु उसका स्वरूप आज के जैसा नहीं था। उसमें एक सरल अर्थ निहित था - दलितों द्वारा लिखा साहित्य यानी 'दलित साहित्य'। आज भी कुछ परंपरावादी मराठी साहित्यकार दलित साहित्य पर यही अर्थ चिपका देते हैं। लेकिन सन् १९५६ में अम्बेडकर द्वारा किये गये धम्मचक्र परिवर्तन के बाद उसका मूलभूत स्वरूप परिवर्तित हुआ है। 'दलित मनुष्य के जीवन का दलित लेखकों के द्वारा किये गये चित्रण और दलित जीवन की स्थितियों का, कल्पना के आधार पर, दलितेतरों द्वारा किये गये चित्रण' को दलित साहित्य कहना दलित साहित्य की सही कल्पना पर अन्याय है।

दलित साहित्य की निष्ठाएँ केवल अछूत, दलित, आदिवासी, दुःखी पीड़ित मानव समाज तक ही सीमित नहीं बल्कि वे सम्पूर्ण मानव समाज के मूल्य हैं। अछूत, दलित तथा दुःखी समाज इस साहित्य का प्राथमिक और महत्वपूर्ण क्षेत्र है।

दलित-साहित्य जिस समाज को स्वीकार करता है वह अम्बेडकर-प्रणीत धर्मनिरपेक्ष समाजवाद है और दलितों की आर्थिक-सामाजिक विषमता का नाश उस समाजवाद का प्रथम लक्ष्य है।

दलित साहित्य की पृष्ठभूमि का विवेचन करते समय उसके सृजनात्मक मूल्यों पर विचार करना भी महत्वपूर्ण है। दलित साहित्य न केवल वैचारिक परंपराओं को अस्वीकार करता है बल्कि आज तक की मराठी तथा समस्त भारतीय साहित्य की परम्पराओं को भी अस्वीकार करता है।

मराठी में दलित साहित्य के रूप में जो नया उन्मेष प्रकट हुआ है, अन्य भाषाओं के साहित्यकारों को उसका तटस्थ विवेचन विश्लेषण करना चाहिये। दलित साहित्य के अम्बेडकरवादी प्राणतत्व को स्वीकार किए बिना भारतीय साहित्य कभी सच्चे अर्थ में सार्वभौमिक नहीं हो सकता। दलित साहित्य का शुद्ध एवं क्रांतिकारी रूप वह है जिसकी सुदृढ नींव अम्बेडकरवाद पर आधारित है।

इस प्रकार भारतीय साहित्य में दलित साहित्य की अब अपनी एक अलग पहचान बन चुकी है। लेकिन अब दलित साहित्य को एक पूरा विशाल अर्थ देना चाहिए। जिस साहित्य में मनुष्य समाज की पीड़ा, दर्द और उनकी कुछ न कर पाने की बेबसी का चित्रण मिलता है, वह सब दलित साहित्य है। चाहे वह गैर दलितों द्वारा, दलितों के जीवन को लेकर लिखा गया ही क्यों न हो। यदि कोई गैर दलित साहित्यकार अपने जीवन की पीड़ा और संवेदना को एक दलित की तरह व्यक्त करता हैं, तो उसे दलित साहित्य के बाहर का नहीं मानना चाहिए।

इस समय हिन्दी में दलित साहित्य की चर्चा जोरों पर है। हिन्दी प्रदेशों में राजनीतिक स्तर पर दलित चेतना के उभार के साथ ही हिन्दी में दलित साहित्य की चर्चा शुरू हुई और देखते-देखते लेखकों की एक पूरी पीढ़ी सामने है। दलित लेखकों की पीढ़ी अपने नज़रिए से समूचे हिन्दी साहित्य का मूल्याँकन-पुनर्मूल्यांकन कर रही है। इस प्रवृत्ति को हम हिन्दी में दलित साहित्य की दस्तक के रूप में सुन सकते हैं। इसलिए एक स्वतंत्र साहित्यधारा के रूप में दलित साहित्य पर विचार विमर्श महत्वपूर्ण सांस्कृतिक आवश्यकता ही नही, दायित्व है।

हिन्दी का जो दलित साहित्य है, वह अभी उस रूप में हमारे सामने उभरकर नहीं आया है, जैसा कि मराठी, कन्नड़, गुजराती आदि भाषाओं में है।

2.6. दलित साहित्य आंदोलन के पूर्व के साहित्य में दलितवादी स्वर

हिन्दी साहित्य के भीतर आदिकाल से इस प्रकार के शोषण की शिकार जातियों के संदर्भ में साहित्यकारों ने अपना लेखन किया है। सिद्धों और नाथों में एक ओर यह प्रवृत्ति हमें देखने को मिलती हैं, तो मध्यकाल में संत साहित्य के भीतर भी इस चेतना को हम देख सकते हैं जिसमें कबीर, रैदास, दादू आदि हैं। हिन्दी के प्रथम कवि सरहपाद में भी यह प्रवृत्ति हम देख सकते हैं। आधुनिक काल के भीतर यह प्रवृत्ति हम कवि श्री नाथूराम शंकर, श्री रूप नारायण पांडे, पंडित, पंडित माधव शुक्ल, गया प्रसाद शुक्ल स्नेही, मैथिलीशरण गुप्त, शियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, अवधेरा बिहारी अवधेश, नागार्जुन, धूमिल, सोमदत्त कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह आदि अनेक नाम गिनाये जा सकते हैं। समय समय पर इन कवियों ने इस विषय पर अपनी कलम चलाई है।

१५ वीं शताब्दी में बहुत सारे सूफी संत कवि राष्ट्रीय मंच पर आये जिसमें प्रमुख रूप से संत कबीरदास, दादूदयाल, रैदास, गुरु नानक थे। इन संतों एवं कवियों ने समाज में व्याप्त आडम्बर, ऊँच-नीच, जाति-पाँति पर ज़बरदस्त हमले किये। कबीर ने सधुक्कड़ी भाषा में ब्राह्मणों को ललकारते हुए कहा था - *"जो तू बाभन बाभनी जाया, आन राह काहे नहिं आया।"*

इनका विद्रोह था - समाज में व्याप्त कठमुल्लापन से, पाखण्ड एवं आडम्बर से। उस युग में मन्दिरों में भगवान को कैद करके रखा गया था जिनका दर्शन करने की शूद्रों एवं दलितों को सख्त मनाही थी। ऐसी स्थिति में इन संतों ने, कवियों ने निराकार परमब्रह्म की कल्पना की तथा ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर कहा कि भगवान सर्वव्यापी है। इसको मंदिरों एवं मस्जिदों में कैद नहीं किया जा सकता। ऐसा करना ढ़ोंग है, पाखण्ड है। इसी पाखण्ड की ओर इशारा करते हुए संत कबीर कहते हैं कि *"काँकर पाथर जोड़ि के मस्जिद लियो बनाय। ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।"*

वास्तव में यह युग आध्यात्मिक एवं सामाजिक जन-जागरण का युग था जिसका नेतृत्व इन संतों ने किया था। इसके बाद का इतिहास तो आप सभी लोगों के सामने है। 'दलित' शब्द का मतलब है वे अछूत जिन्हें गाँव के बाहर हाशिए पर रखा गया और उनकी जीवन शैली के

कोड निर्धारित थे कि क्या क्या नहीं करना है। अम्बेडकर के दर्शन से नयी दृष्टि प्राप्त कर लिखा जा रहा है दलित साहित्य, यह एक सच्चाई है।

जहाँ तक दलित साहित्य की अवधारणा का प्रश्न है, अगर पीछे मुड़कर देखें तो इसकी बड़ी लम्बी दास्तान है, इतिहास है। मोटे तौर पर देखें तो इसकी शुरुआत ढाई हज़ाह साल पहले गौतम बुद्ध ने की। जहाँ तक लिखित साहित्य की बात है, साहित्य की उपलब्धता की बात है, सबसे पहले गौतम बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था के ऊपर जबरदस्त हमले किये थे। उन्होंने पूरी ब्राह्मणवादी व्यवस्था को एक प्रकार से नकारा था। उसके ऊपर हमले किये थे। उससे आगे आयें तो यह पायेंगें कि हिन्दुस्तान के इतिहास में अनेक उत्थान-पतन होते रहे। पन्द्रहवीं शताब्दी में एवं उसके पहले चार्वाक जैसे भौतिकवादी दार्शनिक चार्वाक के भौतिकवादी दर्शन को ब्राह्मणवादी दार्शनिकों ने न केवल तोड़-मरोड़कर लोगों के सम्मुख प्रस्तुत किया।

आधूनिक काल में हिन्दू समाज की महात्मा गाँधी अपने त्याग व बलिदान से अपने जीवन की आहुति देकर रक्षा कर रहे हैं। उस समय हिन्दुओं में डॉ. अम्बेडकर के प्रति बहुत आक्रोश एवं असंतोष था। अम्बेडकर ने दलितों के हितों की रक्षा के लिए कतिपय शर्तों पर दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र की माँग को वापस लेते हुये महात्मा गाँधी से आमरण अनशन समाप्त करने का अनुरोध किया। उस समय अम्बेडकर ने कहा था "हर कीमत पर महात्मा गाँधी की जिन्दगी बचायी जानी चाहिए। उस समय महात्मा गाँधी ने कहा था कि *"हिन्दुओं ने दलितों के ऊपर जो हजारों वर्षों से अत्याचार किया है अगर अम्बेडकर चाहते तो अपनी जिद पर अड़े रहते। यह अम्बेडकर की सदाशयता है, उदारता है, उनमें क्षमा की भावना है, जो उन्होंने हमारी बात को मान लिया। इसके लिए हम उनके बहुत आभारी है।"*[1]

[1] 'दलित साहित्य की आवधारणा और प्रेमचंद', सदानंद शाही, पृ. १३५

२.७. दलित साहित्य आंदोलन के पूर्व के हिन्दी कथा-साहित्य में दलितवादी स्वर

हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक युग के कुछ कथाकारों की कहानियों में 'गांधीवादी सहानुभूति' की अभिव्यक्ति हुई है। खास तौर पर सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और यशपाल की कहानियों में। 'निराला' की दो लम्बी कहानियों (या लघु उपन्यासों) 'चतुरी-चमार' और 'बिल्लेसूर बकरीहा' को हम ले सकते हैं। जहाँ तक यशपाल की कहानियों का प्रश्न है, सन् १९३६ के पास हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील विचारधारा का प्रवेश हो चुका था, जिसके कारण कहानियों में भी भूख, शोषण और गरीबी का भी अत्यंत दारूण चित्रण हुआ और मजदूरों, शोषित और स्त्री के प्रति सहानुभूति प्रकट करती हुई रचनाएं लिखी गई। मूलभूत रूप में यही दलित चेतना है।

हिन्दी कथा-साहित्य में प्रेमचंद का पदार्पण एक अभूतपूर्व घटना है। पंडित बनारसी दास चतुर्वेदी ने लिखा है कि प्रेमचंद अपने समय के एक मात्र ऐसे साहित्यकार थे, जिनके कारण हिन्दी साहित्य देश की सीमाएँ लांघकर विदेशों तक पहुंचा। और यह सच भी है। क्योंकि प्रेमचंद ही ऐसे कथाकार हैं, जिन्होंने पहली बार भारतीय (हिन्दू) समाज में नरक भोगते दलित को अपनी कहानियों का विषय बनाया, उसकी संपूर्ण यातनाओं के साथ।

प्रेमचंद की कहानियों में शूद्रों और सवर्णों की इन सभी प्रकार की मानसिक और सामाजिक स्थितियों का चित्रण हुआ है। 'ठाकुर का कुआँ' उनकी दलित चेतना की सर्वोत्कृष्ट कहानी है। इस कहानी का मूल स्वर यह है कि इन्सान होने की हैसियत से जीने के लिए हरिजन का प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं पर अधिकार नहीं है। स्वच्छ हवा और पानी जिस पर किसी भी व्यक्ति का निजी स्वामित्च नहीं है, उसे भी वह अपनी मर्जी से नहीं पा सकता। समाज में अलग-अलग जातियों के अलग-अलग कुएँ हैं। किन्तु हरिजनों को छोड़कर सवर्णों के कुएँ से शेष सभी पानी निकाल सकते हैं। हरिजन मात्र हरिजनों के लिए बने कुएँ से ही पानी निकाल सकते हैं।

वस्तुतः अछूत भावना या अस्पृश्यता मुख्यतः तीन रूढिवादी मान्यताओं पर आधारित है - 'खान-पान संबंधी नियम, शादी का संबंध तथा धार्मिक उत्सव। अछूत के साथ बैठकर भोजन करना तो दूर की बात है, उसके छूने मात्र से सवर्ण हिन्दू अपने शरीर को अशुद्ध हुआ मानते

हैं। मंदिर प्रवेश तथा धार्मिक उत्सवों में छूत का सहयोग तो दूर, वह मंदिर में रखी हुई मूर्ति का दर्शन भी नहीं कर सकता। प्रेमचंद ने इन तीनों रूढ़िवादी मान्यताओं के प्रति विद्रोह किया है, जिसका प्रमाण उनकी 'ठाकुर का कुँआ', 'घासवाली', 'दूध का दाम', 'सद्गति', 'मंदिर', 'मंत्र' तथा 'बाबा का भोग' आदि कहानियाँ है।

हिन्दी का दलित साहित्य, क्योंकि समाज में पीड़ित, उपेक्षित और दबाए-सताए गए तबकों की ओर से आ रहा है, छोटी बनाई गई अनेक अनुसूचित व पिछड़ी जातियों के अनुभवों को लेकर आ रहा है और यह साहित्य में अभिव्यक्ति की भागीदारी कर साहित्य सम्पदा को लोकतांत्रिक बना रहा है। दलित साहित्य वास्तविक प्रगतिशील साहित्य है। सन् १९३६ में प्रेमचंद ने अपने अध्यक्षीय भाषण में साहित्य के जो लक्षण बताये थे वे असल में दलित साहित्य के लक्षण हैं, उन्हें कथित जनवादी साहित्य पर आरोपित करना उनकी भूल थी।

मंदिर में प्रवेश के संबंध में प्रेमचन्द ने एक बार कहा था कि, *"उत्तर भारत में कुछ ऐसे देवता हैं जहाँ अछूत पूजारी द्वारा ही पूजा होती है। सवर्ण स्त्री-पुरूष पूरी श्रद्धा से देवता के पास जाते और उनकी आराधना करते हैं। जब अछूतों के देवता की पूजा और आराधना करने अथवा अछूतों को पूजारी स्वीकार करने में उन्हें लज्जा नहीं आती, तो मैं यह नहीं समझ पाता कि यदि ये अछूत हिन्दू मंदिरों में चले जाएंगे तो कौन सा पाप हो जाएगा।"*[1]

प्रेमचन्द कहते हैं - *"गाँव में कहीं भी जाइए चमारों या भरों की बस्ती में किसी नीम के पेड़ के नीचे मिट्टी के दस-बीस लाल हाथी इकट्ठे रखे मिलेंगे। वहाँ सीधा खड़ा त्रिशूल होगा और पेड़ पर लाल झंडी बंधी होगी। यह देवता का स्थान है जिसका पुजारी चमार, पासी या भर होगा।"*[2]

दलितों की मूलभूत समस्याएँ जैसे कि अस्पृश्यता, शोषण, असमानता, व्यथा, वेदना, अत्याचार, विद्रोह आक्रोश, उनके रहन-सहन और रीति-रिवाज आदि को उद्घाटित करने वाले साहित्य को हम 'दलित साहित्य' कह सकते हैं।

---

[1] दलित साहित्य की आवधारणा और प्रेमचंद', सदानंद शाही, पृ. १४७

[2] दलित साहित्य की आवधारणा और प्रेमचंद', सदानंद शाही, पृ. १५०-५१

"कथित बुद्धिजीवी, चक्रवर्ती, महाकवि, पंडित, तत्व चिन्तक, संत या पंथ की ऐसी अंधता और संवेदनशून्यता पूरी दुनिया में और कहीं देखने को नहीं मिलेगी। इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप दलित साहित्य का जन्म हुआ है।"[1]

हिन्दी क्षेत्र में ऐसी अनेक कहावतें प्रचलित है, जो दलितों के बारे में घृणा से भरी हुई हैं। एक कहावत प्रचलित है- *'करिया बाभन, गोर चमार, इनका संगे न उतरो पार'।* तात्पर्य यह कि काले ब्राह्मण और गोरे चमार के साथ नदी पार नहीं करना चाहिए। इस कहावत के अभिप्राय पर विचार करें तो साफ मालूम होगा कि एक स्तर पर वर्ण भेद असल में रंगभेद है। इसलिए काले ब्राह्मण और गोरे चमार को संदेह की नज़र से देखा जाता है और उन्हें अविश्वसनीय माना जाता है। यह प्रवृत्ति अन्य कहावतों में भी मिलती है।

प्रेमचंदोत्तर कहानी विशेषकर नई कहानी मूलतः मध्यवर्गीय नगरीय जीवन के यथार्थ से जुड़ी रही है। इस कहानी का संसार मानव-मानव के बनते-बिगड़ते संबंधों और उनके बदलते मूल्यों की तलाश, परंपराबोध और आधुनिकता की टकराहट, सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों से उत्पन्न मानवीय विकृतियों को भोगे हुए यथार्थ के धरातल पर चित्रित करता है। इतना होते हुए भी दलित इन कथाकारों द्वारा नज़रअंदाज़ कर दिया गया। सातवें दशक की कहानी में भी दलित चेतना को उभारने का प्रयास नहीं किया गया। हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना की अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से आठवाँ दशक महत्वपूर्ण है।

ओम प्रकाश वाल्मिकि, मोहनदास नैमिशराय आदि उनकी कुछ रचनाएँ भी पढ़ी हैं, परन्तु इस रूप में नहीं कि वह दलित साहित्य है। परन्तु उनकी प्रस्तुति में नयापन है, एक प्रकार की ताजगी है। उसमें प्रस्तुति की चतुराई नहीं, बल्कि निश्छलता है तथा साहित्य की यह धारा, साहित्य के पारंपरिक ढ़ाँचे को तोड़ रही है और एक नयी परम्परा की शुरुआत कर रही है। यह यथार्थ को एक नये ढंग से रख रही है तथा सौंदर्य के बारे में हमारी पहले से जो राय बनी हुई थी, उसमें एक नयापन ला रही है। साहित्यकारों की शैली, आवाज़ और प्रस्तुति में एक नयापन है। आने

[1] चांदनी, पएली अक्टो -१९८३, डॉ. सुरेंद्र दोषी, पृ. ४९

वाले दिनों में साहित्य की एक मुख्य धारा इसी से तैयार होगी।

अब दलित वर्ग के लेखक विभिन्न विधाओं में लिख, छप रहे हैं। प्रतिबद्धता के साथ समझौताविहीन लेखन आन्दोलन जारी है। २१ वीं सदी दलित साहित्य की होगी। दलित साहित्य के शब्द पर अधिक बहस की ज़रूरत नहीं। मुख्य मुद्दा यह है कि साहित्य में वंचित, दलित जातियों को लोकतांत्रिक भागीदारी मिले कि नहीं? किसी जाति विशेष का लेखक दूसरी जातियों के अनुभवों का सच अपनी कल्पना से नहीं ला सकता। यह तर्क नीग्रो, अश्वेत और स्त्री साहित्य के बारे में भी दिए जा सकते हैं। आप चाहें तो इसे सामाजिक न्याय की अवधारणा से जोड़ सकते हैं।

दलित साहित्य के संदर्भ में नामवर सिंह का कहना सही है कि - *"दलित लेखन दलित व्यक्ति से ही सम्भव है। जब कोई दलित साहित्यकार साहित्य में प्रवेश करता है तो उसके साथ ही उसकी दुनिया आती है, उसका परिवेश आता है। वह सबकुछ सामान्य साहित्यकार से भिन्न होता है। उसे भिन्न होना ही चाहिए.... प्रेमचन्द का साहित्य दलित साहित्य के समकक्ष रखकर देखें तो यह अंतर स्पष्ट होता है।"*[1]

डॉ. जयप्रकाश कर्दम, मोहनदास नैमिशराय, डॉ. सुशीला टाकभौरे, प्रह्लाद चन्द्र दास, डॉ. कुसुमलता, मेघवाल, डॉ. कुसुम वियोगी, डॉ. श्यौरज सिंह बेचैन और डॉ. प्रेमशंकर की कहानियाँ भारतीय समाज के इन अन्तर्सम्बन्धों को अपने-अपने तरीके से रूपायित और व्याख्यायित करती है। आज दलित समाज में भी परिवर्तन आ रहा है। यह परिवर्तन सकारात्मक भी है और नकारात्मक भी है।

इन समस्त कथाकारों की कहानियों में स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तनों की आहटें दर्ज हैं। जैसे भारतीय समाज में दलितोद्धार और दलित समता का जोर से डंका पीटा जा रहा है।

---

[1] हंस - ६२/९५

हिन्दी उपन्यासों का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ था। हिन्दी का पहला उपन्यास 'परीक्षा गुरु' सन् १८८२ के लगभग लिखा गया था। इसके लेखक श्रीनिवासदास थे। देवकीनन्दन खत्री का प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' सन् १८९० में प्रकाशित हुआ। गोपालराम गहमरी और कार्तिकप्रसाद खत्री ने इसी समय के आसपास बंग्ला की छाया लेकर कई उपन्यास रिखे। सन् १८९८ में किशोलीलाल गोस्वामी ने 'उपन्यास' नामक मासिक पत्र प्रकाशित किया जिसमें गोस्वामीजी के प्रायः ६५ उपन्यास छपे थे। दूसरी भाषाओं के छायानुवाद भी इन मासिक पत्रों में छापे जाते थे। अंग्रेज़ी, बंग्ला तथा अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यास हिन्दी में रूपान्तरित होने लगे और साथ ही हिन्दी के मौलिक उपन्यासों की संख्या भी बढ़ने लगी। बंग्ला से भी कुछ अच्छी कृतियाँ, अनुवाद होकर आई जिनमें 'स्वर्णलता', 'दुर्गेशनंदनी', 'वंश विजेता', 'विरजा', 'दीप निर्वाण', 'युगलांगुरीय', 'कृष्णकान्त का दानपत्र', आदि उल्लेखनीय हैं। आगे चलकर हिन्दी उपन्यास के स्वरूप में स्थिरता आई और उसकी निश्चित रूपरेखा निर्धारित हुई।

सन् १८८२ से लेकर सन् १९१५ तक हिन्दी उपन्यास का आरम्भिक और संक्रान्तिकाल रहा है। इस काल के प्रतिनिधि उपन्यास-लेखकों में देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गौस्वामी और ब्रजनंदन सहाय के नाम उल्लेखनीय हैं।

उपन्यासों के इस निर्माण और अनुवाद के आरम्भिक युग को पार करते ही हम हिन्दी उपन्यासों के उस नए युग में पहुँचते हैं जिसका शिलान्यास प्रेमचन्द ने किया और जिसमें आकर हिन्दी उपन्यास एक सुनिश्चित कला-स्वरूप को प्राप्त कर अपनी आत्मा को पहचान सका तथा अपने उद्देश्य से परिचित होकर उसकी पूर्ति में लग सका।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में सबसे प्रमुख विशेषता है उनकी आदर्शवादिता। चरित्रों और उनकी प्रवृत्तियों का निर्देश करने में वे आदर्शोन्मुखी हैं। घटनावली का निर्माण और उपसंहार करने में आदर्श का सदैव ध्यान रखते हैं। उनकी दूसरी विशेषता उनकी ध्येयोन्मुखता है। उन्होंने प्रत्येक स्थान में जो सामाजिक या राजनीतिक प्रश्न उठाए हैं, उनका निर्णय भी हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। निर्णय का निरूपण करने के कारण प्रेमचन्द लक्ष्यवादी हैं और चरित्र तथा कथा के

स्वरूप-निर्माण में वह आदर्शवादी हैं। 'सेवासदन' में सुमन के चरित्र का सुधार कर प्रेमचन्द एक आश्रम की प्रतिष्ठा करते और उसके जीवन का उज्ज्वल अध्याय आरम्भ करते हैं। 'प्रेमाश्रम' में वह वस्तु और भी स्थूल बनकर आई है। 'प्रेमाश्रम' में आदर्श ग्राम की सृष्टि उपन्यास के उत्तरार्ध में की गई है। यह प्रेमचन्द का ध्येयवाद या उद्देश्यवाद है।

प्रेमचन्द के चरित्र वर्गगत, जातिगत या प्रतीकात्मक होते हैं। ज़मींदार, किसान आदि में अपने वर्ग की साधारण विशेषताओं का आरोप रहता है।

'प्रेमाश्रम' के पश्चात् प्रेमचंद का 'रंगभूमि' नामक उपन्यास हिन्दी में आया। इसका क्षेत्र 'प्रेमाश्रम' से भी व्यापक था। इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, नागरिक, ग्रामीण के साथ विभिन्न वर्गों और स्थितियों की योजना एवं गाँव तथा नगरों के परिवारों का वर्णन किया गया। इसके लिखे जाने के समय गाँधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन पराकाष्ठा पर था। गाँधीजी के सामाजिक, राजनीतिक तथा आदर्शमूलक विचारों से यह उपन्यास प्रभावित है।

'रंगभूमि' गांधीवादी उपन्यास इसलिए कहा जाता है कि यह गाँधीजी की राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित है। 'रंगभूमि' प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का एक विकसित सोपान है। गाँधीवाद का प्रभाव साहित्य या जीवन पर जैसा भी कुछ पड़ा वह रंगभूमि में दिखाई पड़ता है। चरित्रों की विविधता, बहुलता और तत्कालीन जीवन की व्यापकता का चित्रण 'रंगभूमि' की अपनी विशेषता है।

'रंगभूमि' के पश्चात् आने वाले 'गबन' नामक उपन्यास से प्रेमचन्द के साहित्यिक विकास का दूसरा सोपान आरम्भ होता है। यह उनके औपन्यासिक विकास की प्रौढ़ता का परिचायक है। परिस्थितियों का पात्रों पर और पात्रों का परिस्थितियों पर कैसा स्वाभाविक प्रभाव पड़ता है और वे एक-दूसरे से अविच्छिन्न रहकर किस प्रकार विकसित होते हैं, इसका सुन्दर निरूपण इस उपन्यास में है।

'गबन' में एक छोटे से मनोवैज्ञानिक प्रशन को लेकर ही सम्पूर्ण जीवन-झाँकी दिखलाई गई है। आभूषणों के प्रति नारी का प्रेम और वास्तविक स्थिति को छिपाने की पुरुष की प्रवृत्ति ही उपन्यास की मुख्य प्रेरणाभूमि है। सारा कथानक इसी प्रश्न से सम्बन्धित है।

इसी बीच 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' नामक दो उपन्यास प्रेमचन्द ने लिखे। 'कायाकल्प' भारतवर्ष के आध्यात्मिक उत्कर्ष, योगियों के अलौकिक कार्यों आदि के आधार पर बना है। इस उपन्यास को प्रेमचन्द की सामान्य उपन्यास-धारा से अलग टूटी हुई एक स्वतंत्र कृति मानना पड़ता है। यद्यपि सामाजिक चित्रण और समस्याएँ इसमें भी है, पर इसमें अलौकिक चमत्कारों की योजना एक नवीन वस्तु है जो प्रेमचन्द की सामान्य प्रवृत्तियों से मेल नहीं खाती।

'कर्मभूमि' उपन्यास सन् १९३२-३३ के लगभग लिखा गया। इसमें प्रेमचन्द फिर सामाजिक व राजनीतिक जीवन को अपना विषय बनाते हैं। इसमें न तो 'रंगभूमि' जैसी आदर्शवादिता है और न 'गबन' जैसी विषय की एकाग्रता और समाहार है। परन्तु यह एक बड़ी कृति है जो सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को नए रूप में रखती है। 'कर्मभूमि' में सामान्य जीवन की धारा व वास्तविकता अधिक है, गाँधीवादी प्रभाव कम है।

'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' प्रेमचन्द के दो छोटे उपन्यास हैं जिनमें कोई असाधारण विशेष योजना नहीं है, परन्तु प्रेमचन्द की अधिकारपूर्ण लेखनी की झलक इनमें भी देखी जाती है।

प्रेमचन्द के अन्तिम उपन्यास 'गोदान' के सम्बन्ध में यह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है कि उसे आदर्शवादी किस आधार पर कहें। गोदान में प्रेमचन्द ने ग्रामीण जीवन का सर्वतोमुखी चित्रण किया है और किसान की विवशतापूर्ण स्थिति को दिखाकर उपन्यास की समाप्ति की है। गोदान में समस्या के निर्णय का कोई प्रश्न नहीं है, दूसरे शब्दों में उसमें प्रेमचन्द की ध्येयवादिता प्रत्यक्ष होकर नहीं आई। परन्तु चरित्र-निर्माण और कथानक के विकास-क्रम में प्रेमचन्द भारतीय किसान के आदर्श स्वरूप को भूले नहीं है। उपन्यास का नायक होरी सारी बाधाओं और संकटों के होते हुए भी मूल आदर्श का विस्मरण नहीं कर सका। वह अन्ततः आदर्शवादी है।

स्वतंत्र भारत के संविधान को लागू हुए आधी सदी गुजर चुकी है। लेकिन आज भी भारत में बसने वाले सैकड़ों जनजातीय समूहो के दलितों की अपनी संवैधानिक पहचान तक नहीं है। उनकी समस्याओं का निराकरण तो बहुत दूर है, उनका संवैधानिक अस्तित्व तक नहीं है। उनके लिए आज भी स्वतंत्र भारत के 'संविधान की सुरक्षा और सामाजिक न्याय' नहीं अपितु सामाजिक अन्याय किया है। इसका कारण है बुद्धिजीवियों, नीति निर्धारकों तथा व्यवस्थापकों द्वारा अनुसूचित जनजातीय समाजों या समुदायों को समजातिय (Homogeneous) समझना निहित स्वार्थों तथा इन समाजों, समुदायों के प्रभू जातियों एवं शोषकों के द्वार अ.ज.जा. समाजों को समजातिय एवं Monolithic प्रस्तुत करना। जो आदिम जनजातियों के संदर्भ में तो ठीक और उचित हो सकता है, लेकिन गैर आदिम जनजातियों के संदर्भ में इस व्यवहार ने अनर्थ और अन्याय किये है। इन गैर आदिम जनजातियों में हिन्दू समाज की तरह ही जाति प्रथा प्रचलित है और छुआ-छूत, असमानता और शोषण भी उसी तरह रहा है। लेकिन संविधान के लागू होने के बाद जहाँ हिन्दू समाज के दलितों को समाजिक न्याय के नाम पर कुछ संवैधानिक सुरक्षा तथा सुविधाएँ मिली वहीं जनजातियों दलितों या अछूतों को समाज के प्रभू वर्गों के समकक्ष बनाकर उनके साथ सामाजिक अन्याय किया गया। कारणवश आज उनकी दशा तुलनात्मक दृष्टि में पहले से बदतर हो चुकी है। महत्वपूर्ण बात यह है कि आज देश के संविधान को लागू हुए ५५ वर्ष बीत चुके हैं, लेकिन इन जनजातिय दलितों का अपना न कोई अलग अस्तित्व है और न ही कोई अलग पहचान है।

आरक्षण और विशेष सुविधाओं तथा प्रस्थिति जैसे सामाजिक न्याय के औज़ारों के औचित्य को सिद्ध करने के लिए तर्क के रूप में कहा जाता है कि इन व्यक्तियों, समूहों, समुदायों या वर्गों के साथ समाज के विशेषाधिकारयुक्त तथा शक्तिसम्पन्न वर्गों ने सदियों से अन्याय और असमानता का व्यवहार तथा इनका शोषण किया है। जिसके पश्चाताप स्वरूप सामाजिक न्याय के लिए आरक्षण तथा विशेष दर्जे का दिया जाना आवश्यक था और है। तो भला सामाजिक न्याय इन समूहों, समुदायों या वर्गों के अंदर भी लागू क्यों न हो? इन व्यक्तियों, समूहों या वर्गों में भी आज कुछ लोग आरक्षण तथा अन्य सुविधाओं का लाभ उठाकर उन सीमाओं को पार कर चुके हैं,

जो कि इस प्रकार की सुविधा का आधार बनाई गई थी, उनमें और उन व्यक्तियों समूहों तथा वर्गों में अन्तर किया जाना अति आवश्यक है जो संविधान लागू होने से पहले भी पिछड़े दलित और शोषित थे और आज भी उसी स्थान पर है।

अन्त में मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि आज आवश्यकता है, इस देश को एक बार फिर सामाजिक न्याय के आधार निर्धारित करने की। हम सभी को राष्ट्र, इन्हीं व्यक्तियों, समूहों, समुदायों, वर्गों तथा समाजों के वृहद हित में, एक बार फिर सामाजिक न्याय की नीति, संरचना और लागू करने की प्रक्रिया तथा तरीकों पर पुनर्विचार करने की। ईमानदारी से सामाजिक न्याय को लागू करने की, जिस में पूरे देश में बसने वाले हर धर्म तथा कौमें भी शामिल हों। आरक्षित वर्गों को भी अपने अन्दर सामाजिक न्याय के सिद्धान्त को लागू करने की जरूरत है।

इस आंदोलन का महत्वपूर्ण पड़ाव तब आया जब ३० नवंबर २००३ को गाँव प्रगाणू (भुन्तर) जिला कुल्लू में, हि.प्र. के जनजातिय दलितों की एक बैठक सम्पन्न हुई। इस बैठक में निर्णय लिया गया कि राष्ट्रीय स्तर पर एक औपचारिक मंच का गठन किया जाये। जिसकी अगली कडी के रूप में शिव भूमि चम्बा के प्रशासन तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं विशेषकर श्री किसनलाल के मार्गदर्शन एवं सहयोग से चम्बा में 'जनजातिय दलित संघ' की स्थापना एवं पंजीकरण किया गया। इस संघ के उद्देश्य हैं -

१. संपूर्ण भारत के जनजातिय दलितों को संगठित करना
२. जनजातीय दलितों को विशेष संबैधानिक दर्जा दिलवाना।
३. उनको, उनके अधिकारों तथा कर्तव्यों के बारे में जागृत करना।
४. उन का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सास्कृतिक तथा शैक्षणिक विकास करना।
५. उनके हितों की रक्षा करना तथा कल्याण के कार्य करना।

2.8. दलित साहित्य आंदोलन का उद्भव और विकास

शिक्षा के महत्व को समझकर डॉ. अम्बेडकर ने सन् १९४५ में मुंबई में 'पीपुल्स एज्युकेशन सोसाइटी' की स्थापना की, जिसके अंतर्गत मुंबई में 'सिद्धार्थ' कालेज और और औरंगाबाद में 'मिलिंद' कालेज की स्थापना हुई है। ये दोनों ही शिक्षा संस्थान डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा को आगे बढ़ाने वाले दो महत्वपूर्ण केंद्र बन गए। डॉ. अम्बेडकर की मृत्यु के बाद दलित मुक्ति आंदोलन की बागडोर इन शिक्षा केंद्रों में शिक्षित दलित युवकों ने संभाली।

सन् १९६६ में 'सिद्धार्थ साहित्य संघ' नामक साहित्य संस्था की स्थापना हुई जो बाद में बदल कर महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ हो गया। इस संघ की स्थापना के बाद दलित साहित्य के सृजन और उसके प्रकाशन में तीव्रता आई। ये रचनाएँ रिपब्लिकन पार्टी द्वारा प्रकाशित 'जनता', 'प्रबुद्ध भारत', 'बहिष्कृत भारत', 'मूकनायक' आदि समाचार पत्रों तथा अन्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी। इस पृष्ठभूमि में 'महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ' ने दलित लेखकों का प्रथम सम्मेलन २ मार्च १९५८ को मोरबाग, दादर मुंबई में बंगाली हाईस्कूल के हॉल में आयोजित किया। इसके अंतर्गत ही 'दलित वर्गातील वाङमयाचा दृष्टिकोण काय असावा? (दलित साहित्य की दृष्टि क्या होनी चाहिए?) विषय पर एक निबंध प्रतियोगिता भी आयोजित की गई थी।

दलित साहित्य सम्मेलन की आवश्यकता के बारे में बन्धुमाधव ने प्रबुद्ध भारत में लिखा - जिस प्रकार लेनिन के क्रांतिकारी विचारों का रूसी लेखकों ने अपनी रचनाओं द्वारा प्रचार करके रशियन क्रांति की मदद की थी, उसी प्रकार डॉ. अम्बेडकर के प्रचारों को गाँव-गाँव तक पहुँचाने का कार्य दलित साहित्यकारों का है।

इस सम्मेलन के अवसर पर 'प्रबुद्ध भारत' का विशेषांक निकला। इसके संपादकीय लेख में दलित साहित्य की व्याख्या इस प्रकार की गई इस विषम समाज व्यवस्था के विरुद्ध दलित समाज का संघर्ष निरंतर चलता रहेगा और इस संघर्ष का इतिहास ही दलित साहित्य होगा। इस सम्मेलन में यह माँग की गई थी कि दलित साहित्य को मराठी भाषा तथा साहित्य में, साहित्य के एक प्रभाग के रूप में सम्मिलित किया जाए। इस साहित्य के सांस्कृतिक महत्व को समझकर साहित्य संघ और

विश्वविद्यालयों द्वारा उचित सम्मान दिया जाए।

दलित लेखकों के इस प्रथम सम्मेलन से दलित साहित्य के आंदोलन को एक ठोस आधार मिला। इस सम्मेलन की चर्चा दैनिक मराठा समाचारपत्र के अतिरिक्त और किसी भी समाचार पत्र ने नहीं की। इस सम्मेलन में भाग लेने वाले महत्वपूर्ण लेखक थे - घनश्याम, कॉ. आर. बी. मोरे, दिनेश लखमापूरकर, टी.पी. अडसूल, राम उपशाम, जनार्दन बाघमारे, अण्णा रणपिसे, दादा रूपवते, मन्धुमाधव, भाई नरेन्द्र मोरे, चोखा कांबले, म. दु. ताम्हेणेकर, यादवराव गागुर्डे तथा डी. वाय कांबले। ये लेखक रिपब्लिकन पार्टी से संबंधित थे या उसके कार्यकर्ता थे।

डॉ. अम्बेडकर की मृत्यु के बाद रिपब्लिकन पार्टी में फूट पड़ गई और वह दो हिस्सों में विभाजित हो गई। इस विभाजन से महाराष्ट्र दलित साहित्य संघ भी दो टुकड़ों में बँट गया जिसमें एक थी 'महाराष्ट्र की बौद्ध परिषद' और दूसरी 'महाराष्ट्र बौद्ध साहित्य सभा'। इन दोनों साहित्यिक संस्थाओं का दलित साहित्य आंदोलन को आगे ले जाने में बड़ा योगदान रहा है। इस समय जो दलित लेखक दलित जीवन की व्यथा को अपनी कृतियों के माध्यम से व्यक्त कर रहे थे उनमें प्रमुख थे अण्णाभाऊ साठे, शंकरराव खरात और बाबूराव बागुल। बाबूराव बागुल की कहानियाँ दलितों की वेदना की अभिव्यक्ति के द्वारा विषम समाज व्यवस्था के विरुद्ध एक विद्रोही के रूप में जूझ रही थी।' 'विद्रोहाच्या कविता' शीर्षक का इनका १५ कविताओं का एक संकलन इसी समय प्रकाशित हुआ था जो सायक्लोस्टाईल कापी के रूप में था। अस्पृश्यता के दाहक अनुभवों से दग्ध जीवन की अभिव्यक्ति इसमें मिलती है। उनकी एक कविता यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत है - यहाँ (इस देश में) जन्म लेने की भूल जिन्होंने की है वे ही इसे सुधारेंगे देश त्याग करके या भीषण युद्ध करके।'

बाबूराव द्वारा प्रयुक्त इस शैली को अन्य दलित जीवन को चित्रित करने के लिए मराठी ललित साहित्य के समीक्षा के मनदंडों से निर्मित चित्र फलक छोटा पड़ रहा था। उन समीक्षा मानदण्डों से केवल मराठी के परंपरागत ललित साहित्य का ही मूल्यांकन हो सकता था। दलित साहित्य के मूल्यांकन के लिए वे सक्षम नहीं थे। अतः दलित साहित्य की समीक्षा के

लिए मराठी समीक्षा को अपने मानदण्ड बदलने पड़े हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने दलितों में शिक्षा के महत्व के प्रति जागृत चेतना को मूर्त रूप देने हेतु औरंगाबाद शहर में मिलिंद महाविद्यालय की स्थापना की थी। यहाँ पर महाराष्ट्र के कोने-कोने से दलित विद्यार्थी शिक्षाग्रहण करने आने लगे। यही 'नागसेनवन' में स्थित मिलिंद महाविद्यालय और औरंगाबाद, दलित साहित्य आंदोलन का केन्द्र बन गए। यहीं से दलित साहित्य का आंदोलन अपना रूप गढ़ रहा था। शिक्षित सुसंस्कृत दलित युवकों के मन में अपने जीवन के अनुभवों को शब्दांकित करने की इच्छा जाग उठी थी। परिणामतः कहानी, कविताएँ लिखी जा रही थी। परंतु प्रश्न था उनके प्रकाशन का। क्योंकि रचनाकार और उनके विषय तथा आशय दलित जीवन से संबंधित थे। लेखक की रचना को प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त न हुआ तो उसे मर्मान्तिक यातनाएँ होती है। परंतु लेखन शक्ति को इस तरह दबाकर नहीं रखा जा सकता । पत्थर को तोड़कर पानी का स्त्रोत मैदान की ओर बहने के लिए जिस प्रकार व्याकुल रहता है उसी प्रकार की व्याकुलता रचनाकार में भी होती है। डॉ.म.ना. वानखेडे उससमय मिलिंद विश्वविद्यालय के प्रिंसीपल थे, छात्रों की इस छटपटाहट को वे महसूस कर रहे थे। वे लिखते हैं - "इस व्यग्रता को देखकर मैंने मेरे सहयोगियों की सहायता से दलितों के सांस्कृतिक और शिक्षा के केंद्र में 'दलित साहित्य मंच' की स्थापना का निश्चय किया। मराठी साहित्य क्षेत्र में विशिष्ट वर्ग का वर्चस्व होने एवं फार्म संबंधी गलत दृष्टिकोण के कारण दलित जीवन इससे पहले कभी भी साहित्यिक विषय नहीं बन सका। इस तरह का अन्याय न केवल समाज के साथ है बल्कि साहित्य के साथ भी है। इस बात की गंभीरता को देखकर हमने सन् १९६७ में 'मिलिंद साहित्य सभा' की स्थापना की। जिसके अंतर्गत 'अस्मिता' पत्रिका का प्रारम्भ हुआ। 'मिलिंद साहित्य सभा', 'अस्मिता', 'अस्मितादर्श' और दलित साहित्य के आंदोलन का जन्म डॉ. अम्बेडकर की विचारधारा से प्राप्त प्रेरणा और लेखकों में जागृत सामाजक दायित्व के अहसास से हुआ है।

दलित साहित्य आंदोलन को निश्चित दिशा देने और उसका विकास करने में अस्मितादर्श त्रैमासिक पत्रिका का बहुत बड़ा योगदान रहा है। बाबूराव बागुल, दया पवार, अर्जुन डांगले, वामन

निंबालकर, नामदेव ढसाल, केशव मेश्राम, वामन इंगले, ज.वि. पवार यशवंत मनोहर, शंकरराव खरात, कुमद पावडे, ज्योति लांजेवार, लक्ष्मण गायकवाड, लक्ष्मण माने, अमिताभ आदि दलित लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित करके 'अस्मितादर्श' पत्रिका साहित्यिक दायित्व के साथ-साथ सामाजक दायित्व को निभा रही है।

दलित साहित्य आंदोलन और दलित मुक्ति आंदोलन एक दूसरे के पर्याय के रूप में जन्में आंदोलन है। दलित मुक्ति आंदोलन जो सामाजिक स्तर पर सक्रिय था उससे प्रेरणा इसी चेतना की अगली कड़ी है 'दलित पैंथर आंदोलन'।

2.9. दलित साहित्य आंदोलन में दलित पैंथर की भूमिका

दलित पैंथर संगठन दलित मुक्ति संग्राम का एक जुझारु दस्ता है, जिसकी प्रमुख भूमिका राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में देखी जा सकती है। इस संगठन से अनेक दलित लेखक भी जुडे हुए हैं। इसका उदय अत्यंत विषमतापूर्ण सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में हुआ। गाँवों में अमीर किसानों और शासन व्यवस्था ने दलितों पर अत्याचारों का सिलसिला शुरु कर रखा था। दलित कभी अस्पृश्य होने के नाते तो कभी भूमिहीन किसान के नाते विभिन्न अत्याचारों का शिकार होते। शहरों में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण बेरोजगार युवा वर्ग साधन-हीनता के कारण हीन भावना से ग्रस्त था। और दिशाहीन होकर भटकाव की स्थिति में पहँच गया था। गाँवों और शहरों में शिक्षित दलितों युवकों की संख्या बढ़ रही थी।

ग्रामीण क्षेत्रों में सक्रिय वामपंथी आंदोलन से परिचित इन युवकों ने तत्कालीन समाज व्यवस्था के विषमतावादी स्वरूप के खिलाफ आवाज़ उठाई। बढ़ते हुए सामाजिक अन्याय, अत्याचारों की पृष्ठभूमि में रिपब्लिकन पार्टी की निष्क्रियता युवा मन को क्षुब्ध कर रही थी। दलित युवक यह समझने लगे थे कि इस बढ़ते हुए अन्याय के खिलाफ केवल साहित्य आंदोलन कारगर नहीं हो सकता। उन्हें साहित्यिक आंदोलन के साथ सामाजिक आंदोलन की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। इसी समय सिद्धार्थ कालेज के छात्रवासों में रहने वाले दलित और अदलित युवकों के संयुक्त सहकार्य से 'युवक आघाड़ी' की स्थापना हुई जिसमें दया पवार, अर्जुन डांगले, नामदेव ढसाल, ज.वि.पवार, प्रह्लाद चेंदवणकर, राजा ढाले आदि दलित प्रमुख दलित युवा रचनाकार भी शामिल थे। ये सभी युवा रचनाकार अमरीका के अश्वेत साहित्य और अश्वेत क्रांतिकारी (मुक्ति) आंदोलन से परिचित हो गए थे।

इसी आंदोलन से (जो अमरीका में ब्लैक पैंथर नाम से जाना जाता था) प्रेरणा लेकर इन युवकों ने ९ जुलाई १९७२ को 'दलित पैंथर' की स्थापना की। दलित पैंथर ने दलितों पर हो रहे अत्याचारों के निषेधार्थ उस वर्ष के स्वतंत्रता दिवस को 'काला दिवस' के रूप में मनाया और काले झंडों के साथ दलित पैंथर ने शहर में मोर्चा निकाला। दलित पैंथर और दलित साहित्य का संबंध

बहुत गहरा है। प्रो. मोईन साकीर के अनुसार : 'इस बात पर गौर करना चाहिए कि दलित साहित्य और दलित पैंथर आंदोलन का संबंध बहुत गहरा है। वास्तव में विद्रोह की अभिव्यक्ति और क्रांति के जोश का अहसास साहित्य के माध्यम से ही विकसित हुआ है।'

मोईन शाकीर के कथनानुसार और अन्य तथ्यों को देखते हुए यह कहना तर्कसंगत होगा कि दलित साहित्य आंदोलन की प्रेरणा से ही 'दलित पैंथर' की उत्पत्ति हुई है।

2.10. दलित साहित्य : दर्शन एवं धर्म

आज के दलित साहित्य की मूल प्रेरणा आंबेडकरवाद है। अतः दलित साहित्य के पूर्ण विश्लेषण-मूल्यांकन के लिए आंबेडकर के दर्शन से परिचित होना आवश्यक है।

हिन्दी दलित साहित्य का ही नहीं, पूरे भारतीय भाषाओं के दलित साहित्य का मूल प्रेरणा स्त्रोत अम्बेडकर का दर्शन है, जो कई हज़ार वर्षों की यातना और पीड़ा से उपजा है। दर्शन भी ऐसा कि जिसके एहसास मात्र से धर्म, ईश्वर, समाज, इतिहास और संस्कृति के प्रतिष्ठानों पर तरस आए और भारतीय सभ्यता और संस्कृति से वितृष्णा हो जाए।

प्रथम किसी महान विभूति की मूर्ति सामाजिक चेतना की प्रतीक होती है। इसमें उनके दर्शन को आगे बढ़ाना और विचारों का प्रचार-प्रसार एवं तदनुरूप आदर्श ग्रहण करना तथा उस महान विभूति के प्रति श्रद्धा प्रकट करना प्राथमिक कार्य है। बुद्धि संगतता का प्रमुख स्थान होता है। दूसरी ओर देव मूर्ति धार्मिक आस्था का प्रतीक होती है। धार्मिक पहचान एवं प्रतीक प्रमुख और दर्शन गौण होता जाता है। तर्क संगतता को कोई स्थान नहीं होता। आस्था और भक्ति एवं फल का विशेष महत्व होता है। दर्शन तर्क और सामाजिक चेतना पर आस्था हावी होती जाती है। दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष सामने आता है और वैचारिक धरातल रसातल में धंस जाता है तथा पारलौकिक एवं लौकिक सुख कामना साध्य बन जाता है तथा भक्ति उसका प्रकाश पथ।

डॉ. अम्बेडकर का जीवन काल सन् १८९१ से १९५६ तक अर्थात् ६५ वर्षों का है। विश्व के राजनीतिक तत्वज्ञान तथा राजनीतिक गतिविधियों की दृष्टि से यह कालखंड महत्वपूर्ण है। डॉ. अम्बेडकर केवल एक दार्शनिक नहीं थे, अनेक सामाजिक, राजनीतिक एवं सास्कृतिक आन्दोलनों का भी उन्होंने प्रवर्तन किया। उनके जीवन का बहुत सा समय उन आन्दोलनों में दलितों के एकमात्र नेता के रूप में व्यतीत हुआ। अतएव वह अपने तत्वज्ञान को सूत्रबद्ध करके किसी एक वाद अथवा चिंतन परंपरा के रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाए। उन्होंने कभी एसा आग्रह भी नहीं किया कि उनके विचारों को अम्बेडकरवाद नाम दिया जाए।

बाबा साहब के जीवन काल में भारतीय समाज को प्रभावित करने वाली चार प्रमुख विचार प्रणालियाँ सक्रिय थीं - हिन्दुत्ववाद, गाँधीवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद (गांधीवाद और मार्क्सवाद का समन्वय)।

बहुजन समाज के लिए सभी मानवीय अधिकारों एवं मूल्यों की प्राप्ति के उद्धेश्य से अम्बेडकर ने एक नया दर्शन प्रदान किया। यह नया दर्शन उनके द्वारा लिखित (The Buddha and His Dhamma) में विकसित हुआ है। बुद्ध और उनके धम्म (धर्म नहीं) का अम्बेडकर कृत विश्लेषण उनके विद्रोह का प्रमाण हैं।

डॉ. अम्बेडकर की यह मान्यता थी कि सामाजिक राजनैतिक क्रान्ति के लिये पहले धार्मिक क्रान्ति होना अनिवार्य है। सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक क्रान्ति के लिये धर्म की समीक्षा होना अनिवार्य है। यही बात हमें महान जोतिवा फूले के साहित्य चिन्तन में दिखायी देती है। फूले ने आन्दोलन की बुनियाद को ब्राह्मण धर्म की समीक्षा से ही शुरू किया है। अम्बेडकर ने अपने प्रसिद्ध खोजपूर्ण ग्रंथ 'who were the shudras?' १९४६ में प्रकाशित प्रथम संस्करण को ज्योतिबा फूले की स्मृति को समर्पित करते हुए लिखा है कि, *"The greatest shudra of modern India who made the lower classes of Hindus conscious of their slavery to the higher classes and who preached the gospel that for India social democracy was more vital than independence from foreign rule."*[12] इस समर्पण में डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में महान ज्योतिबा फूले की महानता और क्रान्तिकारकता किसमें है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।

दलित साहित्य-धर्म को कर्दम जी के शब्दों में यदि कहा जाए तो *"दलित एक व्यापक समुदाय है जो हिन्दुओं में भी है, सिखों, मुसलमानों और ईसाईयों में भी है। वह हर जगह असमानता, अलगाव और शोषण का शिकार है। यह बात अलग है कि भिन्न-भिन्न धर्मों में उसके शोषण की*

[1] 'चिन्तन की परंपरा और दलित साहित्य', सं. श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे, पृ. १९५

डिग्रियाँ अगल-अलग रही हैं। हिन्दू धर्म में उसके शोषण की डिग्री सब से उच्च रही है। इसलिए इन धर्मों के साथ सम्बद्ध होने या माने जाने के बावजूद भी, वह बहुत गहरे तक इन धर्मों से जुड़ा नहीं है। अपने तथाकथित सहधर्मियों से मिली घृणा, अपमान और उपेक्षा के कारण इन धर्मों की मान्यता, विश्वास और उनके सिद्धांतों से कम या ज्यादा उसका मन उचाट है। समता और स्वतंत्रता के आकांक्षी इस वर्ग में आज नयी चेतना का संचार हो रही है और वह चेतना उसको 'धर्मों' के शोषण से मुक्ति की ओर ले जा रही है। हिन्दू, इस्लाम, सिख या ईसाई इन सभी धर्मों में दलित हीनता के बोझ से दबे हैं। हिन्दू धर्म में दलितों का सर्वाधिक शोषण हुआ है इसलिए हिन्दू दलित सर्वाधिक हीनता का शिकार रहा है।"[1]

धर्म के संदर्भ में कर्दम की मान्यता है कि, *"धर्म जीवन का आधार है। वह व्यक्ति को अनुशासित और नियंत्रित रखता है। अनुशासन के अभाव में व्यक्ति उच्छृंखल और अराजक हो सकता है। धर्म ही है जो व्यक्ति को उच्छृंखल, अराजक और हिंसक होने से रोकता है तथा उसे शाँति, सद्‌भाव और संयम की सीख देता है। धर्म अंधे की लकड़ी हैं। वह व्यक्ति का सम्बल और शक्ति है, इसलिए व्यक्ति के लिए धर्म का होना अनिवार्य है।"*[2]

और आगे वे कहते हैं कि धर्म व्यक्ति के जीवन के उत्थान और विकास का एक साधन है। वह व्यक्ति को असत्य से सत्य की ओर, हिंसा से अहिंसा की ओर, विषमता से समता की ओर, शत्रुता से मित्रता की ओर, घृणा से प्रेम की ओर, अहंकार से सौम्यता की ओर, तथा अशुभ से शुभ की ओर यानी असद् से सद् की ओर ले जाता है। 'सद्' का होना, धर्म की अनिवार्य शर्त है।

धर्म के नाम पर दलितों को बहुत दला और छला गया है। भाग्य और भगवान इसका प्रमुख आधार रहा है। एक सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान सत्ता (ईश्वर, अल्लाह, ओंकार) का अस्तित्व

---

[1] 'चिन्तन की परंपरा और दलित साहित्य', सं. श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे, पृ. ३०

[2] 'चिन्तन की परंपरा और दलित साहित्य', सं. श्यौराज सिंह बेचैन, देवेन्द्र चौबे, पृ. ३०

हिन्दू, इस्लाम, सिख और ईसाई समस्त धर्मों में स्वाकार किया गया है। इन धर्मों की मान्यता के अनुसार यह सर्वोच्च सत्ता जगत् की नियामक शक्ति है तथा उसकी उत्पत्ति और विनाश का कारण भी। दुनिया में सब कुछ उसकी इच्छा और आदेश से होता है। प्रत्येक कार्य के मूल में वह है। मनुष्य निमित्त मात्र है। कर्म और कर्म-फल भी इसी सत्ता से जुडे हैं।

इस प्रकार उन्होंने दलित समाज में धीरे-धीरे घुसकर सफल पैठ बनाना प्रारंभ कर दिया और अन्दर घुसकर अपने उद्देश्य की पूर्ति में जुट गये। अब बहुधा यह भ्रामक तर्क भी दिया जाने लगा कि डॉ. अम्बेडकर एक सच्चे हिन्दू थे जो कालाराम मंदिर प्रवेश और चवदार तालाब पर जल हेतु संघर्ष करते रहे। हालांकि यह कोरे बुद्धिवाद का ही परिणाम है और मिथकों पर आधारित है। इसमें तथ्यों और उद्देश्यों को दक्ष बुद्धि व्यायाम द्वारा तोड़ मरोड़ कर प्रस्तत किया गया है। वस्तुतः यह भी डॉ. अम्बेडकर का दलित स्वतंत्रता और अस्मिता निहितार्थ आन्दोलन था।

उपर्युक्त परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर दलितों को अपनी अस्मिता की रक्षार्थ आसन्न नये खतरों से सावधान रहना चाहिये। क्योंकि डॉ. अम्बेडकर के मन्दिरीकरण पर सवर्णों द्वारा भारी जोर दिये जाने से ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यमान परिस्थितियों के चलते वह दिन भी दूर नहीं है।

उन्होंने अपनी पुस्तक डॉ. अम्बेडकर और बुद्धिज्म की भूमिका में अभिव्यक्त किया है - *"इस समय भारत में १० करोड़ से भी अधिक अछूत रहते हैं। इनमें से अधिकांश प्रत्येक क्षेत्र में अधिकार वंचित है। इनमें से प्रत्येक वर्ष ४००-५०० अछूत उनके अपने देशवासी हिन्दुओं द्वारा मार दिये जाते हैं जबकि इसके अतिरिक्त हजारों के साथ लूटपाट, आगजनी, बलात्कार होता है, वे पीटे जाते हैं, उनका उत्पीड़न किया जाता है और उनके घर जला दिये जाते हैं। उनमें से अनगिनत न केवल सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक विभेद के शिकार हैं अपितु नित्यप्रति उत्पीड़न और दमन का भी शिकार हेते है।"*[1]

---

[1] 'डॉ. अम्बेडकर और बुद्धिज्म की भूमिका'

इसी तथ्य को 'युद्धरत आम आदमी' की सम्पादक रमणिका गुप्ता दलित साहित्य एक जिन्दा साहित्य में लिखती है - *"जब तक हिन्दी मानस और हिन्दूत्व से मुक्त नहीं होता, द्विजता से निजात नहीं पाता, श्रेष्ठता और उच्च कुल की ग्रन्थि को नहीं त्यागता, शुचिता, पवित्रता और श्रेष्ठता के नाम पर उत्पीड़न-शोषण और भेदभाव मूलक संस्कृति को गौरवान्वित करना नहीं छोड़ता, तब तक दलित साहित्य को आत्मसात करना, उसके लिए संभव नहीं है।"*[1]

बौद्ध साहित्य में तो क्षेपक जोड़कर उसकी मूल शिक्षा और भावना को ही विकृत कर दिया। कबीर, रैदास, मीरा, दादू और नानक, घीसा, पीपा, ओछन्ना, पोछन्ना, अछूतानन्द की क्रांतिकारी वाणी को भक्ति और रहस्यवाद के जंगल में ले जाकर भटका दिया। गुरू गोरखनाथ को गोरख धन्धे के रूप में प्रचारित कर उपहास का पात्र बना दिया। चतुरसेन, नागार्जुन, राहुल सांकृत्यायन, धूमिल आदि को शिक्षा जगत से ही बेदखल कर दिया गया। संक्षेप में कहें तो सवर्ण समाज में अर्जुन, द्रोणाचार्य, कृष्ण, वामन, विभिषण, सुग्रीव, प्रहलाद, रानी लक्ष्मीबाई, शिवाजी आदि महत्वपूर्ण हैं जो चाहे कोई भी रहे किन्तु उनकी व्यवस्था का पोषण करते रहे। लेकिन कर्ण, एकलव्य, बलि, मेघनाद, शम्बूक, फूले, पेरियार, मातादीन, झलकारीबाई आदि महत्वपूर्ण नहीं है जो अपने क्षेत्रों में महारथी तो थे किन्तु उन्होंने द्विजत्व को जमीन पर लाने के संघर्ष में अगुवा रहे। इस क्रम में अब डॉ. अम्बेडकर को देखा जा रहा है और सधी हुई वाणी, लेखनी युक्तिपूर्वक उनका और उनके कार्यों का विरोध किया जा रहा है।

श्री गुरूनानक साहब ने कहा कि जो नीचों से भी नीच हैं, मैं उनके साथ खड़ा हूँ। भाई जैसे वे भी गुरू तेग बहादुर का सिर दिल्ली से लाकर गुरू गोविन्द सिंह जी को भेंट किया। गुरू साहिब ने भाई जैसे को गले से लगाया, किसी और ने दलित वर्ग को बराबरी देने का हौसला नहीं दिखाया।

---

[1] 'आश्वस्त', नवम्बर-२००४, सं: डॉ. तारा परमार, पृ. ६

डॉ. अम्बेडकर हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधी थे। क्योंकि यह न बराबरी का धर्म है। छूत-छात हिन्दू धर्म की ही एक अनोखी और विशेष उपज है। क्या कोई यह यकीन कर सकता है कि पुरूष नाम का कोई पशु है। जिसके छूने से पानी गंदा होता है। मनुष्य तड़प जाता है और प्रभु को पूजने के योग्य नहीं रहता। इन कारणों के लिए ही डॉ. अम्बेडकर ने बोद्ध धर्म को सदाचार का धर्म सार कहा है। बौद्ध धर्म का सामाजिक दर्शन समानता का है। आपने बुद्ध और उनका धर्म नाम की एक पुस्तक भी लिखी है जो आर्थिक तंगीयों के कारण अनछपी ही रह गई।

मई १८५६ में डॉ. अम्बेडकर ने बी.बी.सी. से प्रसारित एक भाषण में कहा था कि, *"मैं बुद्ध धर्म को इस करके पहल देता हूँ क्योंकि इस में तीन सत्य एक ही स्थान मिलते है। बौद्ध धर्म बहस परस्ती की बजाए सूझ की शिक्षा देता है। यह करूणा, प्यार और बराबरी सिखाता है। सिर्फ आपने ही बौद्ध धर्म ग्रहण नहीं किया और आपने दस लाख पैरोकारों को भी बौद्ध धर्म की शिक्षा दी है।"*[1]

डॉ. अम्बेडकर को ज्यादातर संविधान के निर्माता के नाम से जाना जाता है। आपके यत्नों के सदका ही तीन रंग के झंडे में अशोक चक्र का निशान रखा, तीन अगस्त को बने पहले केन्द्रीय मंत्री मंडल में आपको कानूनी मंत्री बनाया गया। २६ जनवरी १९५० को आप ही द्वारा निर्मित ३९५ धाराएँ और ९ अनुसूचियों वाला संविधान लागू कर दिया गया। आप किसी भी अहुदे पर रहे आप ने जीवन के प्रमुख उद्देश्य अछूत उद्धार को ही हमेशा पहल दी। हिन्दू कोड बिल संबंधी जब मंत्री मंडल में विरोध हुआ तो आप ने मंत्री के ओहदे से इस्तीफा दे दिया। अपने साथियों से विचार करके आप ने आजाद मजदूर पार्टी का गठन किया और इसके लागू के तौर पर चुनाव लडा।

आज भारत में जात सम्मान और वर्ण आर्थिक शब्द बन गए है। हिन्दू धर्म क्योंकि जात-पात पर आधारित है। मनुष्य बराबरी के लिए प्रयत्नशील नहीं है। इसमें वितकारा खतरनाक है। यह

---

[1] 'आश्वस्त', नवम्बर-२००४, सं. डॉ. तारा परमार, पृ. ८

सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजसी वितकरा अभी भी बरकरार है। इसलिए डॉ.अम्बेडकर का सपना अभी भी अधूरा है। इसलिए सपने को पूरा करने की स्थान जमात अछूतों को वोट बैंक की चेतावनी है, इक भारत की राजनीतिक और प्रबंधकी अक्षरों में हिन्दूप्रसत ताकतों काबज हो गई है जो संविधान समीक्षा दे नाम के नीचे अछूतों की तरफ से संघर्ष करके प्राप्त की सहुलतों को खारज करके देश को एक बार फिर मधयुगी भारत में पलटना चाहती है। इसलिए अछूतों जमहूरी की बंद खालसी हिन्दूप्रस्त कट्टर पंथी ताकतों का किसानों जये बंधको विरोध करके राज सत्ता और मजदूरों किसानो का कबजा सधापत करना चाहती है। इस में भारतीय समाज की उन्नति बराबरी, भाईवाल और मनुष्यता का भला होगा।

डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि हिन्दू समाज में सुधार की जरूरत को मैं रद्द करता हूँ, उच्च्य जातियों ने यह सुधार होने नही देना है। इस लिए आओ कडवा अस चबाकर इक नाम क्रांतिकारी समाज बनाए जहाँ सीधे ही धक्केशाही को कानूनी प्रवनागी देने की शर्मनाक प्रणाली का संस्कार किया जायेगा। इसके साथ ही गुलामी के संगल टूट जायेंगे। इस उद्देश्य के अधीन उन्होंने १९३६ में स्वतंत्र किरती पार्टी भारत और आखिर १९४२ में शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन बनाई। वह इसी लिए इस समय के हकूमती ढाँचे में घुस गए और बाईस राय की कारजकारी कोंसल १९४२-४६ में मंत्री बन गऐ। इस पदवी की वरतों उन्होंने दलितों के सुधार के लिए बड़े फैसले लेकर की।

डॉ. अम्बेडकर पहले समाज विज्ञानी थे जिन्होंने सारी मर्यादाओं को तोड़कर कहा था कि, *"दलितों की मुक्ति राज शासन लेने के बिना कही भी संभव नहीं।"*[1]

दलितों के एकमात्र नेता डॉ. अम्बेडकर द्वारा सवर्णों की दासता से अछूतों की मुक्ति का आजीवन संघर्ष महाराष्ट्र की ही ज़मीन पर लड़ा गया था। भले ही यह युद्ध एक स्थान से जुड़ा था पर इसकी प्रतिध्वनि भारत के हर भाग में हुई।

---

[1] 'आश्वस्त' नवंबर-२००४, सं. डॉ. तारा परमार, पृ. ८-९)

बौद्ध धर्म को अपने जीवन-क्रम का आधार बना लेने में उनमें एक सांस्कृतिक आन्दोलन उत्पन्न हुआ जिसने सामाजिक परिवर्तन को जन्म दिया। इस सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए हमें सामाजिक परिवर्तन के व्याकरण को समझना होगा। सामाजिक परिवर्तन जीवन-मूल्यों में परिवर्तन के बगैर नहीं होता और सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी सारे शोध आज यही प्रतिपादित करते हैं कि परिवर्तन हमेशा पहले सांस्कृतिक स्तर पर मान्यताओं और मूल्यों के क्षेत्र में घटित होते हैं, उसके बाद व्यवहारगत नियमों में लक्षित होते हैं। यह निष्कर्ष मार्क्स की उस व्याख्या की अवहेलना करता है जिसके अनुसार सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न निराशा या विशेष अवसरों से प्रेरित होते हैं।

डॉ. अम्बेडकर के जीवन और साहित्य ने महाराष्ट्र के अछूतों के जीवन को नया आयाम दिया। बौद्ध धर्म को स्वीकार करने के बाद से इन लोगों का पूरा जीवन-क्रम बदल गया है। डॉ. अम्बेडकर के जीवन और साहित्य ने भूतपूर्व अछूतों की नई जीवन-पद्धति को जन्म दिया है। आज उनके जीवन-मूल्य पूरी तौर पर बदल गए हैं और दलित साहित्य उसी का एक हिस्सा है।

दलित आंदोलन की ब्राह्मणवाद-विरोधी चेतना का संगठित सूत्रपात बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ ही हो गया था। गौतम बुद्ध वह व्यक्ति थे, जिन्होंने ढ़ाई हजार वर्ष पहले वर्णाश्रम आधारित अन्यायकारी और दमनकारी सामाजिक व्यवस्था का विरोध किया। इतिहास बताता है कि श्रावस्ती प्रवास के दौरान सुनिता नामक शोषित भंगी को अपने संघ में शामिल करके गौतम बुद्ध ने दलितोद्धार का ऐतिहासिक कदम उठाया।

आधुनिक भारत में बौद्ध धर्म से ही प्रेरित दलित आंदोलन की शुरुआत हुई जिसका केन्द्र महाराष्ट्र और दक्षिण भारत बना। इस आंदोलन का स्वरूप भी ब्राह्मण विरोधी था। इसका नेतृत्व महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले, आंध्र प्रदेश मे एरीगे रामस्वामी और तमिलनाडु में पेरियार ने किया। यह दलित आंदोलन उग्र न होकर सुधारवादी था। इस आंदोलन के नायकों ने दलितों को अपने में आत्म सुधार लाने पर जोर दिया। इनका मानना था कि यदि दलित अपनी जीवन शैली में बदलाव लाएँगे तो उनकी सामाजिक स्वीकृति बढ़ेगी।

2.11. दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र

जीस तरह काली चमड़ी वाले आबनूस नीग्रो का एक अपना सौंदर्य है, उसी तरह दलित-साहित्य का भी अपना एक अलग सौंदर्य है। क्योंकि वह निजी पीड़ा का अवतरण है। इसलिए उसे व्यवहारिकता का चोंगा पहनाने की या झूठे ताम-झाम की कोई जरूरत नहीं है। कल्पना को जला कर भस्मीभूत कर दे, ऐसी भट्टी में तपकर यह अमृतकुंभ तैयार हुआ है।

इस तरह दलित साहित्य, दलित समाज से उसके अविनाभावी संबंध के फलस्वरूप जन्मा साहित्य है। उसमें सररियालिज्म या क्युविज्म की भूलभूलैया नहीं है, बल्कि दलितिज्म है और उसमें अभिव्यक्त होने वाली तीव्र नस्लवादी चेतना और अन्त्यज जाति की संवेदना (Acute race consciouness and Fallen Caste) की तीव्र अनुभूति है।

हिन्दी साहित्य में साहित्य का सौंदर्य व उसकी अर्थवत्ता सत्यं, शिवं, सुन्दरं की कसौटी पर कस कर ही निर्धारित की जाती है। सत्यं का तात्पर्य जो सत्य हो, यथार्थ हो - से है। इस दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य का लगभग सम्पूर्ण साहित्य ही साहित्य की कोटि से खारिज हो जाता है।

आदिकालीन साहित्य से लेकर अब तक के सृजित साहित्य पर हम इस संदर्भ में विहंगम दृष्टि डाल सकते हैं। नाथों, जैनों, सिद्धों व सन्तों का साहित्य यद्यपि यथार्थ की पृष्ठभूमि से ही उभरा है, पर वह आध्यात्मिकता की क्रोड़ में पुष्पित, पल्लवित व भ्रमित होकर सत्यं से दूर होता गया है। यही स्थिति कृष्णाश्रयी, रामाश्रयी व प्रेमाश्रयी साहित्य की भी है। रीतिकाल का साहित्य कवियों व उनके आश्रयदाताओं के मध्य आश्रयदाताओं की काम भावनाओं को उभार सकने व उनके रासरंग को माहौल देने के सामंजस्य का साहित्य है। कलात्मकता की बोझिलता से कराहता रीतिकालीन साहित्य 'सत्यं' को पूरी तरह नकार ने का साहित्य बन पड़ा है। आधुनिक साहित्य के अन्तर्गत छायावादी साहित्य में फिर से आध्यात्मिकता, प्रेम, सौंदर्य व वासना उभर आयी है। जयशंकर प्रसाद ने अपने उपन्यासों, नाटकों, कहानियों व कविताओं के माध्यम से ब्राह्मणवाद को उभारने व हिन्दुत्व की पुनर्स्थापना का सक्रिय व कलात्मक प्रयास किया है। उनके साहित्य में सत्य पूर्णतयः उपेक्षित है। महादेवी वर्मा ने तो अपना संपूर्ण साहित्य ही आध्यात्मिकता को भेंट चढ़ा

दिया। जबकि वह नारी समस्याओं पर गहरी दृष्टि डाल सकती थीं। पन्त भी अधिकांशतः इसी उच्छ्वास से पीड़ित रहे हैं। प्रगतिवाद एवं निराला के साहित्य में अवश्य ही सत्य की झनकार का निनाद झंकृत होता सुनाई पड़ता है। निराला की 'तोड़ती पत्थर', 'अबे सुन बे गुलाब' व 'चतुरी चमार' को साहित्य के सत्यं की कोटि में रखा जा सकता है।

हिन्दी का अधिकांश उपन्यास, नाटक व कहानी साहित्य भी सत्यं से दूर-दूर ही भटकता रहा है। प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ, ठाकुर का कुँआ, सद्गति आदि में सत्यं की प्रस्तुति है, पर 'कफन' तक आते आते उनकी मानसिकता भी भ्रमित होती व परिवर्तित होती प्रतीत होती है। जबकि दलित साहितय का सम्पूर्ण वाङमय व साहित्य की सभी विधाओं में सृजित, चाहे वह उपन्यास हो, आत्मचरित हो, कहानियाँ हो, या काव्य हो, साहित्य सत्यं की कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरता है।

'शिवं' का तात्पर्य उस साहित्य से है जो समाज को एक दिशा दे जो सबके लिए कल्याणकारी हो। इस दृष्टि से भी अधिकांश हिन्दी वाङमय प्रश्नचिह्नों के घेरे में आ जाता है। क्योंकि आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक का अधिकांश साहित्य सामाजिक सरोकारों को लेकर रचा ही नहीं गया है। सभी जगह वैयक्तिक सरोकारों में प्रेम, सौन्दर्य, वासना व आध्यात्मिकता अथवा कलात्मकता की कृत्रिमता का ही प्राधान्य है। कहीं भी समूचे समाज के उत्थान की कोशिश दृष्टिगोचर नहीं होती। जो साहित्य सत्यं व शिवं से परिपूर्ण हो वही सुन्दर से भी परिभाषित हो सकता है। वही समाज के लिए भी उपयोगी है। अलंकारों, छन्दों, रसों व शब्दों की कलात्मकता के माध्यम से रचा गया संवेदनशून्य, वायवीय व मानसिक व्यभिचार का साहित्य सत्यं, शिवं और सुन्दर के व्यापक आधार फलक पर हुई है। वह मानव को देव, धर्म, देश से भी उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करती है।

दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का रूप विधायन, उसका सीमांकन व आकलन सामान्य सौन्दर्य दृष्टि से सम्भव ही नहीं है। दलितवादी साहित्य विद्रोह का साहित्य है। दलित साहित्य का सौंदर्य वहीं निखरता है, जहाँ सदियों का संताप जो दलितों ने सहे हैं यथार्थ अभिव्यक्ति पाता है। दलित साहित्य के सौन्दर्य में काल्पनिक रोमांटिक रंगीनियाँ नहीं, अपितु घटनाओं का खुरदरापन अपने यथार्थ रूप में प्रस्फुटित होता है।

सामान्य साहित्यकार समाज व विज्ञान की बहिर्गत सौन्दर्य साधना से मुक्त होकर मानव समाज को आन्तरिक जीवन की सौन्दर्य साधना पर आरोपित व आरुढ़ करना चाहता है। उसकी सौन्दर्यवृत्ति में एक काल्पनिक रंगीनी होती है। वह वस्तु के अन्तर्हित सौन्दर्य के अन्वेषण में गतिशील रहता है। जबकि दलित साहित्य का सर्जक सामाजिक सरोकारों से जुड़कर जीवन की विषमताओं, धार्मिक विसंगतियों, शोषण के लिए निर्मित कृत्रिम उपादानों तथा मानव-मानव के मध्य के निर्मित अन्तराल को मापने का प्रयास करता है।

प्राकृतिक उपादानों पर भी वर्ग विशेष के वर्चस्व के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त करता है। उसे चांद, नायिक के मुख सदृश नहीं; अपितु भूख से बिलबिलाते व्यक्ति के लिए रोटी के सदृश दिखाई पड़ता है। वह सूरज को देवता नहीं, अपितु समाज क्रान्ति का प्रखर प्रहरी मान कर चित्रण करता है, जिसकी किरणें सभी को एक-सा प्रकाश देने का प्रयास करती है।

दलित साहित्य के सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में साहित्य के सौन्दर्य का निखार सर्जक के मानसिक अथवा बौद्धिक विकास पर ही अवलम्बित नहीं होता। अपितु यहाँ साहित्य सर्जक स्वयं भी उसी पीड़ा अथवा यातना का भोक्ता होकर ही अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य से युक्त साहित्य सृजना का पथानुगामी हो पाता है। उसके लिए पेट भरे होने पर ही चन्द्रमा को देखते ही किसी की याद आने की कल्पना संभव है -

"सुन्दर सा घरौंदा बसा होता गुलमौहर तले,
केवल कंगना खनकते होते,
रोज ही उदित होता चन्द्रमा झरोखे में,
सितारों से परे एक दुनिया होती,
भरे पेट में अजी देखा होता यदि चन्द्रमा,
हम किसी को याद करते।"[1] - **नारायण सुर्वे**

---

[1] 'दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र', सी. बी. भारती, पृ. ८८

दलित साहित्य में नारी रूप की दीप्ति सुकुमारता, कोमलता, बड़ी-बड़ी आँखों अथवा लाल-गालों से नहीं निखरती अपितु श्रम से निःसृत स्वेदकण ही उसके सौन्दर्य के परिमाप व निर्धारण करते हैं। यहाँ रमणीय ईश्वर व तद्विषयक प्रभामंडित कल्पना नहीं होती और न ही होती है आत्म-विषयक थोथी व झूठी परिकल्पना। इसी संदर्भ को रेखांकित करते हुए डॉ. बी. एल. आत्रेय ने लिखा है कि, *"सौन्दर्य का मूल उत्स वासना अथवा कामनाजन्य प्रेम है पर भी प्रश्नचिह्न लगाती है। दलित साहित्य का सौन्दर्य व उसकी सौन्दर्य दृष्टि इन सबके विपरीत अनगढ़, अपेक्षित व सामान्य स्थितियों से इतर व्यवस्थाओं के परिवर्तन के प्रति संवेदनशील व तीक्ष्ण आक्रोश में निहित है।"*[1]

दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र वाक्यों की रसात्मकता, कलात्मकता व अलंकरण की अपेक्षा कथ्य को महत्त्व प्रदान करता है। वंचित, उपेक्षित, शोषित व दलित को लेकर की गई साहित्यिक निरर्थक व समाज के लिए अनुपयोगी है। सौन्दर्य के पुरातन मानदंडों को लेकर दलित साहित्य को नकारने की साजिश अब नहीं चलने वाली है। दलित साहित्य काव्यशास्त्रीय पद्धतियों, काव्य-चेतना, मान्यताओं व वर्जनाओं का कोई बन्धन नहीं स्वीकार करता। वह प्राच्य व पाश्चात्य सौन्दर्य निरूपण पद्धतियों को नकारता है।

दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र महान यूनानी विचारक सुकरात के इन विचारों का अनुगामी है - "गोबर से भरी टोकरी भी सुन्दर बन जाती है, यदि वह अपना कुछ उपयोग रखती है। जबकि सुवर्ण ढाल भी असुन्दर है, यदि वह उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण है।" सुकरात की इस विचारधारा के अनुसार अधिकतम हिन्दी साहित्य निरर्थक व अनुपयोगी सिद्ध होता है।

दलित साहित्य का सौन्दर्य वहीं निखरता है, जहां साहित्यकार धार्मिक रूढियों, सामाजिक अन्याय व विसंगतियों को प्रखर वाणी देता है। उसका प्रस्तुतिकरण जिस सीमा तक सामाजिक व धार्मिक विद्रूपताओं के प्रति घृणा अथवा जुगुप्सा को जागृत करने में सफल होता है, वहीं उसके

---

[1] 'दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र', सी. बी. भारती, पृ. ८९

साहित्यिक सौन्दर्य का निर्धारण करता है।

* दलित साहित्य के सौन्दर्य का आकलन व परिक्षण इसकी अभिव्यक्तिगत सफलता से ही किया जा सकता है।

* सामाजिक सरोकारों से जुड़ी रचनाधर्मिता व उसके प्रति सक्रिय प्रतिबद्धता ही दलित साहित्य का सौन्दर्य विधान है। दलित साहित्य लेखन दलित अस्मिता की तलाश है।

* वर्ण-व्यवस्था से उपजी अमानवीय त्रासदी से मुक्ति की छटपटाहट ही दलित साहित्य का मूल स्वर है।

* जाति विहीन, वर्गविहीन समाज की संरचना ही इसका मूल प्रतिपाद्य है।

* दलित-पीड़ा को सफल अभिव्यक्ति प्रदान कर दलित साहित्य ने अपने सौन्दर्यशास्त्र की सार्थकता को प्रमाणित कर दिया है।

* उधार की परम्परागत सौन्दर्य दृष्टि से दलित साहित्य में सौन्दर्य निरूपण कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

* परम्परागत बासी पड़ चुके निर्जीव मानदंडों को तोड़कर ही दलित साहित्य ने अपना सौन्दर्यशास्त्र विकसित किया है।

दलित चेतना का आर्विभाव सदियों पुरानी बात है। वेद विरोधी नास्तिक दर्शन व आभिजात्य वर्ग की सामंती भाषा के विरूद्ध जन भाषा पाली, प्राकृत व अपभ्रंश में साहित्य सृजन से ही दलित चेतना का आविर्भाव दृष्टिगोचर होता है।

दलित साहित्य की सौन्दर्य-दृष्टि परम्परागत साहित्यिक दृष्टि से पृथक् है। यह शोषण के मूलाधार ईश्वर के अस्तित्व को ही नकार देती है -

"ईश्वर की मौत,
उस दिन होती है,

जब बनता है कोई मन्दिर या मठ,

जहाँ बैठता है कोई,

ठग,

लुटेरा,

गुमराह करने वाला,

ईश्वर की मौत,

उस दिन होती है,

जब किसी महिला को बनना पड़ता है,

देवदासी,

जाना पड़ता है वेश्यालय।"[1] - **मोहनदास नैमिशराय**

दलित चेतना के उभार व दलितों में आत्मविश्वास संवर्धन के लिए आरोपित लघुता के प्रति सही दृष्टिकोण ही दलित साहित्य को सौन्दर्य प्रदान करता है। दलित साहित्य की पहचान है व्यवस्थाओं के प्रति आक्रोश व विद्रोह का स्वर, पीड़ा की छटपटाहट व आसन्न परिवर्तन के लिए सम्यक संकल्प व समर्पित दृष्टि। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का विकास किया जा सकता है।

[1] 'दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र', सी. बी. भारती, पृ. ९३

2.12. दलित मुक्ति आंदोलन और दलित साहित्य : अंतःसंबंध

अस्पृश्यता निवारण और बहुजन समाज के हित के लिए संपूर्ण जीवन भर कार्य करने वाले महात्मा ज्योतिबा फुले इस सामाजिक आंदोलन के नेता थे। उन्होंने सामाजिक विषमता के खिलाफ संघर्ष करने हेतु सत्यशोधक आंदोलन का नेतृत्व किया। जातिभेद और धर्मभेद की आलोचना करते हुए उन्होंने मानव समानता का प्रचार किया। उपलब्ध सभी साधनों द्वारा उन्होंने ब्राह्मणवाद को नष्ट करने की नीति को अपनाया। उनके सत्यशोधक आंदोलन का मुख्य कार्य था - १. सामाजिक विषमता को नष्ट करना, २. ईश्वर और भक्त के बीच के दलालों को नष्ट करना, ३. सभी के लिए शिक्षा के द्वार खोलना।

इस त्रिसूत्री कार्यक्रम को लेकर उनका आंदोलन आगे बढ़ रहा था। केवल विचारों में क्रान्ति लाने का ही कार्य वे नहीं कर रहे थे वरन् अपने विचारों को उन्होंने व्यावहारिक रूप में परिणत करने का प्रयत्न किया। सन् १८५१ में लड़कियों के लिए और सन् १८५२ में अछूतों के लिए पाठशालाएँ शुरू की थीं, जिसके कारण उन्हें समाज और जाति से बहिष्कृत कर दिया गया। लेकिन अनेक कष्ट झेलकर जीवन के अंत तक वे अपने कार्य को पूरा करने हेतु संघर्ष करते रहे।

उनके यही कार्य और विचार डॉ. अंबेडकर के प्रेरणास्त्रोत बने। उन्होंने कबीर, बुद्ध और महात्मा फुले को अपना गुरू माना है। महात्मा फुले एक संघर्षशील नेता और चातुर्वर्ण्य तथा जातिभेद पर कठोर प्रहार करके मानवीय समानता की घोषणा करने वाले प्रथम लोक नेता थे।

स्वातंत्र्योत्तर काल में इस आंदोलन को जो खास दलित व्यक्तित्व प्राप्त हुआ है उसके कारणों की और उसके प्रेरणा-स्त्रोत की खोज करना जरूरी है। उसका मूल स्त्रोत डॉ. अम्बेडकर के विचार, तत्वज्ञान और संघर्षशील नेतृत्व में है। दलित आंदोलन ने डॉ. अंबेडकर की विचारधारा को पूर्णतः आत्मसात किया है।

डॉ. अम्बेडकर ने बुद्ध धर्म को स्वीकार करके बुद्ध धर्म के मूल तीन तत्व स्वतंत्रता, समता और न्याय प्राप्ति को संघर्ष का मुद्दा बनाते हुए दलित मुक्ति आंदोलन को सक्रिय बनाया। समता,

स्वतंत्रता और बंधुत्व का अवलंबन करने वाली नई समाज रचना का निर्माण करने के लिए परंपराओं से बंधी हुई जीर्ण वर्ण व्यवस्था की कठोर आलोचना की। जिस हिन्दू धर्म और जातिप्रथा ने अंधकारमय जीवन जीने पर दलितों को मजबूर किया और सत्ता, संपत्ति, शिक्षा से वंचित रखा। ऐसे धर्म और विचारधारा के खिलाफ उन्होंने आंदोलन छेड़ा। समय-समय पर दिए गए अपने भाषणों के द्वारा और दलित वर्ग की पत्रिकाओं द्वारा क्रांतिकारी विचार वे दलितों के समक्ष रखते रहे। उनकी इस विचारधारा में वह शक्ति थी जिसे पाकर अपना अस्तित्व खोए मरणासन्न अवस्था में पड़े हुए समाज में जीवन का संचार हुआ और जाति मुक्त होकर स्वाभिमानपूर्ण स्वतंत्र जीवन जीने की अदम्य लालसा उनमें जाग उठी। इसी चेतना का विकास दलित साहित्य में हुआ। डॉ. अम्बेडकर के विचारों की प्रखर शक्ति पाकर दलित साहित्य आंदोलन (दलित मुक्ति आंदोलन का ही एक हिस्सा) प्रगति की दिशा में आगे बढ़ रहा है।

१३ वीं सदी में संत वाङमय के द्वारा उभरा हुआ आक्रोश और वेदना का स्वर ब्राह्मणवादी वर्ण-व्यवस्था के दबाव में दब गया था। परंतु दलित साहित्य आंदोलन द्वारा उभरने वाला विद्रोही स्वर किसी भी शोषक शक्ति के सामने झुकनेवाला और दबनेवाला स्वर नहीं था। दलित साहित्य ऐसे अनोखे अनुभव-विश्व की रचनात्मक अभिव्यक्ति है, जिसे मजबूरन अछूतों ने सदियों तक भोगा है।

2.13. दलित साहित्य में दलित चेतना

डॉ. अम्बेडकर ने लिखा है कि, *"सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण के आमूल परिवर्तनवादी कार्यक्रम के बिना अस्पृश्य कभी भी अपनी दशा में सुधार नहीं कर सकते।"*[1]

दलित चेतना और उसके साहित्य का उदय १९५६ के उस ऐतिहासिक प्रसंग से माना जाता है जहाँ डॉ. बाबासाहब अंबेडकर ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर एक नये सास्कृतिक संघर्ष की नींव रखी। यह धर्मान्तरण सहज एक प्रतीक नहीं था, वरन् हिन्दू समाज के लिए चकित करने वाला और दलित समाज के लिए मनोवैज्ञानिक मुक्ति देनेवाला इतिहास का एक अनूठा क्षण था। सहस्रावधि वर्षो से चली आयी दमनकारी संस्कृति को नया पर्याय खडा करने हेतु सशक्त आन्दोलन का वह प्रारंभबिन्दु था।

"गरीब होना बुरा है पर इतना नहीं, जितना कि अछूत होना
गरीब स्वाभिमानी हो सकता है किन्तु अछूत नहीं हो सकता
निम्न होना बुरा है पर इतना नहीं, जितना कि अछूत होना
निम्न व्यक्ति ऊपर उठ सकता है किन्तु अछूत नहीं उठ सकता।"

- बाबा साहेब अम्बेडकर

दलित चेतना अथवा दलित-साहित्य की चेतना एक जन-चेतना अथवा जनोन्मुख चेतना है, जो जन-संघर्षों से उत्पन्न होती है और आम जनों को गुलामी से मुक्ति के लिए प्रेरित करती है। अर्थात् दलितों की मुक्ति की चेतना जब साहित्य में अभिव्यक्त होती है, तो वह साहित्य, दलित-साहित्य बन जाता है।

यदि साहित्य को एक इकाई मान लें, जो कि संभव नही है, तो दलितों की मुक्ति की यही चेतना, साहित्य में दलित-चेतना के नाम से पहचानी जाती है। यह चेतना, जिस भाषा के साहित्य में होती है, उस भाषा के साहित्य में, मसलन मराठी, हिन्दी या तेलुगु साहित्य में, दलित-चेतना कही जाती है।

[1] डॉ. अम्बेडकर का संपूर्ण वाङमय, खण्ड-१४, पृ. ३४

विश्व के मूल में जडतत्व (Matter) है या चैतन्य शक्ति (Spirit) यह दर्शनशास्त्र में निरंतर चर्चा का विषय रहा है। बुद्ध ने इस संदर्भ में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार विशिष्ट भौतिक परिस्थिति में और तज्जन्य कारणों से विशिष्ट बातों का आविर्भाव होता है और उस भौतिक परिस्थिति के परिवर्तित होते ही वे बातें विलीन हो जाती हैं। जिस परिस्थिति एवं कारण से नया निर्माण होता है उसे बौद्ध दार्शनिकों ने 'समुदाय' कहा है और परिवर्तित होने वाली परिस्थिति को 'निरोध' कहा गया है। 'समुदाय एवं निरोध' विश्वव्यापी प्रक्रिया को 'प्रतित्यसमुत्पाद' कहते हैं। इस प्रकार विश्व के मूल में 'बीइंग' या 'बिकमिंग' के प्रश्न का उत्तर बुद्ध के अनुसार 'बीइंग इज़ बिकमिंग' है।

मानव शरीर पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार जडद्रव्यों से बनता है और इन द्रव्यों के विशिष्ट परिमाणों के बिगड़ जाने से चेतना का क्षय हो जाता है। जड़ के बिना इस चेतना का अस्तित्व नहीं है। मनुष्य परिवर्तन और संवर्धनशील है क्योंकि वह गतिमान है। गतिमानता विश्व की प्रकृति है। परमात्मा आत्मा, पुनर्जन्म तथा कर्मफल के सिद्धान्त को अस्वीकार करने वाले बुद्ध मूलतः जड़वादी थे। डॉ. अम्बेडकर का जड़वाद के प्रति प्रबल आकर्षण था। अतएव उन्होंने बौद्ध दर्शन का तटस्थ, निर्मम विश्लेषण करने के बाद उसे स्वीकार किया। हिन्दुत्ववाद पूर्णतः 'चैतन्यवाद' पर आधारित होने के कारण 'स्थिर' हो गया और 'स्थिर' दर्शन गतिमान जीवन का विश्लेषण नहीं कर सकता।

हिन्दू धर्म की तुलना में इस्लाम थता ईसाई धर्म में व्यक्ति को निश्चय ही अधिक महत्व प्राप्त है फिर भी अम्बेडकर का इनमें से किसी को स्वीकार न कर बौद्ध धर्म को चुनना उनकी समाज सापेक्ष दृष्टि का सूचक है। उनके अनुसार बौद्ध धर्म मूलतः और तत्वतः सामाजिक है। मनुष्य यदि अकेला है तो उसको धम्म की आवश्यकता नहीं है किन्तु यदि दो जन किसी संबंध से एकत्र होते हैं तो धम्म अनिवार्य हो जाता है, भले ही वह उनको प्रिय लगे न लगे।

अम्बेड़कर ने इस संदर्भ में अपने आन्दोलन को सामाजिक आन्दोलन कहा और धम्म एवं राजनीति के माध्यम से उसे आगे ले जाने का प्रयत्न किया। भारतीय इतिहास के संदर्भ में क्रांति

का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि राजनीतिक क्रांति सांस्कृतिक क्रांति के बिना सम्भव नहीं। सांस्कृतिक क्रांति होते ही राजनीतिक क्रांति तो हो ही जायेगी। राजकीय सत्ता दोहरी धार वाला हथियार है। सत्ता को सामाजिक क्रांति का एक साधन मानने वाले विवेकशील शासक यदि समाजवाद ला सकते हैं तो इस विवेक से शून्य शासक फासिस्ट या तानाशाह भी हो सकते हैं।

अम्बेड़कर ने मार्क्सवाद को 'जरा परख कर' स्वीकार करने का आग्रह किया है। उन्होंने कहा है, "मार्क्सिज्म शुड बी टेकेन ऐज ए पिंच ऑफ सॉल्ट।" इसीलिए अम्बेड़कर ने बुद्ध के धम्म का सहारा लिया। उनका विश्वास था कि इससे वे साम्यवाद के उस जहर की काट कर सकेंगे जो सांस्कृतिक क्रांति के अभाव में उत्पन्न हो जाता है। इसके लिए 'एंटीडोट' अंग्रेजी शब्द का प्रयोग किया है। अम्बेड़कर की दृढ़ मान्यता थी कि सांस्कृतिक क्रांति की पृष्ठभूमि के बिना भारत में समाजवाद आ ही नहीं सकता। आज इसे हम केरल एवं बंगाल में प्रत्यक्ष देख सकते हैं। वहाँ सत्ता साम्यवादियों के हाथों में होने पर भी समाज में परिवर्तन नहीं हो रहा है, अछूतों को आज भी सवर्णों के पनघट पर जल भरने का अधिकार नहीं मिल सका है।

सन् १९४७ के सत्तांतरण के क्रांति न होकर केवल एक सामान्य राजनीतिक परिवर्तन होने का विश्वास होने पर उन्होने कहा था, *"भारतीय संविधान के रूप में एक विचित्र मंदिर हमने देवताओं के लिए बनाया था किन्तु देवताओं के विराजमान होने से पहले ही शैतानों ने उस पर कब्जा कर लिया है। अब हम केवल एक ही काम कर सकते हैं और वह है इस मंदिर को जलाकर भस्म करना।"*[1]

अम्बेडकर का आग्रह था कि सच्चे जनतंत्रवादी समाजवाद के लिए बौद्ध धर्म जैसे महत्वपूर्ण साधन का प्रयोग किया जाना चाहिए। अम्बेड़कर के उत्साही अनुयायी बौ द्धधर्म को जनतंत्रवादी दर्शन मानते हैं।

---

[1] 'दलित साहित्य की आवधारणा और प्रेमचंद', सदानंद शाही, पृ. ४३

अम्बेड़कर ने बौ द्धधर्म को इसलिए स्वीकार किया था कि वह केवल हिन्दू धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया नहीं थी बल्कि विश्व के बुद्धपूर्व एवं बुद्धोत्तर सभी धर्मों के विरुद्ध एक समर्थ प्रतिक्रिया है।

अम्बेड़कर को गांधी की अहिंसा हिंसा से अधिक पाशविक प्रतीत होती था। गांधीजी द्वारा वर्ग संघर्ष का विरोध और हिंसा को टालने के लिए नयी प्रौद्योगिक जानकारी का विरोध उन्हें इतिहास चक्र को उल्टी दिशा में चलाने वाला विचार लगता था। गाँधीजी की 'ट्रस्टीशिप' की कल्पना को वह पूँजीपति वर्ग को दायित्व से मुक्त करने का षडयंत्र मानते थे। बुद्ध को हिंसा मान्य नहीं थी किन्तु उचित कारणों के लिए हिंसा यदि अपरिहार्य हो तो बुद्ध उसका विरोध नहीं करते।

अम्बेड़करवाद का प्रमुख सूत्र है, *"जिम्मेदार व्यक्ति को प्रमाद का संशोधन करना चाहिए। उसके पास पुनर्विचार करके तदनुसार मत परिवर्तन करने का साहस भी होना चाहिए। विचारधाराओं की सीमाएँ नहीं होतीं।"*[1] अतएव अम्बेडकरवाद एक गतिमान विचार है और वह निरंतर समृद्ध होगा। उसमें नकार, विद्रोह, वैज्ञानिकता भी है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक किसी न किसी रूप में दलित एवं दमित प्रजा और समाज का चित्रण हमें देखने को मिलता है। उस काल के कवि और लेखको ने भी अपने समयानुसार इन समस्याओं को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। 'दलित चेतना' को यदि हम एक विस्तृत अर्थ में देखने को कोशिश करेंगे तो हमें उसके उत्स आदिकाल से ही मिल सकते हैं। यह और बात है कि उस समय के रचनाकारों ने इस प्रसंग पर विशेष रूप से न लिखकर उसका प्रसंगानुसार उल्लेख मात्र कर दिया हो, किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि उस समय का लेखक इन वस्तुओं से अनजान था।

सन् १९४७ की मध्यरात्रि को देश अंग्रेजों की लम्बी दासता से आजाद हुआ। स्वाधीनता के रणबाँकुरों ने अपना सर्वस्व न्यौछावर करके यह शुभ दिन हमें दिखाया। हमने स्वाधीनता के सूर्य की

---

[1] 'दलित साहित्य की आवधारणा और प्रेमचंद', सदानंद शाही, पृ. ४५

ओर तथा उस अवसर की ओर देखा जिसे स्वाधीनता अपने साथ लाती है। एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपनी सरकार, अपनी शासन प्रणाली, अपने नियम-कानून बनाने के लिए हमने अपना संविधान बनाया और उसे सर्वोच्चता प्रदान की। संपूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य ने अपने नागरिकों को मौलिक अधिकार की सौगात-सुरक्षा की गारंटी के साथ दी। लेकिन देश का एक बहुत बड़ा जन समुदाय जिसे दलित-शोषित कहा जाता है, अपने अधिकारों का उपभोग नही कर पाया।

स्वाधिनता प्राप्ति के उपरांत डॉ. अम्बेडकर ने यह चेतावनी दी थी कि यदि देश ने दो बातों पर ध्यान दिया तो वह लोकतांत्रिक प्रणाली को गंवा बैठेगा। इनमें से एक है सामाजिक स्तर पर सम्मान और बराबरी तथा दूसरा है आर्थिक क्षेत्र में असमानता।

स्वाधीनता प्राप्ति से लेकर वर्तमान तक दलित-शोषित वंचित समाज को एक लम्बा संघर्ष करना पड़ा है। जिसके परिणाम स्वरूप दलितों-शोषितों में एक नवीन चेतना का संचार हुआ, अन्याय-अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष करने का साहस उनमें पैदा हुआ, दमन-शोषण को नकारने और उसके विरूद्ध संघर्ष करने की भावना जागृत होकर बलवती हुई। इस सबकी पृष्ठभूमि में खड़े हैं - डॉ. अम्बेडकर जिनके जीवन संघर्ष ने दलितों-शोषितों में चेतना का संचार किया। इस वर्ग के लोगों ने बाबा साहेब के त्रि-सूत्रीय सिद्धान्त - "शिक्षित बनो, संगठित रहो, संघर्ष करो" को अपने जीवन में आत्मसात करने की शपथ ली, अपमान जनक व्यवसाय त्यागकर अपने बच्चों को पढ़ाया-लिखाया, अधिकार पाने के लिए डॉ. अम्बेडकर के आव्हान पर कि अधिकार मांगने से नहीं मिलते, छीने जाते हैं, अनवरत संघर्ष किया। दलित आन्दोलन चलाया, अन्याय और अत्याचार का प्रत्येक स्थिति में विरोध करने को सर्वोच्च प्राथमिकता दी। अत्याचार नहीं सहने और गुलामी नहीं करने का दृढ़ संकल्प लिया। फलस्वरूप वे आगे बढ़े, उनमें चेतना आई, उनकी उन्नति और विकास हुआ, वे जागरूक होकर संघर्षशील बने और अधिकार पाने के लिए सचेत हुए। धीरे-धीरे दलित चेतना आकार पाती गई और आठवें दशक के मध्य से तो इसका तेज़ी से विकास दृष्टिगोचर होने लगा। नवाँ दशक तो एक मायने में दलित उभार का दशक साबित होने लगा। और वर्तमान में तो यह स्वीकारोक्ति दबी जबान ही सही सुनी जा रही है कि २१ वीं सदी दलितों की होगी। इस शुभ संकेत पर हम भक्तिकाल के संत रैदास,

दादू, नामदेव, नाभादास आदि तथा आधुनिक काल के साहित्य जगत के मुंशी प्रेमचंद, अमृतलाल नागर तथा सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, क्रांतिसूर्य, महात्मा ज्योतिराव फुले, सावित्री बाई फुले, नारायण गुरू तथा महान विभूति विराट महापुरूष बाब साहेब डॉ.अम्बेडकर के आभारी हैं जिनका संघर्ष रंग लाया और दलित अपने कारवाँ को आगे और आगे ले जाने के लिए कृत संकल्पित हैं।

दलित चिंतन के संदर्भ में कर्दम जी का मानना है कि, *"दलित साहित्य का सारा का सारा चिंतन इस व्यवस्था के नकार में खड़ा है। वह ईश्वर को किसी भी रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है क्योंकि ईश्वर की स्वीकृति के पीछे बहुत सारी चीजों की स्वीकृति जुड़ी है। जैसे वेदों को अपौरूषेय और प्रामाणिक मानना, वेदों में वर्णित वर्ण-व्यवस्था को मानना और वर्ण-व्यवस्था से उद्‌भूत जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि को मानना या भाग्य को मानना। चूँकि दलित साहित्य ईश्वर को नकारता है।"*[1]

कहने की जरूरत नहीं है कि दलित साहित्य की प्रेरणा एवं ऊर्जा का स्त्रोत अम्बेडकर हैं। उन्होंने दलितों को स्वयं बौद्ध-धर्म की दीक्षा दिलवायी थी और बाईस प्रतिज्ञाएं करायी थीं। इन प्रतिज्ञाओं का मुख्य स्वर यही है कि दलित हिन्दू नहीं है, हिन्दू धर्म से उनका किसी तरह का कोई सम्बन्ध नहीं है। ये २२ प्रतिज्ञाएँ ही दलित साहित्य का पैरामीटर है।

उपरोक्त परिस्थितियों के आलोक में इन समस्याओं से पूर्ण मुक्ति पाने और सामाजिक चेतना एवं विकास के लिए दलितों को अपने बूते पर जागरूकता अभियान भी चलाना चाहिए। अधिक से अधिक पढ़ने-लिखने की आदत डालें और विचार गोष्ठियों में भाग लें और अपने अधिकारों, दायित्व निर्वहन के प्रति सजग रहें। इस तथ्य को सदैव ध्यान में रकें कि समस्या आपकी है। कोई दूसरा आपके लिए संघर्ष क्यों करने लगा बल्कि दूसरा लाभ उठाने की भी सोच सकता है। इसलिए दलित अपनी अस्मिता, विकास एवं अधिकारों हेतु संघर्ष स्वयं अर्थात बिना किसी अवलम्ब के किन्तु अविलम्ब प्रारंभ करें अगर सचमुच में दलित समाज को विकास पथ पर आगे बढ़ना है।

---

[1] 'चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य', डॉ. श्यौराज सिंह 'बेचैन', डॉ. देवेन्द्र चौबे, पृ. ३२

भारतीय साहित्य के आधुनिक परिवेश में 'दलित' शब्द कुछ नया और मुख्य साहित्यिक धारा से कुछ हटा हुआ लगने पर भी संपूर्ण भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के संदर्भ में यह साहित्य कुछ अपरिचित भी नहीं है। यह शब्द भारतीय संदर्भ में पचास के दशक के बाद सबसे पहले महाराष्ट्र ने ईजाद किया था और इस शब्द के साथ साहित्य नहीं, इस दलित स्थिति के उन्मूलन का एक क्रांतिकारक चिंतन था।

'इधर कुछ वर्ष पूर्व उभरा हुआ दलित साहित्य हमारे समाज की नई ध्वनि है। आर्थिक-सामाजिक दलन के शिकार होकर असमान जीवन जीते लोगों में हुई अक्षर क्रांति के परिणाम स्वरूप इस साहित्य ने जन्म लिया है। शोषित अपनी भावनाओं को अक्षर द्वारा अभिव्यक्त कर सके। सैकड़ों साल से दबी अनजान घटनाएँ और गहरा दर्द विश्ष्ट स्वरूप से साहित्यिक रचनाओं में रूपाकार पा रही हैं।' इस प्रकार यह एक सामाजिक- सांस्कृतिक आंदोलन था जिसने वाचिक एवं लिखित आधार भी ग्रहण किया था।

समकालीन दलित साहित्य भारतीय परिवेश के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय समानधाराओं, उदाहरणों में भी वह प्रभावित है, अमेरिका के नीग्रो, आफ्रिकी काले लोग और भारतीय दलित एक-सा जीवन जी रहे हैं। तुच्छता का व्यवहार कर रही व्यवस्था के विरोध में यह संघर्ष की आवाज़ है। भारतीय दलित साहित्य विश्व के दलित साहित्य का ही एक भाग है।

इसके साथ हर एक दलित शिक्षार्जन के साथ ही अम्बेडकर विचारधारा के करीब होता जाता है। शिक्षित दलित अपने राजनीतिक-आर्थिक, सैद्धान्तिक समस्याओं के लिए अंबेडकरवाद में अपना जवाब पा रहा है। हिन्दी का दलित साहित्य भी इससे परे नहीं।

इस अस्तित्ववाद के साथ भारत में महाराष्ट्र में शुरू पाकर (वर्तमान संदर्भ में) भारत के अन्य प्रांतों में दलित साहित्य ने अपने विकास को दिशा दी है। सर्वप्रथम आंध्र प्रदेश में दलित और दिगंबर कवियों द्वारा, तद्नंतर कर्नाटक में सत्तर के दशक में इस आंदोलन को एक संस्थागत दिशा लेते हुए हम पहचानते हैं।

वास्तव में *"जहाँ दलित उत्पीड़न होगा, वहाँ ब्राह्मणवादी वर्चस्व स्थापित होगा और जहाँ दलित चेतना होगी, वहाँ ब्राह्मणवाद पलायन करता नज़र आयेगा।"*[1]

दलित कविता, दलित कहानी या दलित साहित्य इन शब्द प्रयोगों में खास करके 'दलित' शब्द विशेष रूप से विवादास्पद रहा है। सामान्यतः *"सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक, रूप में अमानवीयता के शिकार हुए दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य 'दलित साहित्य' कहलाता है।"*[2]

"जूता कहाँ काटता है, वह पहनने वाला ही बेहतर जानता है।" इस कहावत के अनुसार दलितों-अस्पृश्यों के हाड़-चाम से बने साहित्य का प्रकाशन होने लगा, जागृति फैलने लगी। दलितों ने सन् १९८१ के 'आरक्षण आंदोलन' या यों कहें कि - 'व्यवस्थित कौमी दंगों का सामना दलित साहित्य से प्राप्त जागृति के सहारे ही किया। इससे इस बात को पुष्टि मिली कि *"इतिहास गवाह है जो युद्ध तलवार से अरंभव है, वहाँ कलम सविनय संग्राम का समर्थ साधन बन सकती है।"*[3]

एक दृष्टि से देखें तो अन्याय के सामने आक्रोश, सवर्णों द्वारा होता दलितों का शोषण, अस्पृश्यता, सामाजिक विषमता, आर्थिक असमानता - ये सब दलित साहित्य के मूलभूत अंग हैं, फिर भी इनमें दलित चेतना का आविर्भाव होना जरूरी है।

इस दृष्टि से हिन्दी का दलित कथा-साहित्य दलितों द्वारा लिखित बहुत समृद्ध तो नहीं है, पर उसकी समृद्धि की सम्भावनाएँ अनन्त हैं। हिन्दी के दलित कथाकारों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी, मोहनदास नैमिशराय, जयप्रकाश कर्दम, दयानंद बटोही, रघुनाथ प्यासा, शिव चन्द्र उमेश, कालीचरण स्नेही, बी.एल.नैय्यर, डॉ. कुसुम वियोगी, बुद्ध शरण हंस, प्रेम कपाड़िया, कावेरी, सुशीला टाकभौरे, भागीरथ मेघवाल, लालचन्द्र राही, पारसनाथ और सी.बी.भारती मुख्य हैं।

ये दलित कथाकार दलित चेतना से सम्मान कथाकार हैं जो जीवन और समाज के भोक्ता और स्रष्टा दोनों हैं।

---

[1] 'पल-प्रतिपल', रत्नकुमार सांभारिया, पृ. ६१-६२

[2] 'संविक्षि', मोहन परमार, हरीश मंगलम, पृ. १

[3] चांदनी, १५ अक्टूबर, १९८३, श्रीमती वीरा, पृ. ५६

2.14. दलित साहित्य और डॉ. जयप्रकाश कर्दम

दलितों द्वारा लिखा गया स्वानुभूति की अभिव्यक्ति दलित साहित्य कहलाया जाता है और डॉ. जयप्रकाश कर्दम की रचनाएँ इस बात के प्रमाण हैं कि उनकी रचनाओं में भोगे हुए यथार्थ की ही अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने दलित साहित्य २००२ की भूमिका में लिखा है कि, *"दलित साहित्य की सबसे बड़ी ताकत है उसकी प्रामाणिकता अर्थात् स्वानुभूति। स्वानुभूति अथवा भोगे हुए यथार्थ की सर्वाधिक सफल और सार्थक अभिव्यक्ति आत्मकथा में ही हो सकती है, इस बारे में शायद ही दो राय हों।"*[1]

शैशवकाल से ही उनके जीवन में काफ़ी कठिनाइयाँ थीं। इनका जन्म एक दलित परिवार में होने के कारण उन्हें उच्चवर्णीय समाज में प्रताड़ना ही मिलती थी। उनकी प्रत्येक रचना उस प्रत्येक पल का सिलेसिलेवार वर्णन करती है, जो उन्होंने भोगा है। महात्मा गौतम बुद्ध, महात्मा ज्योतिबा फुले एवं भारतरत्न डॉ. अम्बेडकर के दिखाए मार्ग पर चलकर उन्होंने जीवन की उलझनों को सुलझाने का प्रयास किया है।

वे दलित साहित्य से जुड़े विभिन्न मुद्दों को अनेक तरह से अनेक बिन्दुओं में व्याख्यायित किया है। उनका सीधा संबंध दलितों के रोजमर्रा के जीवन से है। उन्होंने देखा कि सत्ता आज समाज के शोषक वर्गों के हाथ में है, तो निश्चित तौर पर दलितों के हित की उपेक्षा की जाएगी। अतः उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से दलित चेतना को नया उभार देने का कार्य आरंभ कर दिया।

दलितों के हित की उपेक्षा आज के राजनीतिक परिवेश की सबसे बड़ी सच्चाई है, चाहे कानूनी तौर पर कितने ही सुधार क्यों न हो यथार्थ के जीवन में दलित आज भी शोषित एवं उपेक्षित जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। कर्दम जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से आज के दलित युवा पीढ़ी को वाक़िफ कराने का प्रयास किया है। रामवीर सिंह ने लिखा है कि, *"देश के दलित वर्ग, जिसने सदियों से कठोर यातनाओं का जीवन दिया है, आज वह अपना अधिकार स्वयं हासिल*

[1] 'दलित साहित्य २००२', सं. डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ११-१२

करने के लिए कटिबद्ध है। यह माना कि स्वतंत्रता अब भी बड़े लोगों की चौपालों पर पैर पसारे बैठे हैं, बड़े बाबू लोग ही उसके भागीदार हुए, लेकिन दलित कहलाने वाले गरीब, मजदूर, देहाती, अनपढ़ देख-सुनकर स्वतंत्रता का अर्थ समझने लगे हैं। इस तरह दलितो में राजनीतिक चेतना की लहर धीरे-धीरे फैल रही है, एक दिन वे अपने अधिकारों को हासिल करके रहेंगे। प्रत्येक दलित की संतान आज अपने सपने को साकार करने के लिए अधिकार का प्रयोग कर रहे हैं।"[1]

ग़ौरतलब है कि कर्दम जी ने उक्त बात को सिद्ध कर दिखाया है। उनकी रचना में आक्रोश दृष्टिगोचर होता है। लेकिन यह आक्रोश शील एवं सदाचार से युक्त है। अत्याचार होने के बावजूद भी आवाज़ संयत है, यह नहीं कि भावावेश में आकर अनाप-शनाप वर्णन हुआ है। डॉ. अम्बेडकर ने संघर्ष करने के लिए आवाहन किया था। अतः कर्दम जी के पात्रों में वही जज़्बा दिखाई देता है। दलित साहित्य में आक्रोश ही एक प्रमुख तत्व है जो एक कारवाँ बनाता है लेकिन इस आक्रोश में चुप्पी है और चुप्पी में ही सारी बातें बयान होती दिखाई देती हैं। वैसे भी अधिक बोलने वाला चरित्र बहुत अधिक पसंद नहीं किया जाता है।

कर्दम जी ने अपने जीवन में जो भी भोगा उसकी सार्थक अभिव्यक्ति उनकी तमाम रचनाओं में दिखाई देती है। उन के विचारों पर फुले, अम्बेडकर, लोहिया इत्यादि का प्रभाव दिखाई देता है। इन्हीं महान हस्तियों के जीवन-दर्शन को आधार बनाकर उन्होंने अपने व्यक्तित्व की रचना की है। और अन्याय-अत्याचार आदि पर दृष्टिपात करते हुए एक नवीन विजन बनाया है जो उनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है।

---

[1] 'नागार्जुन के उपन्यासों में सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष', डॉ. रामवीर सिंह, पृ. ८९

2.15. डॉ. जयप्रकाश कर्दम का जीवन परिचय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ. एन. सिंह ने कथाकार, कवि एवं सजग चिंतक डॉ. जयप्रकाश कर्दम के संबंध में 'तलाश' कहानी संकलन के प्राक्कथन में लिखा है - *"डॉ. जयप्रकाश कर्दम दलित साहित्य के प्रतिष्ठित हस्ताक्षर हैं। हिन्दी दलित साहित्य की स्थापना के लिए जितना रचनात्मक संघर्ष उन्होंने किया है, इसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। जब उन्होंने हिन्दी दलित कथा साहित्य को आधुनिक युग का पहला उपन्यास 'छप्पर' दिया, मुझे उसी समय उनमें छिपी हुई कथा सम्भावनाओं का आभास हो गया था। जो अब उनकी कहानियों के पहले संग्रह 'तलाश' से पुष्ट हो गया है।"*[1]

डॉ. जयप्रकाश कर्दम जीवन के झंझावातों को झेलते हुए भी जीवन समाज-व्यवस्था के प्रति एक विशेष दृष्टि रखनेवाले सजग चिंतक हैं। उनकी रचनाएँ जहाँ एक ओर दलित जीवनोध्दार को केन्द्र में रखकर तथाकथित सनातन व्यवस्था पर करारी चोट करती है,वही समाज-व्यवस्था के सनातन ढाँचे को ढहाने की ऊर्जा की संवाहक बन व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन की विशेष माँग करती है। क्रांतिधर्मा रचनाकार की रचनाधर्मिता का यह एक विशेष व उल्लेखनीय पहलू है। रचनाकार स्वयं नहीं बोलता बल्कि उनकी रचनाओं के पात्र इतने मुखर हैं कि मानो सामाजिक क्रांति का बिगुल उनके संवादों के माध्यम से स्वयमेव बज रहा है। बहुत अधिक बोलनेवाले रचनाकार या आलोचक कभी उत्तम श्रेणी के नहीं माने जाते हैं। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की रचनाएं व्यवस्था की विवेचना-आलोचना करते हुए भी बोलती कम हैं और व्यवस्था में बेतरतीब हुई चीजों पर पैनी निगाह से केवल कटाक्ष करती है। मानो उन निगाहों में बिखरी व्यवस्था का ज्वलंत चित्र खिंच गया है और सारा वर्णन अचानक जीवित हो उठा है। और अनायास ही हम सोच-विचार करने लगते हैं कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के लगभग छः दशकों के बाद भी समाज-व्यवस्था का वह बिखराव यथावत बना हुआ है। यह कर्दम जी की रचना-शैली का विशेष पक्ष है।

---

[1] 'तलाश', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृष्ठ सं. ९

क्रांतिधर्मा रचनाकार समाज में आमूलचूल परिवर्तन का हिमायती होता है। समाज के युग-युगांतर से चले आये ढाँचे में वह बदलाहट देखने की अपेक्षा से रचनाकर्म करता है और भारतीय हिन्दु-ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था में तो वह कायापालट कर देने का आकांक्षी ही नहीं होता बल्कि सक्रिय भूमिका भी निभाता है। डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी ने इसी विजन के साथ सृजन कार्य किया है।

2.15.1. जन्म एवं पारिवारिक जीवन

ऐसे क्रांतिधर्मा रचनाकार का जन्म 5 जुलाई 1958 को उत्तर प्रदेश में गाज़ियाबाद जिले के एक छोटे-से गाँव इंदरगड़ी में हुआ था। आपके पिता का नाम हरिसिंह और माता का नाम अतरकली है। आपकी शिक्षा-दीक्षा के लिए सदैव चिंतित रहे पिता जीवन पर्यन्त आपको ऊँचे ओहदे पर देखने के आकांक्षी थे। आपका पैतृक व्यवसाय खेती रहा है और आपके पिता सदैव क्षय बीमार से ग्रस्त रहते थे। घर की आय परिवार के जीवन यापन की दृष्टि से अत्यंत कम रही है। अतः आपको शैशव काल तथा यौवन अवस्था तक अभावों से जुझते हुये शिक्षा पूरी करनी पड़ी।

शैशव से ही आपने दलितों की क्लेशदायी स्थिति को झेला तथा वर्ण-व्यवस्था की चपेट में आकर कई ऐसी घटनायें देखी जो आगे चलकर क्रांतिकारी स्वर के लिए कारण-कार्य साबित हुई। एक बार की बात है - इनके पिता को मढैया गाँव के बदनी जाट ने कमर में लाठी मारी थी। यह क्षेत्र जाट बहिल था और यहाँ के जाट अत्यंत दबंग किस्म के थे। अतः वे दलितों पर इस प्रकार के अत्याचार करते रहते थे चूँकि दलित सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से कमज़ोर थे, अतएव उन्हें अत्याचार को सहना पड़ता था। इसके विपरित जाट आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से समर्थ थे। अतः वे अपनी मनमानी किया करते थे। बदनी जाट तो केवल एक घटना है, ऐसी कई घटनाएं कर्दम जी के व्यक्तित्व को क्रांतिकारी बनाने के लिए कारण सिध्द हुई हैं।

इनके पिता की मृत्यु दीर्घावधि तक क्षयरोग से जुझने के पश्चात् सन् 1976 ई. में हुई। इस समय डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की आयु केवल 16 वर्ष की थी। पिता की मृत्यु के पश्चात्

इनके दादाजी फग्गनसिंह ने खेती-बाड़ी सँभाली किन्तु वृध्दावस्था के कारण खेती की दुरावस्था होती गयी और धीरे-धीरे खेती बिकते-बिकते परिवार की आर्थिक अवस्था पूर्णतः विकट स्थिति को जा पहुँची। डॉ. जयप्रकाश जी की आँखों के आगे यह सब घटता गया और इन घटनाओं से उनकी जीवन के प्रति सूझ-बूझ बढ़ती गयी। उन्होंने अपने बारे में स्वयं लिखा है - *"मुझे याद है, जब मैं छोटा-सा था, वे (पिताजी) मज़दूरी करने गज़ियाबाद जाते थे। स्टेशन पर मालगाड़ी में जो सामान आता था... उन्हें उतारने का काम करते थे। मुझे पता नहीं उनको क्या मज़दूरी मिलती थी। हाथ-पैर काले हो जाते थे। साइकिल से आते-जाते थे, बाद में बीमारी बढ़ी तो और तो कुछ नहीं कर पाते थे। उन्होंने तांगा-घोड़े का काम किया। मरने से कुछ दिन पहले वो भी उनके बस का नहीं रहा था।.....जहाँ तक मेरी बात है, मैं परिवार में बड़ा बेटा था, एक बेटी के बाद। दादाजी बहुत प्यार करते थे। ...उनकी हसरत थी कि मैं कुछ बनूँ। बहुत अच्छी तरह उन्होंने पाला और अपनी परिस्थिति के हिसाब से जितना बेहतर हो सकता था उन्होंने किया लेकिन परिवार की हालत बिगड़ती गई। स्थिति यह आ गयी थी कि आठवीं पास करने के बाद मेरे पिता ने मुझे पढ़ाई से रोककर वेल्डिंग का काम सीखने के लिए कहा।"*[1]

ऐसी विकट अवस्था में भी डॉ. जयप्रकाश कर्दम में पढ़ाई की जिज्ञासा समाप्त न हुई उन्होंने परिस्थितियों पर मात करते हुए अपने जीवन की अहम सीढ़ियाँ पार की।

2.15.2. शिक्षा-दीक्षा

कहते है ना कि जब परिस्थिति की मार पड़ती है तो इन्सान अपना सर्वस्व खो बैठता है। वेद युग से ही दलितों के साथ कुछ ऐसा ही होता आया है। इनका जीवन तो 'दोहरा अभिशाप' है। कुछ हालात तथाकथित सनातन वर्ण-व्यवस्था ने निर्मित किये तो कुछ नियतिवत। और जब दुहरी मार पड़ती है तो जीवन में एक बिखराव ही उत्पन्न होता है। दलितों के जीवन-क्रम में जो बिखराव है वह नियतिवत कम और सनातन समाज द्वारा निर्मित अधिक है। लेकिन डॉ. जयप्रकाश

[1] दलित साहित्य के वैचारिकी, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. २

कर्दम जी के जीवन में बड़े-बड़े चक्रवात आये, उन्होंने अपना हौसला खोने नहीं दिया। जन्मजात प्रतिभा पढ़ने की ललक ने डॉ. जयप्रकाश जी को जीवन में अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया।

डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की आरंभिक शिक्षा इनके गाँव इन्दरगढ़ी में ही हुई। माध्यमिक शिक्षा के दौरान इन्हें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इन्होंने कठोर परिश्रम से आठवीं तक की स्कूलिंग पूरी की जब नौंवी कक्षा में आये तो परेशानियों ने पुनः मुँह ऊपर उठाना शुरु किया। आठवीं उत्तीर्ण होने के बाद इनके पिताजी ने इन्हें वेल्डिंग का काम सिखने को सहा किन्तु दादाजी की डाँट-फटकार के कारण इन्हें उस काम से छुट्टी मिली। लेकिन नौंवी कक्षा की परीक्षा प्राइवेट में देने की बात कही और उच्च माध्यमिक में प्रवेश पाते ही इनके पिता ने आँखे मुँद लीं। अब तो डॉ. जयप्रकाश जी के सामने कई समस्यायें आ खड़ी हुयीं। बावजूद इसके उन्होंने सन् 1977 में उच्च माध्यमिक परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की तथा इंजीनियर बनने की उनकी तमन्ना ने आईआईटी की परीक्षा लिखने के लिये प्रोत्साहित किया।

सारी सुविधायें रहने के बावजूद सवर्णों के लड़के आईआईटी की परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाते हैं लेकिन अभावग्रस्त ज़िंदगी बिताते हुए, लालटेन की रोशनी में पढ़कर जयप्रकाश जी ने यह सफलता प्राप्त की थी किन्तु आईआईटी का शुल्क भरने की इनकी स्थिति न होने के कारण इन्हें चुप्पी साध लेनी पड़ी और अपने इंजीनियर बनने के सपने को ज़बरन दफनाना पड़ा। इनकी आर्थिक स्थिति इतनी विपन्न हो चुकी थी वे बी.एससी में भी प्रवेश नहीं ले पाये। अतः उनका एक वर्ष आर्थिक अभावों के कारण व्यर्थ ही चला गया।

जयप्रकाश जी ने अपने जीवन-संघर्ष को अपने उपन्यास 'करुणा' में प्रतिबिम्बित किया है। उन्होंने लिखा है - *"हरिशंकर दुनिया को छोड़कर चले गये थे। मगर अपने पीछे ढेर सारे बच्चों का समूह छोड़ गये थे। चार बेटे और दो बेटियाँ सबसे बड़ा रमेश था।.... सबसे बड़ा होने के कारण इस समय घर का सारा बोझ रमेश के कन्धों पर आ पड़ा था और अपने उत्तरदायित्वों का पालन उसने पूरी निष्ठा से किया था। वह खुद अभाव सहता किन्तु भाई-बहनों को कोई अभाव न खलने देता था। उनकी सुख सुविधा के निमित्त उसने वह सबकुछ दांव पर लगा दिया जो उसका*

अपना था। उनके सुख-दुःख को ही उसने अपना सुख-दुःख बना लिया था। उन्हें प्रसन्न देख वह स्वयं को काफी हल्का-फुल्का अनुभव करता था।"[1]

वास्तव में रमेश का जीवन-संघर्ष जयप्रकाश जी का जीवन संघर्ष है, जो रमेश के रुप में मूर्त हुआ है। रमेश के सन्दर्भ में उसके चरित्र की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि, *"यूँ कानूनी तौर पर वह इस सबके लिये बाध्य नहीं था। पर कहते हैं 'मानो तो सबकुछ है, ना मानो तो कुछ नहीं।' मानना आस्था पर निर्भर करता है। यदि इस तरह की आस्था उसके मन में न होती तो वह इतने बड़े परिवार की जिम्मेदारी कभी अपने सिर न लेता। ...और अब तो परिवार की मर्यादा उसके लिये प्राणों से भी बढ़कर हो गयी थी। और उस मर्यादा की रक्षा के लिए ही स्वयं को समर्पित करना ही उसका साध्य बन गया था।"*[2]

यही बात इनके चरित्र पर लागू होती है। जयप्रकाश जी ने अपने परिवार का जिम्मा लेकर अपने उदात्त चरित्र का ही परिचय दिया है। अन्यथा इस आधुनिक व्यक्तिवादी स्वार्थांध परिवेश में रिश्ते-नाते तो व्यक्तित्व विकास के लिए बाधक ही माने जाते रहे हैं किन्तु जयप्रकाश जी ने इसे दरकिनार करते हुए एक मिसाल ही कायम की है कि इस परिवेश में भी उदात्तता का परिचय दिया जा सकता है।

रंजनी तिलक ने जयप्रकाश जी के संदर्भ में लिखा है - *"जयप्रकाश जी की हर साहित्यिक रचनाएँ उनके जीवन संघर्ष से जुड़ी है। उनके लेखन में उनके जीवन के संघर्ष की झलक दिखाई देती है। उनकी प्रत्येक रचना में जो घटना है वह या तो उनके जीवन से संबंधित है या उनके किसी निकट संबंधित व्यक्ति के साथ घटी हुई है।"*[3]

जीवन-संघर्ष करते हुए ही जयप्रकाश जी ने ऐयरमैन की परीक्षा पास की तथा उन्हें नौकरी मिल गयी किन्तु अपने छोटे भाई पर ध्यान देने के उद्देश्य से उस नौकरी को त्यागपत्र दे दिया

---

[1] करुणा, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ८-९

[2] करुणा, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ९

[3] दलित साहित्य के वैचारिकी, डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृं. ५

और सन् 1979 में दिल्ली टेलिफोन ऑपरेटर के लिए आवेदन किया तथा नियुक्ति अंकों के आधार पर थी अतः इन्हें प्रतीक्षा सूची में ही जगह मिल पायी और एक वर्ष ऐसे ही बर्बाद हो गया। उनके मित्र लाजपाल ने डी.सी.एम टीम के कैप्टन ज्ञानचंद सक्सेना से बात करके उनकी नौकरी की सिफारिश की और इस प्रकार उन्हें डी.सी.एम. में नौकरी मिल गयी। किन्तु स्पिनिंग विभाग में कार्य-निष्पादन की गुणवत्ता पर ध्यान दिया जाता था और जयप्रकाश जी तो वहाँ नौकरी में रहते हुए भी पुस्तक वाचन करते रहते थे। अतः कार्य निष्पादन उचित न रहा और कालान्तर में यह नौकरी भी उन्हें छोड़नी पड़ी। इन्होंने गाज़ियाबाद के एक वकिल के पास मुंशी का काम भी किया, जिससे प्रतिमाह रु. २०० वेतन मिलता था। किन्तु वकील के यहाँ घर का काम ही अधिक करना पड़ता था। अतः यह नौकरी भी निभ नहीं सकी। तत्पश्चात वे मेरठ रोड़ पर स्थित इस्पात कंपनी में रु. १८० वेतन पर नौकरी की। इसके बाद इनके चाचा हरपाल सिंह ने स्नातक कक्षा का प्रवेश शुल्क देकर इन्हें दाखिला दे दिया। उल्लेखनीय है कि स्नातक कक्षा में ही मैक्सिम गौर्की एवं प्रेमचन्द की लगभग सारी रचनाएं पढ़ ली थी। जो आगे चलकर उनके विचारों को संयत बनाने के लिए पथ-प्रदर्शक बनीं।

इस अवस्था तक आते-आते जयप्रकाश जी ने अपनी कलम उठा ली थी और अधिकांश सामाजिक विषमता पर उनकी कलम आघात-प्रघात करने लगी। इसी के साथ गाज़ियाबाद से प्रकाशित होनेवाले 'व्हाइट क्रीमिनल' नामक दैनिक समाचार-पत्र में रिपोर्टिंग करने लगे।

स्नातक कक्षा में उन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी और दर्शनशास्त्र विषय चुने और शिक्षा की पुनः नये सीरे से शुरुआत की। आगे दर्शनशास्त्र हिन्दी और इतिहास में कला निष्णात की उपाधियाँ प्राप्त की।

इस बीच वे बिक्रीकर विभाग में कार्यरत थे किन्तु सन् 1984 में उस नौकरी को त्यागपत्र दे दिया और बैंक की नौकरी में नियुक्त हुए किन्तु उन्हें भी आगे बढ़ना था। अतः उन्होंने लोक सेवा आयोग की तैयारी की और सन् 1985 में उत्तीर्ण भी हुए किन्तु उन्हें अधीनस्थ सेवा के लिये चुना गया। जयप्रकाश जी डिप्टी कलेक्टर बनना चाहते थे, अतः पुनः सन् 1987 में लोकसेवा

आयोग की परीक्षा पास की परन्तु साक्षात्कार में असफल रहे।

2.15.3. वैवाहिक जीवन

लोक सेवा आयोग की असफलता के बाद सन् 1888 में रिश्तेदारों के दबाव के चलते उनका विवाह भारत-तिब्बत सीमा पुलिस मुख्यालय दिल्ली में लिपीक पद पर कार्यरत तारा से हो गया। विवाह के बाद तारा देवी ने दिल्ली नगर पालिका के प्राथमिक विद्यालय में अध्यापिका के पद को सुशोभित किया। तत्पश्चात् सन् 1993 में दिल्ली सरकार के उच्च माध्यमिक विद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुयी। अभाव, संत्रास के बावजूद इनका वैवाहिक जीवन सुखमय रहा। पत्नी तारा सुशिक्षित थी तथा अपनी परिस्थितियों से भली-भाँति वाक़िफ। अतः पत्नी व बच्चों ने भी लम्बे अरसे तक अभावग्रस्त से भली-भाँति वाक़िफ। अतः पत्नी व बच्चों ने भी लम्बे अरसे तक अभावग्रस्त जीवन बिताया।

बैंक की नौकरी छोड़कर आख़िरकार उन्हें संघ लोक सेवा आयोग में सहायक निदेशक के पद नियुक्ति हुई। इस तरह लम्बे संघर्ष के पश्चात् उन्हें एक सही प्लैटफार्म मिला और यहाँ से उनका रचना काल भी शुरु हुआ।

2.15.4. रचना संसार

कोई भी रचना या रचनाकार अपनी परिस्थिति की उपज होता है। जीवन के कड़वे अनुभव को वह अपनी वाणी के माध्यम से व्यक्त करता है। सृजन की बुनियाद ही रही-दर्द, पीड़ा, दुःख एवं त्रासदी इत्यादि। कवि सुमित्रानंदन पंत ने कविता के उद्भव के संबंध जो लिखा है, यहाँ वह उल्लेखनीय है -

"वियोगी होगा पहला कवि
आह से उपजा होगा गान
उमड़कर आँखों से चुपचाप

वही होगी कविता अनजान।" - **सुमित्रानंदन पन्त**

इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की हर रचना स्वानुभूत अभिव्यक्ति है। उनकी हर रचना जीवन यथार्थ को बयान करती है और दलित संत्रास को एक ऐसा धरातल प्रदान करती है जहाँ आकर दलित वर्ग की समस्याएँ स्वयं बोलने लगती हैं। और इससे भी आगे बढ़कर वह मुक्तिबोध की शब्दावली में - *'समझौतापरस्त ज़िदगी की शर्म की-सी शर्त नामंजूर'* करती है। समाज में व्याप्त न केवल जातीय बल्कि आर्थिक एवं मूलभूत अधिकारों की असमानता, संसाधनों का असंतुलित बँटवारा, राजनीतिक दम्भ इत्यादि यथार्थ निरुपण उनकी साहित्यिक विशेषता मानी जा सकती है। रचना में अंतःसलिला की भाँति एक अंडरटोन प्रवाहमान है, सुविधाभोगी वर्ग के प्रति एक आक्रोश है जो सहज दृष्टिगोचर होता है। विलियम वर्डस्वर्थ को यदि मैं अपने शब्दों में पुनः व्याख्यायित करुँ तो इनकी रचनाएँ *'ठोस भावनाओं का सहज अतिप्रवाह है।'*[1]

डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी ने मैक्सिम गोर्की और मुंशी प्रेमचंद को बारंबार पढ़ा। मैक्सिम गोर्की का उपन्यास 'माँ' और उसे पढ़कर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। गोर्की की तीन खंड़ों में प्रकाशित आत्मकथा 'मेरा बचपन', 'मेरा विश्वविद्यालय' एवं 'जीवन की राहों पर' को पढ़कर उन्हें लगाकि यदि गोर्की का जीवन समर इतना भयावह होते हुए वह मिसाल कायम कर सकते हैं तो हम भी जीवन में कोई-न-कोई बेहतर पहल कर सकते हैं। मुंशी प्रेमचंद से तो वे इतने प्रभावित थे कि उनका अनुकरण करते हुए उन्होंने भी दर्शनशास्त्र विषय का चयन किया। ऐसे महान लेखकों को पढ़ते-पढ़ते उनकी भाव प्रवणता ने अपना रंग दिखाया और इस प्रकार सन् 1983 ई. में उनकी पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'वर्त्तमान दलित आंदोलन' प्रकाशित हुई। इसके बाद इनका रचना कर्म अविरत जारी है और कई महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। इनका रचनाक्रम निम्नानुसार है -

- आलोचनात्मक ग्रंथ : 'वर्तमान दलित आंदोलन' (1983), 'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन (2004), 'हिन्दी दलित साहित्य में सामाजिक, सांस्कृतिक

[1] "Poetry is the spontaneous overflow of power the feelings." - william wordsworth

चेतना'

- विचार प्रबंध : 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा' (1991)
- कहानी संग्रह : 'तलाश' (2005)
- उपन्यास : 'करुणा' (1986), 'छप्पर' (1994)
- कविता-संकलन : 'गूँगा नहीं था मैं' (1997) , 'तिनका तिनका आग' (2004)
- संपादित एवं अनुदित : 'चमार' (1997), 'धर्मांतरण और दलित' (2002), 'बौद्ध धर्म के आधार-स्तम्भ', 'जाति : एक विमर्श' (2004)
- संपादन : 'दलित साहित्य' (वार्षिकी)
- शोध प्रबंध : राग दरबारी का समाजशास्त्रीय अध्ययन।

क्रमवार रूप में यदि इनके रचनाक्रम पर दृष्टिपात करें तो 'वर्तमान दलित आंदोलन' अस्सी एवं नब्बे के दशक में प्रचलित दलितवादी आन्दोलन के रवैये पर आलोचनात्मक रूप से कटाक्ष करती हुई रचना है।

'इक्कीसवीं सदी में दलित आन्दोलन' में विगत दशकों के दौरान प्रचलित दलितवादी साहित्यिक प्रणाली का सन्दर्भोचित विवेचन किया गया है, साथ ही मार्क्सवादी विचारधारा की भ्रांतियों पर प्रकाश डाला गया है। मार्क्सवाद पिछड़े वर्ग का हिमायती बनकर आगे आता है किन्तु वह वर्ण व्यवस्था पर प्रहार करने के बजाय वर्ग-संघर्ष को ही प्रधानता देता है। दलितों का दलन करते हुए वर्ण-व्यवस्था की नींव रखी गयी। अतः दलितों का संघर्ष वर्ग संघर्ष न होकर जाति-उन्मुलन समाजार्थिक समानता का संघर्ष है किन्तु मार्क्सवादी इसे वर्ग संघर्ष में मार्क्सवाद की ब्रांतियों एवं दलित साहित्य में बाल-साहित्य की अत्यल्पता पर विशेष कटाक्ष किया है। इसके अतिरिक्त इस पुस्तक में धर्मांतरण की मिथ्या अवधारणा, दलितों के प्रति मीडिया की उदासीनता आदि प्रमुख बिन्दुओं की आलोचना की है।

वहीं 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा' एक ऐसी रचना है जिसमें जयप्रकाश जी ने गौतम बुद्ध से लेकर कबीर, रैदास आदि महान विभूतियों के चिंतन का जिक्र करते हुए

अम्बेडकर के विचारों का विवेचन किया है। डॉ. अम्बेडकर वर्ग-भेद की अपेक्षा जाति-भेद को मिटाने पर अधिक बल दिया और इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा कि, *"जाति-विहीन एवं वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होनी चाहिए।"*[1] जबकि मार्क्स वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के पक्षधर्ता थे। और अम्बेडकर सही मायने में समाज में समता-बंधुता के समीकरण के पक्ष में थे। इस रचना में डॉ. अम्बेडकर के विचारों की पुनः प्रतिष्ठापना की गयी है और शोषण-रहित समाज की स्थापना पर बल दिया गया है। डॉ. जयप्रकाश कर्दम जीना तो परंपरावादी दलितवाद को उचित मानते हैं और ना ही समझौतावादी बल्कि उनके विचार क्रांतिकारी स्वर से भरपूर है। अतः उक्त उल्लेखित रचना में उनका रवैया परिवर्तनगामी चेतना लिए हुये है।

इनका कहानी संकलन 'तलाश' स्वानुभूत या भोगे हुए यथार्थ की भावाभिव्यक्ति है। इनकी कहानियाँ क्रांतिकारी रवैये से भरपूर है, तभी तो उनके सभी पात्र हालातों से तथा शोषक समाज के गुर्गों से सीधे होड़ लेते हैं। बर्दाश्त करना मानो उनकी फितरत में नहीं और समझौता वह हर स्थिति में करने के पक्ष में नहीं। वे यदि कुछ चाहते हैं तो आत्म सम्मान। और समाज समभाव का व्यवहार। वे तुलसीदास को एक तरह से आवाहन करते हैं। निवेदन व अनुरोध की भाषा न्याय दिलाने में असमर्थ है यह वे भली-भाँति जानते हैं। वे दया और करुणा की भीख भी तो नहीं चाहते, अभी उनकी अवस्था बेचारगी की नहीं है। वे अपना लोहा मनवाना जानते हैं। जो लोग *'ढोल, गँवार, शुद्र, पशु, नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।'* जैसा आलाप करनेवाले पुरोगामी पुरोधाओं को दो टूक जवाब देकर अनुत्तरित कर देते हैं।

उल्लेखनीय है 'तलाश' कहानी का नायक रामबीर सिंह, 'साँग' कहानी की नायिका चम्पा और 'लाठी', 'जहर' इत्यादि कहानी के नायक समाज में बुनियादी परिवर्तन के अभिलाषी है। अतः वे उस परिवर्तन के लिए अपने परम्परागत मूल्यों को तिलांजलि देते हैं और पशुता एवं बर्बरता से व्यवहार करनेवाले सवर्ण को उसी तरह पेश आते हैं। किसी ने सच ही कहा है - 'हमारे भारतीय समाज में शोषण करनेवाले से शोषण को सहनेवाला सबसे बड़ा अपराधी है।' कर्दम जी के सभी

---

[1] 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. १०

नायक इसी तर्ज पर समाज में परिवर्तन के अनुगामी हैं। दलितों के जीवन यदि बदलाव लाना हो तो सर्वप्रथम उनकी चेतना में परिवर्तन लाना होगा और परंपरावादी समझौतावादी रवैया त्यागना होगा तभी दलितों के जीवन में परिवर्तन हो सकता है।

सीमन द बउआर ने अपनी रचना 'दि सेकंद सेक्स' में लिखा है कि 'हमारे समाज में औरत पैदा नहीं होती बल्कि बनायी जाती हैं।' इसे मैं दलितों के संबंध में भी युक्तियुक्त समझाता हूँ। जन्मना कोई दलित नहीं होता, उसे बनाया जाता है किन्तु हमारी वर्ण-व्यवस्था ने जाति को जन्माधारित बनाकर दलितों को जन्मना दलित बना दिया है।

डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की कहानी में एक ओर स्वर मुखरित हुआ है, वह है यहि हम समानता चाहते हैं तो पहले स्वयं से फिर घर-परिवार में समानता का व्यवहार करें। लिंगभेद को भी मिटाना आवश्यक माना गया। हर घर में स्त्री-दलित ही रह जायेगी, अतः स्त्री को भी समानता देनी चाहिए।

इस प्रकार इनकी कहानियाँ क्रांतिकारी स्वर से भरपूर है। परिवर्तन कमोबेश नहीं बल्कि आमूलचूल परिवर्तन हो, यह हर कहानी का अंडरटोन है।

कथा-साहित्य में इनका पहला उपन्यास 'करुणा' गोतम बुद्ध के परिव्राजक धर्म को एक भिक्षुणी के माध्यम से पुनःस्थापित करने का यत्म है। लेखक ने उपन्यास के आत्मकथ्य में लिखा है - *"यद्यपि उपन्यास की नायिका 'करुणा' एक भिक्षुणी है, जिसके इर्द-गिर्द ही सारा कथानक कथानक घूमता है। किन्तु वास्तव में लेखक ने कभी किसी भिक्षुणी को अपनी आँखों से नहीं देखा है। प्राचीन बौद्ध साहित्य में भिक्षुणियों का उल्लेख हुआ है कि पुरुषों के बाँति नारियाँ भी धर्म में प्रवृजित हुई है। तथा उन्होंने भी धर्म के हेतु बड़े से बड़ा त्याग किया है। भिक्षुओं की भाँति भिक्षुणियाँ भी श्रमण जीवन व्यतीत करती थीं तथा संघ में रहती थी। भिक्षुणी के रुप में करुणा की कल्पना का आधार यही प्राचीन साहित्य है।"*[1]

---

[1] 'करुणा' , डॉ. जयप्रकाश कर्दम, देखिए उपन्यास का 'आत्मकथ्य'।

दरअसल यह लघु-उपन्यास न केवल बुद्ध को स्मरण के उद्देश्य से लिखा गया बल्कि यह समाज की विद्रुपताओं को परत-दर-परत खोलने का यथेष्ट प्रयास है। 'कल्याणी' मानव के कल्याण की कामना है। इसके माध्यम से लेखक एक ऐसे समाज की अपेक्षा कर रहा है *"जो न्याय समता और भ्रातत्व की भावनाओं पर आधारित हो। जहाँ शोषण न हो, ज़ोर ज़बरदस्ती न हो, अन्याय न हो। जिस समाज के मनुष्यों का उच्च नैतिक चरित्र हो। जहाँ स्वार्थपरता न हो, धोखेबाजी न हो, भ्रष्टाचार न हो तथा जहाँ नेताओं, सरकार का एक मात्र उद्देश्य बहुजन हिताय बहुजन सुखाय हो।"*[1] इस प्रकार लेखक समतामूलक समाज-व्यवस्था के सपने को साकार करने की अभिलाषा रखता है।

इनका दूसरा उपन्यास 'छप्पर' पहले उपन्यास की तुलना में शिल्प एवं संरचना की दृष्टि से उत्तम कोटि का है। इसमें लेखक ने व्यक्ति के प्रति विरोध न दर्शाकर व्यवस्था के प्रति विरोध प्रकट किया है। उपन्यास का पात्र चन्दन दलित वर्ग के तमाम नवयुवकों की अगुवाई करनेवाला युवक है। वह संवैधानिक अधिकारों का पालन करते हुए सम्मान एवं स्वाभिमानपूर्वक जीवन जीना चाहता है, स्वेच्छानुसार व्यवसाय चुनना चाहता है। यही वर्तमान दलित युवक भी चाहता है। लेखक ने दलित नवयुवकों के अंर्तमन का बाह्यांतरण ही प्रस्तुत किया है।

लेखक ने ईश्वर की परंपरागत आस्था एवं सवर्ण वर्ग के दम्भ पर करारी चोट है। लेखक ने ईश्वर के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लगाया है और व्यक्ति के कर्म पर बल दिया है। मुर्तिपूजा का बहिष्कार भी उपन्यास के शब्द-शब्द में गुंजायमान है। यज्ञादि के विरोध के जरीये सवर्णों के पाखण्ड का पर्दाफाश किया है। लेखक ने वर्ण-व्यवस्था व ब्राह्मणवाद पर करारी चोटकरते हुए लिखा है - *"धन्य हो भारत की समाज व्यवस्था कि यहाँ पर ब्राह्मण भूखा मर ही नहीं सकता। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी रूप में ब्राह्मण उससे टैक्स वसूल करता है। चाहे कितना भी अशिक्षित, अयोग्य और अक्षम क्यों न हो लेकिन एक ब्राह्मण, पण्डित पुरोहिताई*

[1] 'करुणा' , डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ६८

करके सुख और सम्मान से जी सकता है।"[1]

उपन्यास कई नवीन सन्दर्भों में व्यवस्था की समीक्षा करता है। दलित के लिए सर्वप्रथम सामाजिक प्रतिष्ठा विकसित करने की आवश्यकता पर ज़ोर देता है। 'छप्पर' अपने आप में दरिद्रता का प्रतीक है, जिस प्रकार वर्षा ऋतु में छप्पर टपकती है ठीक उसी प्रकार दलित का जीवन भी है। लेखक की प्रतीकात्मकता ने उपन्यास में कई रंग भर दिये हैं।

'गूंगा नहीं था मैं' और 'तिनका तिनका आग' में भी जयप्रकाश जी का रवैया एक क्रांतिधर्मा रचनाकार का ही है। वे चाहते हैं कि दलित समाज की प्राचीनकाल से होती आ रही दुरावस्था अब खंडित हो और नवीन मूल्यों से रचित नवभारत का निर्माण हो। शमशेर बहादुर सिंह ने लिखा है ना कि -

"मैं जानता हूँ
लिखने से कुछ नहीं होता
फिर भी
मैं लिखना चाहता हूँ।"

ठीक इसी तर्ज पर किन्तु एक आशा और विश्वास के साथ कि लिखने से समाज का कायापालट होसकता है। इसी ठोस धारणा के साथ उन्होंने आरक्षण, दासता, मानसिक उत्पीड़न, संत्रास इत्यादि विषयों को लेकर रचना कर्म हुआ है। इस दृष्टि से उनकी काव्य-कला में एक सपाट बयानीपन है किन्तु व्यवस्था की नींव में सेंध लगाने में ऐसी शब्दावली का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक हो गया है।

'धर्मांतरण और दलित' में लेखक ने धर्मांतरण के संबंध में समाज में प्रचलित विविध भ्रांतियों को दूर करने का प्रयास किया है। धर्मांतरण दलितों के बीच एक भ्रामक अवधारणा बनी हुयी है, अतः लेखक ने अपने संपादन के माध्यम से इस भ्रांतियों के उजागर किया है। और

---

[1] 'छप्पर', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३१

धर्णांतरण को सकारात्मक दृष्टि से देखने की आवश्यकता बताया है।

वहीं 'चमार' एक ऐसी रचना है जो चमार जाति की दयनीय स्थिति का चित्रण करती है। चमारों में बुनियादी त्रुटी उनकी अशिक्षा है और यही वजह है कि वे अन्धविश्वास के शिकार रहे हैं। वर्तमान में कर्म को ही आधार मान लें तो कोई भी परंपरागत व्यवसाय से जुड़ा नहीं है। अर्थात् ब्राह्मण अब होटल चलाते, चप्पल दुकान इत्यादि का व्यवसाय करते दिखाई देंगे। ठीक कुछ ऐसा ही अन्य जातियों के साथ भी है किन्तु एक 'चमार' ऐसी जाति है जो आज भी अपने परंपरागत पैतृक व्यवसाय से जुड़ी हुई है। आधुनिक युग की चकाचौंध में भी उसके पुरातन विचार, कुछ मान्यताएँ एवं विश्वास अड़िग हैं। शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने नवीन पीढ़ी में कुछ नवीन जोश व उमंग भर दिया है। बहरहाल जयप्रकाश जी की यह अनुदित पुस्तक चमार जाति का एक तरह से 'तथ्यपरक सांख्यिकीय' अध्ययन है।

लेखक की अन्य रचना 'बौद्ध धर्म के आधार स्तम्भ' एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज है जिसमें महात्मा गौतम बुद्ध के जन्म से लेकर वर्तमान बौद्ध परिव्राजक दलाई लामा तक की परम्परा का विवेचन मिलता है। ये सभी बौद्ध के आधार स्तम्भ हैं। बौद्ध धर्म का देशकाल से बाहर निकलकर विश्वरुप बन जाने के पीछे उसके सिद्धान्तों का व्यापक स्तर पर मानवता का पक्षधर्ता होना है। लेखक ने धर्म की विशेषता बताते हुए आधार-स्तम्भों का अनुशीलन किया है।

वहीं 'जाति : एक विमर्श' परंपरा से चली आ रही जाति व्यवस्था पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। जाति का दम्भ समाज में विभेद का वातावरण बनाये रखता आया है और पिछड़ी जातियों के उद्धार में सदैव रोड़ा बनता रहा है। भारतीय जाति व्यवस्था ने निम्न वर्ग की तथाकथित दलित जातियों का कभी विकास होने ही नहीं दिया। जाति-व्यवस्था ने यदि किसी के विकास को अवरूद्ध किया है तो वह है दलित वर्ग। इस अव्यवस्था ने मुष्य के साथ कभी मनुष्यता का व्यवहार ही नहीं किया। अतः जाति भारतीय समाज में सबसे बड़ा 'मिथ' है जिसे तोड़ना और उसका टूटना विशाल जन समुदाय के सामाजिक हित में है। यह पुस्तक जाति के परंपरागत ढाँचे पर प्रहार करती है। आचार्य भीमसेन ने डॉ. अम्बेडकर के वक्तव्य को उद्धृत करते हुए लिखा है कि, *"गुलाम को गुलाम*

होने का अहसास दिलाइये, वह उसके प्रतिरोध में भड़क उठेगा। दलित साहित्य दलितों को उनके दलित होने का अहसास दिला रहा है। इसके ऐतिहासिक और वर्तमान कारणों से अवगत करा रहा है। तथा इससे मुक्ति के रास्ते भी बता रहा है।"[1] अतः दलित साहित्य को और भी अधिक पुख्ता बनाने में जाति विमर्श का अपना विशेष योगदान होगा।

इसके अतिरिक्त जयप्रकाश कर्दम जी दलित साहित्य वार्षिक पत्रिका का संपादन कार्य में लगे हुए हैं। इस वार्षिकी की माध्यम से वे दलित जनचेतना को बृहद प्लैटफार्म मुहैया करना चाहते हैं। डॉ. अम्बेडकर ने साहित्यकारों से अपील करते हुए कहा है कि, *"मुझे साहित्यकारों से अपनी सारी शक्ति लगाकर कहना है कि आप अपने साहित्य निर्माण द्वारा उदात्त जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित करें। अपने विचार संकुचित और सीमित न रखें, उन्हें विशाल बनाए, अपनी वाणी को चहार दीवारी से बाहर निकलन् दा। अपनी लेखनी का प्रकाश अपने आँगन में ही न रोक लें। उसका तेज गाँव-गाँव के गहन अंधकार को दूर करने के लिये और दुःखियों का अपना संसार है, उनके दुःख उनकी व्यथा समझे और अपनी सृजन शक्ति उनके जीवन को उन्नत करने के लिए होम दें यही सच्ची मानवता होगी।"*[2]

अम्बेडकर के उक्त विचारों को जनमन में प्रचारित करने का कार्य 'दलित साहित्य' के ज़रिए हो रहा है।

इस प्रकार डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की रचनाएँ दलित जनमानस को आंदोलित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती रही हैं। उनकी भाषा-शैली ओजस्वी है और सीधे जीवनानुभूति को शाब्दिक वाणी प्रदान करने का अहम कार्य करते हुए उन्होंने दलितों को जागृत होने का संदेश सुनाया है। इस दृष्टि से जयप्रकाश जी की रचनाएँ वर्तमान संदर्भ में दलित समस्याओं का विवेचन करती हैं।

जयप्रकाश जी का शोध-प्रबंध 'रागदरबारी का समाजशास्त्रीय अध्ययन' इसी श्रृंखला में

---

[1] 'दलित साहित्य', सं. आचार्य भीमसेन, पृ. २

[2] 'दलित साहित्य के वैचारिकी', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. १६

आनेवाली किन्तु एक संश्लिष्ट रचना है। अब तक अनेक नामवर आलोचकों ने 'रागदरबारी' को आंचलिक उपन्यास की कोटि में रखा किन्तु जयप्रकाश जी इसे आंचलिक उपन्यास न मानकर देश की अंदरुनी व्यवस्था का सजीव प्रतिरुप के रुप में देखते हैं। वास्तविकता भी यही है कि यह उपन्यास सम्पूर्ण देश की व्यवस्था के यथार्थ को प्रतीकात्मक रुप में व्यक्त करता है। यदि शिवपालगंज का समाजशास्त्र देखें तो मानो लगता है यहाँ की चुनाव की प्रणालियाँ, संस्थाओं पर नियंत्रण करने के कुटिल दांव पेंच, विविध संस्थाओं का स्वरुप, अखबार, विज्ञापन, सरकारी अधिकारी इन सबके माध्यम से शिवपालगंज का समाजशास्त्र ही तो अंकित हुआ है।

मैनेजर पाण्डेय ने साहित्य के समाजशास्त्र के संबंध में लिखा है कि, *"साहित्यिक समाजशास्त्र का लक्ष्य कृति की केवल व्यख्या नहीं। यह काम दूसरी आलोचना पद्धतियों में भी होता है। उसका लक्ष्य साहित्यिक कृति की सामाजिक संदर्भ और सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है।"*[1]

इस लिहाज से जयप्रकाश जी ने रचना के सामाजिक संदर्भों और उसके सामाजिक अस्तित्व की पड़ताल भली-भाँति की है। एल.बी.राम 'अनंत' ने इस शोध-प्रबंध के संबंध में लिखा है - *"धर्म, सम्प्रदाय, राजनीति आदि सभी आर्थिक हित, एकाधिकार, शोषण आदि के लिये परिचालित रहते हैं। श्रीलाल शुक्ल ने शिवपाल गंज के जीवन के रूप में जिस भारतीय जीवन को चित्रित किया है, वह पूरे भारत का एक सही नमूना है। इस चित्र को प्रस्तुत करके श्रीलाल शुक्ल ने इसके सुधार का कोई मार्ग नहीं सुझाया है। उन्होंने तो जानलेवा फोड़ा, कैंसर या अन्य भयंकर रोग के रुप में भ्रष्टाचार और अनैतिकता को उसके यथार्थ रूप में अभिधा शक्ति द्वारा नहीं अपितु लक्षणा-व्यंजना शक्तियों द्वारा प्रस्तुत कर दिया है। वे प्रत्येक को प्रेरणा देते हैं कि वह पूरी शक्ति और दृढजता से इसका ऑपरेशन करने में जुट जाय नहीं तो देश तो मरेगा ही वह भी रोने के लिये नहीं बचेगा। डॉ. जयप्रकाश कर्दम का यह अध्ययन इस प्रेरणा को बल देकर प्रखर करेगा, आशा यही है।"*[2]

---

[1] साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका', मैनेजर पाण्डेय, देखिए प्रस्तावना में पृ. १२

[2] 'रागदरबारी का समाजशास्त्रीय अध्ययन', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ६-७

जयप्रकाश जी ने डॉ. अनंत की आशा को व्यर्थ जाने नहीं दिया है। वे 'रागदरबारी' की रचनात्मकता में छिपे उन तमाम तत्वों की खोज की है जिससे पाठक अनभिज्ञ रहा है। डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर के शब्दों में *"वास्तविकता के अनपहचाने, अपरिचित पहलू"*[1] को अन्वेषित करते हुए समाज के पक्ष में सही रूपाकार दिया है। इसमें केवल जातिवादी दृष्टिकों नहीं है बल्कि नवीन अर्थों में जनोन्मुख दृष्टिकोण की सकारात्मक अभिव्यक्ति है। 'राग दरबारी' की अब तक की गयी व्याख्या से अतिशय भिन्न किन्तु तथ्यपरक एवं रोचक और कई विवादों को अनावृत्त करने की क्षमता से भरपूर।

इस प्रकार कर्दम जी की रचनाएँ अपने आप में एक नवीन चेतना को व्याख्यायित करती हैं। वे किसी भी वाद के घेरे में न जाते हुए रचनाओं में अपनी एक विशिष्ट सोच का परिचय देते हैं। सफल लेखक की यह अन्यतम विशेषता है कि वह हर हालात में स्वयं को पूर्वाग्रह एवं दूराग्रहों से बचाए रखता है, कर्दम जी के संबंध में यह तथ्य सही साबित होता है।

[1] 'उपन्यास : स्थिति और गति', चन्द्रकान्त म. बांदिवडेकर, पृ. 284-296 विस्तार के लिए देखिए, चन्द्रकान्त बांदिवडेकर की राग दरबारी की आलोचना।

निष्कर्ष

दलित साहित्य आंदोलन से पूर्व की रचनाओं में भी दलितवादी स्वर दृष्टिगोचर होता है। दलित आंदोलन जिन परिस्थितियों में उपजा वह समय आज़ादी के बाद का समय था और दलितों पर लगातार अन्याय होता जा रहा था। दलितों के प्रति गांधीजी का दृष्टिकोण सोची-समझी रणनीति की तरह था। अंग्रेज़ों के आने से भारतीय समाज में हस्तक्षेप हुआ उससे दलितों के जीवन को एक नई रोशनी मिली।

दलित आंदोलन एकाएक उत्पन्न होने वाला आंदोलन नहीं है। इसकी नींव तो मध्यकाल से रखी गयी थी। लेकिन प्रचार-प्रसार २० वीं शताब्दी में हुआ और फिर दलितों को लेकर तमाम तरह के विचार-विमर्श होने लगे। डॉ. अम्बेडकर के आगमन से फुले ने जो कार्य आरंभ कर दिया था उसे एक नया रूख मिला। दलितों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने में अम्बेडकर ने अथक प्रयास किए। दलित पैंथर ने भी दलितवादी आंदोलन को मज़बूत बनाने में अपना सक्रिय योगदान दिया।

फिर दलित साहित्य एक नयी शाखा खुल गयी और दलितों के उत्थान में एक बड़ी लहर आयी। जनवादी, प्रगतीवादी साहित्य की तरह ही दलित साहित्य भी दरअसल मानसिकता बदलने का साहित्य है। प्रेमचन्द से पूर्व तथा प्रेमचन्द के युग में लेखकों ने सवर्ण लोगों की मानसिकता को बदलने का प्रयास किया था। लेकिन स्वानुभूति के अभाव में दलितों के जीवन का वैसा वर्णन नहीं हो पया जैसा होना अपेक्षित था। बेशक प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में दलितों की समस्या को उजागर किया है और डंके की पीट की भाँति अपनी रचनात्मक सरोकारों से समाज में परिवर्तन करने का प्रयास किया था। लेकिन कालांतर में दलितों द्वारा लिखी गयी रचनाओं के बरक्स उनकी रचनाओं का स्वर फिका पड़ गया।

दलित साहित्य मानव-मानव की बराबरी और सामाजिक न्याय की मांग करने वाला, सामाजिक उत्पीड़न और दलन-दमन के विरूद्ध तर्क करने वाला, विज्ञान पर आधारित विद्रोह, नकार और आक्रोश का प्रतिबद्ध नायक है। प्रेमचन्द की रचनाओं ने यह नायकत्व नहीं निभाया और दलित चरित्रों का प्रतिकार भी वहाँ मौजूद नहीं है। अतः वह दलितों के दर्द को आवाज़ देने वाला साहित्य अवश्य है लेकिन दलितवादी साहित्य की कोटि में नहीं आता।

दलित साहित्य भय, भगवान और भाग्य को नकारता, वर्जनाओं की विकृत परंपरा, रूढ़ि, आडम्बर और अंधविश्वास के प्रभंजन का साहित्य है। दलित साहित्य का सृजन मात्र व्यक्ति नहीं, समाज के सोच एवं व्यवहार में बदलाव की प्रक्रिया के लिए है। और कर्दम जी की रचनाएँ इस प्रक्रिया को भलीभाँति प्रवाहित करती हैं। पुराने प्रतिमान-मिथक-मुहावरों को नकारकर समाज की एक नवीन स्थापना के लिए उद्यत है।

कर्दम जी का जीवन इस बात का प्रमाण है कि उन्हें काफ़ी यातनाओं में अपना बचपन बिताना पड़ा। अतः दलितवादी साहित्य की सार्थक मांग - 'स्वानुभूत यथार्थ' को कर्दम जी की रचनाओं में सहजवत देखा जा सकता है। दलित आंदोलन ने आज समाज को एक नवीन दिशा प्रदान की है तथा युवा पीढ़ी की सोच में आमूलचूल के तर्ज पर परिवर्तन किया है।

तृतीय अध्याय

दलित आंदोलन : डॉ. जयप्रकाश कर्दम का काव्य

प्रस्तावना

3.1. ब्राह्मणवाद पर प्रहार

3.2. असमानता और अन्याय की ख़िलाफत

3.3. पुरातन मूल्यों का निषेध

3.4. शोषण का सामना

3.5. शिक्षा की छटपटाहट

3.6. आरक्षण

3.7. ईश्वरवादी मिथ्या चेतना पर प्रहार

3.8. वर्णवाद की आलोचना

3.9. स्वतंत्रता के दम्भ का पर्दाफाश

3.10. दलित नारी जीवन का सजीव चित्रण

3.11. मौलिक अधिकारों के प्रति सजगता

3.12. धर्मग्रंथों का बहिष्कार

3.13. दलित अस्मिता की खोज

निष्कर्ष

दलित आंदोलन : डॉ. जयप्रकाश कर्दम का काव्य

प्रस्तावना :-

कविता जीवन और जगत की सरल एवं तरल, स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति है। प्राचीन काल से मानव ने कविता को आधार बनाकर ही अपने भावों की अभिव्यक्ति की है। किन्तु, उस अभिव्यक्ति में पारदर्शिता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। वेद-वेदादि युग से ही ज्ञान के गढ़ पर ब्राह्मण वर्ग ने अपना सिंहासन जमा लिया था, हाल-हाल तक उस पर उन्हीं का एकाधिपत्य रहा है। अतः लगभग सभी रचनाओं में एकरसता ही दिखाई देती है। कहने को तो 'सहितस्य भाव साहित्यम' कहा गया किन्तु हित की कामना भी केवल सवर्ण समाज के खाते में जमा होती रही, पिछड़ा वर्ग उस कामना से भी वंचित ही रहा। वह इस हित की एषणा से दरकिनार कर दिया गया। कहते हैं ना कि जीवन एवं जगत एक चक्र है और इस चक्र में सबको परिक्रमा करना ही पड़ता है।

आधुनिक काल के आरंभ के बाद भी, ईसा २० वीं सदी के आरंभिक २-३ दशकों के अंत तक दलित वर्ग शिक्षा एवं तमाम मूलभूत अधिकारों से वंचित रहा है। किन्तु डॉ. अम्बेडकर, ज्योतिबा फूले के प्रयासों से वर्तमान में दलितों को अपने अधिकार प्राप्त होते हुए दिखाई पड़ते हैं पर समाज में आज भी भेदभाव विद्यमान दिखाई देता है। जो अधिकार मिले हैं वे भी समानता की भावना से नहीं बल्कि आरक्षण की अनुपात में प्राप्त हुए हैं।

समतामूलक समाज की अवधारणा तो आज भी भारतीय समाज में केवल काल्पनिक या भ्रामक अवधारणा है, ऊपरी तौर पर समानता का जो आवरण दिखाई दे रहा है वह फंतासी से बढ़कर और कुछ नहीं। भारतीय समाज व्यवस्था में समतामूलक समाज की अवधारणा मृगतृष्णा के समान है। जिस तरह भारत और पाकिस्तान कभी मित्रता के साथ व्यवहृत नहीं हो सकते, ठीक उसी प्रकार सवर्ण और अवर्ण के बीच की खाई को पाटना संभव नहीं है। यह लम्बे अरसे से चला आ रहा संघर्ष है और सवर्ण समाज 'हार' की नहीं 'जीत' की मानसिकता की उपज है, ऐसे में वह अड़ियल सा व्यवहार करता है। भारतीय समाज व्यवस्था की वास्तविकता में एक झलक यदि लें तो यहाँ हर तथाकथित निम्न या पिछड़ी कहलाई जानेवाली जाति अपने से निम्न-पिछड़ी जाति को

खोज लेती है।

उल्लेखनीय है एम. एन. श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' में लिखा है - *"१९२१ की भारतीय जन-गणना रिपोर्ट से पता चलता है कि जब उत्तर भारत के अहीरों ने अपने-आपको क्षत्रिय कहने और यज्ञोपवित पहनने का निश्चय किया तो उनके कार्य से प्रभुतासंपन्न उच्च जातियों में बड़ा रोष फैला था। उदाहरण के लिए, उत्तर बिहार में, उच्च जातीय राजपूतों और भूमिहार ब्राह्मणों ने अहीरों को द्विजों के चिह्न धारण करने से रोका था, जिसके परिणामस्वरूप मारपीट और मुकदमेबाज़ी की नौबत आ गई थी।"*[1]

हटन ने भारत के दक्षिणी छोर पर रामनाड जिले की एक प्रभु जाति कल्लर औ हरिजनों के बीच ऐसे ही संघर्ष का वर्णन किया है - "दिसम्बर १९३० में रामनाड में कल्लरों ने आठ निषेध घोषित किये, जिनका उल्लंघन करने पर कल्लरों द्वारा बाह्य हरिजनों के साथ मारपीट होती थी, उनकी झोंपड़ियाँ जला दी जाती थीं, खलिहान औ दूसरे सामान को नष्ट कर दिया जाता था और पशु लूट लिए जाते थे।... इस भाँति प्रभु जातियाँ अपने प्रभाव-क्षेत्र के बीच संरचनात्मक दूरी बनाए रखती थीं।"[2] ऐसे में भेदभाव की खाई को पाटना दुष्कर कार्य ही होगा। अज़गर खान ने भारतीय संस्कृति एवं विविधता में एकता के संबंध में लिखा है - "India is a country of rich cultural heritage with different colours, religious, languages, castes and way of life. But there is always unity in diversity. Our Spirit of unity got us independence. And the same is needed for continuous growth and welfare of the Nation. Only when there is peace, we can devlop into a great Nation."

"There is great diversity in our traditions, manners, habits, tastes and customs, each and every religion of the country portrays different customs and traditions. But though we speak different languages yet we are all Indians. 'Unity in Diversity' has been the distinctive feature of our culture. "United we can

---

[1] 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन', एम. एन. श्रीनिवास, पृ.28

[2] 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन', एम. एन. श्रीनिवास, पृ.28-29

Stand, Divided we fall."

लेकिन दुर्भाग्य कि बात है कि हम कभी एक हो ही नहीं पाये। कभी जाति के नाम पर तो कभी धर्म के नाम पर हमने खुद अपनी खाईयाँ बढ़ा ली हैं। और हर बार बाहरी आक्रमकों ने इन खाईयों का फायदा उठाकर हम पर हुकूमत की है। शक, हुण, यवन फिर डच, पोर्तुगीज, फ्रेंच और एक लम्बे अरसे तक अंग्रेज़, सबने अपने-अपने सिक्के आज़मा लिए और हम ग़ुलामी में भी एक-दूसरे को नीचा दिखाकर खुद ही लढ़ते रहे। हम कभी एक सूत्र में बँध ही नहीं पाये। भारत को सोने की चिड़िया कहा गया पर हमारे भेदभावों के चक्रव्यूह में कब राख हो गया पता ही नहीं चला और रही सही कसर उक्त निर्दिष्ट आक्रांताओं ने पूरी कर दी।

ग़ौरतलब है कि बड़े-बड़े लेखकों ने बुनियादी अर्थात् 'Ground Level' की बात ही नहीं की। 'विविधता में एकता' कहने में जितना अच्छा लगता है उससे कई गुणा ज़्यादा हवाई लगता है। ज़मीनी सच यह है कि भारत में कभी भी एकता की बात नहीं की जा सकती। और आमूलचूल परिवर्तन तो कदापि संभव नहीं, यदि इस बात को मानकर चलता है कि परिवर्तन होगा और सवर्ण और अवर्ण की खाई भी दूर होगी तो वह एक मिथ्यास्वप्न ही होगा। आज भी कभी रंग, रूप, प्रदेश, जाति, धर्म, संप्रदाय, लिंग, वर्ग एवं भाषा इत्यादि स्तरों पर हमने खुद को विभाजित कर रखा है, ऐसे में एकता की कामना मिथ्या ही तो होगी। आनेवाला समय तो अधिक विभेद का होगा। शोषण परवान चढ़ेगा और पुनः शोषितों का पददलन होगा। ऐसे में जयप्रकाश कर्दम जी की कविता 'दमन की दहलीज पर' की कुछ पंक्तियाँ अनायास याद आ जाती हैं -

"तमाम विरोधों और दबावों के बावजूद
जाति के जंगल का यह निरीह जीव
अपनी मुक्ति के लिए अड़ा है,
अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए लड़ा है
और आज
तमाम हौसलों के साथ
हाथों में खंजर लिए वह

दमन की दहलीज पर खड़ा है

औ ललकार रहा है चीखकर

बाहर निकल हरामजादे

तेरी ऐसी-तैसी... ।"[1]

बहरहाल वर्तमान परिदृश्य का जायजा लेकर कहा जा सकता है कि डॉ. अम्बेडकर ने समता की भावना को लेकर सबको न्याय दिलाने में जो अथक प्रयास एवं परिश्रम किये, अन्याय-अत्याचार को सहा उसका फल वर्तमान दलित पीढ़ी को अंशतः ही सही प्राप्त हो रहा है। यद्यपि 'वर्णवाद का पहाड़ा' अभी भी समाज में विद्यमान है।

ग़ौरतलब है कि अम्बेडकर से पूर्व दलित समाज पर अनगिनत अत्याचार हुआ करते थे। छुआछूत जैसी तर्कहीन बातों को सहते-सहते उनका मनोबल तक छिन्न-विच्छिन्न हुआ था। शिक्षा एवं अभिव्यक्ति जैसे मूलभूत अधिकारों से यह वर्ग वंचित रहा, अतः लम्बे अरसे तक यह वर्ग मौन बनाए रहा। आज दलित आंदोलन के तीव्र एवं उग्र रूप ने दलितों को बेहतर जीवन जीने के लिए सभी मार्ग खोल दिये हैं और देखा जा रहा है कि दलित साहित्य लेखन प्रचुर मात्रा में होने लगा है।

दलित साहित्य खासकर काव्य सृजन में प्रकट होता दीख पड़ा है। कविता के रूप में रचित दलित साहित्य में अधिकतर रोज़मर्रा के अनुभव ही सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक और व्यावसायिक जीवन के दलित सर्जकों को अपने और निजी संवेदन के रूप में प्रभावशाली महसूस होते हैं। वर्तमान काव्य--प्रवाह से अलग हट कर नया मार्ग खोजने वाली दलित कविता ज़्यादातर अछांदस रूप में बढ़ती दिखाई पड़ती है। दलित सर्जकों ने अपनी प्रबल चेतना को गीत, ग़ज़ल और मुक्तक जैसे काव्य-रूपों में भी व्यक्त किया है। वर्तमान काव्य परंपराओं से नाता तोड़ कर प्रकाश में आई हुई ये कविताएँ ताजगी पूर्ण भाव-संसार का अनुभव कराती हैं। उनमें भावाभिव्यक्ति का उन्मेष प्रतीत होता है।

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.35

दलित विद्रोह की कविताएँ सन् १९६५ के लगभग बाबूराव बागूल ने 'फकत' लघुपत्रिका में प्रकाशित की थी, जिन्हें दलित कविता का आरंभ बिन्दु माना जा सकता है। लेकिन दलित कविता का अग्रगामी कवि नामदेव ढसाल ही है। ढसाल का पहला संकलन 'गोलपिठा' सन् १९७२ में प्रकाशित हुआ। इस संकलन ने मराठी साहित्य जगत् में पहला 'दलित प्रस्फोट' कर मध्यमवर्गीय संवेदना पर ज़बरदस्त आघात किया।

यशवन्त मनोहर की कविता का दलित-काव्य परंपरा में अपना विशेष स्थान है क्योंकि दलित कविता में बनी हुई घुटन को मुक्त करने का काम मनोहर की कविता ने किया। उनके कविता-संग्रह 'उत्थान गुफा' ने दलित कविता में अपनी अलग पहचान बनाई है।

मराठी दलित कविता का लक्षणीय परिवर्धन करने वाले कवियों में दया पवार, अर्जुन डांगले, जे. वि. पवार, वामन निम्बालकर, प्रह्लाद चेंदवणकर, केशव मेश्राम, भीमसेन देठे, नारायण सुर्वे के बाद दलित कविता का दायरा विस्तारित करने वाले प्रखर युवा कवि प्रकाश जाधव, शरणकुमार लिम्बाले, भगवान भोइर, अनिल काम्बले, बापू जगताप आदि का समावेश होता है। ज्योति लांजेवार, मीना गजभिये, मलिका अमरशेख के बाद अब सुरेखा भगत, संध्या यशवंत, उषा किरण, अत्राय जैसी नई पीढ़ी की कवयित्रियाँ आ रही हैं, जिन्होंने वर्ग-वर्ण संघर्ष को जोड़ दिया है। दलितों से भी पद दलित नारी की पहचान हो रही है।

मराठी दलित साहित्य के प्रभाव स्वरूप हिन्दी भाषा में भी दलित साहित्य का आंदोलन शुरु हुआ। हिन्दी दलित कविता जीवन की नई लय लेकर आई है - प्रामाणिक यथार्थ लेकर आई है - क्रांति-मूलक अभिव्यक्ति लेकर आई है। इस कविता में वेदना, यातना, व्यथा, विद्रोह, स्वानुभव, समस्या, वास्तववाद, अछूती संवेदना और अस्मिता की खोज है। इस कविता ने पुराने रूपकों और प्रतीकों की परम्परा को छोड़ा है और अपनी एक नवीन पहचान बनायी है। गिद्ध, नाग, कुत्ता, कौआ, चमगादड़, गरूड, ऊँट, कुलडी, तीसरी बांह, काला सूरज, काला लहू जैसे नए प्रतीक दलित कविता ने अपनाएं हैं। दलित कवियों ने मिथक के सवाल को भी उठाया है। अब तक हिन्दु धर्म ने राम-सीता, कृष्णा-राधा वगैरह को ही अवतार और देवता का रूप दिया था। लेकिन दलित कविता में रावण, शंबूक, एकलव्य, कर्ण, गाँधारी, तुंगभद्रा जैसे पात्रों के लिए सहानुभूति इस विद्रोह

की विशेषता है।

जयप्रकाश कर्दम की कविताएँ दलित संवेदना एवं चेतना से भरपूर हैं। इनकी कविताओं में ब्राह्मणवाद पर प्रहार, असमानता औ अन्याय की ख़िलाफत, क्रांतिकारी रवैया, शोषण का सामना, शिक्षा की छटपटाहट, आरक्षण, हिंसा बनाम अहिंसा, ईश्वरवादी मिथ्य चेतना पर प्रहार, वर्णवाद की आलोचना, स्वतंत्रता के दम्भ का पर्दाफाश, अंतर्जातीय विवाह, दलित दमन, मौलिक अधिकारों के प्रति सजगता, दलित नारी जीवन का सजीव चित्रण, धर्मग्रंथों का बहिष्कार, दलित अस्मिता की तलाश और पर्यावरण एवं प्रदूषण इत्यादि पर कवि की महीन एवं काव्यात्मक आलोचनात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है।

भाषा शैली की दृष्टि से इनकी कविताएँ ओज गुण से भरपूर और ठेठ बयानी हैं। 'दो टूक बयानी' इनकी काव्यगत विशेषता मानी जा सकती है। किसी छंद के बहाव में ना बँधकर मुक्त रूप से प्रवाहित हुई हैं। सरल भाषा में यदि कहें, तो इनकी कविताएँ शहर के सड़क के किनारों पर या बाग-बगीचों में सजावट के उद्देश्य से रोंपे गये पौधों की तरह काट-कूटकर आकारबद्ध, अलंकृत की हुई नहीं हैं बल्कि बिहड़ अरण्य के वृक्षों-बेलियों की तरह हैं, जो मुक्त रूप से विकसित हुई हैं, जिनमें मानो आकाश को छूने की एक ललक सी है।

ठीक उसी प्रकार से इनकी कविता की विषय-वस्तु का फलक भी काफ़ी विस्तृत है। मानो ज़िदगी के विशाल कैनवास को अपने में समेटती, अपने आप में एक संपूर्ण अभिव्यक्ति, जिसे ना छंदों से सरोकार है ना अलङ्कारों से ना ही किसी मानक रस, वक्रोक्ति या रीति से। बस कुछ तलाश है जो लगातार जारी है। तलाश है - अस्मिता की, समानता की, शांति की।

खास तौर पर इनकी कविताएँ सीधे पाठकों को संबोधित करती हैं, लगता है मानो ललकार रही हों, सत्य से वाक़िफ करा रही हों, झिंझोड रही हों, जगाना चाह रही हों और कुछ चीज़ों का साक्षात्कार कराना चाह रही हों। एक दर्द है जो बीच-बीच में टीस सी उठती है। कहना ना होगा कि इनकी भावभूमि कुछ आप बीती और कुछ जग बीती पर आधारित है और उसी का सजीव अंकन है। 'दो पंक्तियों के बीच' कुछ दबकर रह जाता है, मानो कवि ने उसे दबाकर रखने का यथेष्ट प्रयास किया हो पर कहीं-कहीं सहज ही उफान मारता है - वह है कवि का आक्रोश। पर

आक्रोश भी कैसा महीन और संतुलित! देखिए,

"गूँगा नहीं था मैं
कि बोल नहीं सकता था
जब मेरे स्कूल के
मुझसे कई क्लास छोटे
बेढ़ंगे से एक जाट के लड़के ने
मुझसे कहा था -
'अरै ओ मोरिया!
ज्यादै बिगड़ै मत,
कमीज कू पेंट में दबा कै
मत चल।'
और मैंने चुपचाप अपनी कमीज
पेंट से बाहर निकाल ली थी।
गूँगा नहीं था मैं
न अक्षम, अपाहिज या जड़ था
कि प्रतिवाद नहीं कर सकता था
उस लड़के के इस
अपमानजनक व्यवहार का... ।"[1]

बहरहाल कथाकार फणीश्वरनाथ रेणु के अंदाज़ में कहें तो इनमें फूल भी है, शूल भी, धूल भी है, कीचड़ भी...। कर्दम जी की कविताओं में सजग आत्मानुभूति की तरल अभिव्यक्ति हुई है। व्यवस्था का चित्रण अर्धसत्य जैसी फ़िल्म की याद दिलाता है। बाहरी परिदृश्य में सबकुछ उलट-पलट है और ऐसे में लेखक अपने अंतर्मन में मची खलबली को कागज़ पर उतारने का प्रयास किया है। शमशेर के शब्दों में यदि कहें तो "मैं जानता हूँ लिखने से कुछ नहीं होता, फिर भी मैं

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.36

लिखना चाहता हूँ।" कर्दम जी ने इसी तर्ज पर अपना सृजन कार्य किया है।

उल्लेखनीय है कि वर्तमान समय अनुभूति का कम और अभिव्यक्ति का अधिक है। ऐसे में लेखक समुदाय भी कुकुरमुत्तों की तरह उग आये हैं। अनुभव रहित अभिव्यक्ति का एक दौर विकसित हो गया है। हरकोई लिखना चाहता है, अपनी प्रसिध्दि को कैश करना चाहता है। लेकिन इसके विपरित ऐसे विरोधाभासी समय में भी कर्दम जी की रचनाएँ जीवनानुभूति का सहज उच्छृंखलन है।

कर्दम जी के दोनों काव्य-संकलन 'गूँगा नहीं था मैं', 'तिनका तिनका आग' दलितवादी चेतना को समग्रता में समझने के लिए पर्याप्त हैं। ऐसा कोई पहलू नहीं जो उनकी कलम से अछूता रह गया हो, वे दलित के हर पहलू पर अपनी कलम चलाते हैं और व्यक्त करते हैं दलित जीवन की दुर्दशा। कभी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'भारत दुर्दशा' लिखकर भारत की दुर्दशा को महीन दृष्टि से अभिव्यक्ति दी थी, कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि कर्दम जी ने दलितों की दुर्दशा को सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से देखा और अभिव्यक्त किया है। दलितों का जीवन तिनका तिनका आग से कम नहीं है और इसीलिए कवि की कामना है कि समाज में समता का भाव हो और दलितों को वह सब मिले जिसके लिए वे सदियों से वंचित हैं। विषमता के बीहड़ जंगल को अब दलित पाटने पर आमादा हैं और इसीलिए कहा गया है -

"विषमताओं के विशाल जंगल में
तिनका-तिनका सुलगती आग है
ज़िन्दगी जेहाद है
जारी रहना है जिसे
उदित होने तक
क्रांति का सूर्य
स्थापित होने तक

समता का समाज।"[1]

3.1. ब्राह्मणवाद पर प्रहार

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज चार वर्णों में विभाजित रहा है। ब्राह्मण वर्ण हमेशा से ही शीर्ष पर अपना स्थान बनाये रखने में प्रयासरत रहा है। विभाजन करने में ब्राह्मण वर्ग ने अपनी अहम् भूमिका निभायी है। इस वर्ग के पास पूजा, यज्ञ-यज्ञादि के अधिकार रहे हैं, यह पण्डित, पुरोहित, अमात्य इत्यादि कहलाये गये। इसके बाद क्षत्रियों पर राष्ट्र की सुरक्षा की ज़िम्मेवारी रही और यह वर्ग भी ब्राह्मणों के दिशा-निर्देशों पर चलता रहा है। उसकी सलाहकार समिति में ब्राह्मणों ने अपने पद निर्धारित कर लिए थे। यदि नंद और मौर्य के शासन काल पर एक कटाक्ष करें तो पता चलता है कि संपूर्ण राष्ट्र को भारतीय राष्ट्रवाद के नाम पर एक ब्राह्मण ने अपनी धुर्तता के बल पर वश में कर लिया था। नंद के शासनकाल में अमात्य राक्षस भी घोर ब्राह्मणवाद का एक प्रतीक है। उसने तो अपने नाम पर मुद्राराक्षस की मुहर तक चलवा ली। इतिहास इस बात का साक्षी है। रामायण और महाभारत काल के संदर्भ में तो आरंभिक अध्याय में विस्तार से विवेचन किया गया है। बहरहाल तृतीय स्तर पर वैश्य रहे, जिन पर व्यवसाय का जिम्मा सौंपा गया था और चतुर्थ या अंत्यज के रूप में भारत का एक विशाल जनसमुदाय था, जो मुट्ठीभर लोगों द्वारा शासित, शोषित और उत्पीड़ित होता रहा है। इस वर्ग पर उक्त तीनों वर्णों की सेवा का दायित्व सौंपा गया था। मैला ढ़ोना आदि जैसे हीन कार्य उन्हें करने पड़ते थे।

मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "भारतीय समाज को समझने के लिए वर्ण और वर्ग को साथ-साथ ध्यान में रखना ज़रूरी है। हमारे यहाँ जो लोग केवल वर्ग की धारणा के आधार पर भारतीय समाज की संरचना को समझने की कोशिश करते हैं, वे वर्ण और जाति की वास्तविकता की उपेक्षा करते हैं और इसी प्रक्रिया में भारतीय समाज की अधूरी समझ लाते हैं। लेकिन दूसरी ओर जो केवल वर्ण के आधार पर भारतीय समाज की संरचना की व्याख्या करते हैं, इस व्याख्या में भी भारतीय समाज की अनेक जटिलताएँ छूट जाती हैं। वास्तव में वर्ग एक धारणा है, वर्ण और जाति एक वास्तविकता है। कहीं-कहीं ये दोनों एक साथ मिलते हैं और कई जगह एक दूसरे को

[1] 'तिनका तिनका आग', जयप्रकाश कर्दम, पृ.15

काटते हैं। यह अधिक संभव है कि भारतीय समाज की वर्णवादी संरचना में जो दलित है, वे वर्ग की धारणा के अनुसार सर्वहारा भी हो और अधिकांशतः ऐसा है भी।"[1]

उक्त कथन के परिप्रेक्ष्य में यदि देखा जाए तो यह सौ फीसदी सत्य है कि भारतीय समाज में दलितों की स्थिति मार्क्स की सर्वहारा की अवधारणा से मेल खाती है। यद्यपि मार्क्स ने पूँजीपति और श्रमिक वर्ग संघर्ष के संदर्भ में सर्वहारा का विवेचन किया था, किन्तु जाति की समस्या की समस्या पर मार्क्स की दृष्टि नहीं जा पायी। बहरहाल ब्राह्मणवाद के वर्चस्व के चलते दलित वर्ग ने प्राचीन काल से ही यातनामयी जीवन व्यतीत किया है।

जयप्रकाश कर्दम ने अपने बचपन से जो कटु अनुभव किये हैं उनका वर्णन उनकी रचनाओं में सहजवत प्रतिबिंबित हुआ है। उनके 'गूँगा नहीं था मैं' काव्य संकलन की प्रथम कविता 'किले' में दलित मन का दर्द बयान हुआ है। एक लम्बे अर्से से दलित वर्ग समाज की सेवा करता आया है, इसीलिए डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'हू वेयर दि शूद्राज़' में लिखा है, "तीन उच्च वर्णों की सेवा करने वाले सामाजिक वर्ग के रूप में शूद्रों का प्रथम और एकमात्र उल्लेख ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में आया है, जिसकी पुनरावृत्ति अथर्ववेद के उन्नीसवें भाग में हुई। ऋग्वेद काल में कुछ दास-दासियाँ होती थीं जो घरेलू नौकर के रूप में कार्य करती थीं।"[2]

कर्दम जी ने इसी तथ्य को मानो कविता मे बयान करने का प्रयास किया है। ना केवल ब्राह्मण बल्कि तीनों उच्च वर्णों की सेवा इस वर्ग ने की है और बदले में केवल शोषण, अन्याय और अत्याचार ही पाया है।

“ब्राह्मण का मान
ठाकुर की शान
सेठ की तिजोरी,
खेत-खलिहान
मिल-कारखाने

[1] 'दलित साहित्य चेतना' - डॉ. मैनेजर पाण्डेय से अनुप शुक्ल की बातचीत, पृ.02
[2] 'हू वेयर दि शूद्राज़', डॉ. अम्बेडकर, पृ. २३९

कोठी और हवेली

मेरे श्रम और शोषण से

फले-फूले हैं... ।"[1]

कवि का मन उस सत्य को बारंबार अभिव्यक्ति देता है जो उसके अंतर्मन को बारबार कचोटता है, झिंझोड़ता है। 'आरक्षण' कविता में आरक्षण की खिलाफत करने वाले से वे सीधे सवाल करता है -

"अनुचित लगता है तुम्हें मेरा प्रमोशन

क्या केपिटेशन फीस

यानी, रिश्वत देकर एडमिशन लेना

उचित है?

क्या मंदिरों की मोटी कमाई पर

ब्राह्मणों का एकाधिकार उचित है?"[2]

ग़ौरतलब है कि भारत का पिछड़ा वर्ग लम्बे अर्से से अपने अधिकारों से वंचित रहा है। आधुनिक युग में डॉ. अम्बेडकर के द्वारा की गयी पहल से तथाकथित हरिजन कहलाये जाने वाले समुदाय को अपने अधिकारों का स्वाद लेने को मिला। डॉ. अम्बेडकर ने देखा कि भारत का प्रचंड जन समुदाय आर्थिक स्थिति से बदहाली का जीवन व्यतीत करता है। अतः उन्होंने दलितों के लिए आरक्षण की माँग करते हुए कहा कि जब तक आर्थिक स्वतंत्रता नहीं मिलेगी तब तक सामाजिक समानता संभव नहीं। दलितों को आरक्षण के ज़रिए आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त होने तक आरक्षण को लागू करना अनिवार्य है। किन्तु, वर्तमान में ब्राह्मणवादी ताकतें अधिक हावी होने लगी हैं और उनके अनुसार आरक्षण सामाजिक विषमता को बढ़ावा देनेवाला एक औज़ार हो गया है। अतः वे आरक्षण का विरोध करते हुए नज़र आ रहे हैं। जयप्रकाश कर्दम ने उसी तथ्य को उक्त कविता में प्रस्तुत किया है। कवि ने अपने निजी जीवन में काफ़ी जद्दोजहद की है, उन्हें कई समस्याओं का सामना करना पड़ा था।

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.11

[2] जयप्रकाश कर्दम, 'गूँगा नहीं था मैं', पृ.15

उक्त कविता, विगत कुछ वर्षों में आईआईएमएस (Indian Institute of Medical Sciences) में आरक्षण को लेकर प्रचंड विरोध हुआ था, चिकित्सकों के विशाल समुदाय ने हड़ताल तक की थी; इसी तर्ज पर अन्य सरकारी एवं गैर-सरकारी संगठनों ने आरक्षण नीति का विरोध हुआ था - को केन्द्र में लिखी गयी है। सवर्ण समाज भाई-भतीजावाद के बल पर हर संस्थान में अपने लिए जगह बना लेता है किन्तु, दलित वर्ग का चूँकि कोई बुद्धिमान व्यक्ति इसी भेदभाव के चलते ऊँचे ओहदे पर नहीं पहुँच पाया है अतः उसके आरक्षण एक ऐसा ज़रिया है जिसके माध्यम से वह अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर पा रहा है। ऊँचे ओहदों पर बैठा ब्राह्मण वर्ग इसी तथ्य को लेकर स्वयं को असुरक्षित पा रहा है कि कहीं यह दलित वर्ग हम पर हावी ना हो जाए। कवि ने सहज अंदाज़ में इस भयभीत मानसिकता को ताड़ लिया है। उन्होंने अपनी कविता 'दरिया' में लिखा है -

'पत्थरों,
मेरे रास्ते में मत आओ
तुम मुझे नहीं रोक पाओगे।"[1]

ग़ौरतलब है कि प्रस्तुत कविता में कवि ने दलित मन के उत्साह को बयान किया है। दलित आंदोलन को ऐसे ही ज़ोरदार उत्साह की आवश्यकता है जिससे वह ऊर्जा ग्रहण कर विकास पथ पर अग्रसर होगा। कर्दम जी अपने रचना संसार के माध्यम से दलित आंदोलन को एक नवीन दिशा दे रहे हैं। ब्राह्मणवादी शक्तियों की खिलाफत का जायज़ा यदि लेना हो तो उनकी कविता 'संघर्ष' की अंतिम पंक्तियों पर दृष्टिपात किया जा सकता है।

"मूक निष्क्रिय नहीं रहा मैं
न रहूँगा कभी
कायरों की तरह
जारी रहेगा मेरा संघर्ष
ब्राह्मणवादी शक्तियों के खिलाफ अनवरत।"[2]

---

[1] 'तिनका तिनका आग', जयप्रकाश कर्दम, पृ.14
[2] वही, पृ.16

कवि ने व्यंग्यात्मक लहजे में ब्राह्मणों के आचार-विचार, नीति-न्याय और उनके शास्त्रसम्मत ज्ञान पर अपने शब्दों की कमान कसी है। देखिए,

"वे नीतिवान हैं
न्याय के खण्डहर
अन्याय के प्रतिष्ठान हैं
वे आचारवान हैं
सदाचार के इक्के
व्यभिचार के विमान हैं
वे विद्वान हैं
शास्त्रों के धुरंधर...।"[1]

3.2. असमानता और अन्याय की ख़िलाफत

कविता में समग्रता की अभिव्यक्ति और वह भी ऐसी बीहड़ परिस्थिति में कुछ चुनौति भरा कार्य है। कवि की भूमिका आलोचक से भिन्न है। उसके पास आलोचक की गहन महीन दृष्टि भी है, परिस्थिति की मज़बूत पकड़ भी और आलोचनात्मक निष्ठुरता, बेचैन, तीखी खोजी नजर और साहसिकता भी है। वह बाह्य जगत को आत्मसात करता है, उसे अपने अंतस में पचाता है और एक ऐसी अभिव्यक्ति देता है जो संपूर्णतः में नाटकीयता से कम नहीं होती है। 'नाटकीयता' शब्द में विदूषक का आभास नहीं होना चाहिए बल्कि उस शब्द में भावनाओं को समग्रता में निरूपित करने की सर्वग्राही शक्ति की चुनौती है और यथार्थ की तमाम असंगतियों और तिलमिलाहट को सहजता, सुगढ़ता और संयम के साथ संप्रेषित करने की अतुल्य सौंदर्यदृष्टि है।

जयप्रकाश कर्दम में यह सौंदर्यदृष्टि गतिशीलता के साथ विद्यमान है। उनकी कविताओं में जीवन की तमाम अस्थिरताएँ, असमानाताएँ अत्यंत सहजभाव से सृजनात्मकता के तमाम अंगों के साथ आकार लेती हुई दिखाई देती हैं। मन में आक्रोश हो, वंचित होकर ठगे जाने का गंभीर

---

[1] 'तिनका तिनका आग', जयप्रकाश कर्दम, पृ.19

अहसास हो और फिर भी मन संतुलित हो यह विपरितता का परिचायक है। परंतु, कविमन ने इस 'विपरितता' को अत्यंत सहज रूप से मानो कलटी दे दी है और संतुलित रूप में में अपनी अभिव्यक्ति को निखारा है। कवि का विवेक शब्दों में छिपे गूढ़ तथ्यों के माध्यम से बयान होता है। मानो कवि तनावमुक्त होकर अपनी वाणी को संयत एवं संतुलित रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। तनाव भी है और मुक्ति भी, एक अजीब विरोधाभास कर्दम जी की कविताओं में दिखाई देता है। विद्रोह का स्वर विद्यमान है किन्तु काव्यात्मकता से परे नहीं बल्कि कविता के मानदंड़ों के दायरे में और अत्यंत संयत अंदाज़ में, देखिए उनकी 'वर्णवाद का पहाड़ा' कविता का अंश -

"मास्टर जी!
हम शुक्रगुज़ार हैं कि तुमने
हमें पढ़ाया,
प्रगति का रास्ता दिखाया
लेकिन समता के मार्ग पर तुम
खुद नहीं चल पाए
हमने रखा तुम्हें
वर्ण औ जाति से ऊपर
पर नहीं उठ पाए तुम अपनी
जातीय अहंमन्यता की संकीर्णता से...।"[1]

कविता में बारंबार मास्टर जी के लिए 'तुम' शब्द का प्रयोग हुआ है। जब भी किसी ने यह कविता पढ़ी होगी, सर्वप्रथम उस पाठक के कुटिल मन में संभवतः यह प्रश्न अवश्यंभावी उपजा होगा कि 'मास्टर जी' के साथ 'तुम' का कोई तालमेल नहीं बैठता। एक तरफ तो 'जी' का हठात प्रयोग है और दूसरी तरफ 'तुम' का सचेष्ट प्रयोग, यह कैसा काव्यगत नूतन मेलजोल है? किन्तु यदि ग़ौर करें तो स्पष्ट होगा कि यह एक छात्र मन की अभिव्यक्ति है और उसका अपने शिक्षक से अत्यंत निकट संबंध हैं, देखिए कविता का पूर्वांश -

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 21

"मास्टर जी का काम

कौन पहले करेगा

इस बात पर हम आपस में झगड़ते

तुम्हारे कहने भर की देर होती

हम खुशी-खुशी

तुम्हारा हुक्का मांजते

तुम्हें चिलम भरकर देते

तुम्हारे लोटे में पानी भरने को भी

हम लालायित रहते

किन्तु तुमने पानी पीने के

अपने पीतल के लोटे को

हमारा हाथ कभी नहीं लगने दिया

लोटे में पानी सदैव

सवर्ण छात्रों से ही भरवाया... ।"[1]

प्रस्तुत कविता में अंतःसलीला आक्रोश भी है और वास्तविकता का भयावह चित्रण भी। प्रगति का रास्ता दिखाने वाला और ज़माने की समझ देनेवाला व्यक्ति भी दोहरा व्यवहार करता हुआ दिखाई देता है। जातीय अहंमन्यता की संकीर्णता से वह ऊपर नहीं ऊठ पाया है। ऐसे में कवि का अंतर्मन आक्रोश से भरा हुआ है किन्तु स्वर संयत है। इतना भेदभाव झेलने के बाद भी वह मास्टर जी के लिए श्रद्धा-सम्मान का भाव रखता है।

दलित वर्ग के साथ हर जगह अन्याय और अत्याचार हुआ है। वह सदैव वंचित एवं पीड़ित रहा है, बावजूद इसके वह अपना विवेक नहीं खोया है। 'दासता' कविता में कवि ने इतिहास की गवाही देते हुए सवर्णों का तथाकथित शूद्रों के साथ किये गये अमानवीय व्यवहार को बयान किया है।

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 20-21

"तुम कहते हो
हम 'प्रिज़नर ऑफ़ वार' हैं
आर्य-अनार्य युद्ध के पाराजित
और हमारे पुरखों ने
स्वीकार की थी दासता
पारजित होने पर
स्वेच्छा से
मृत्युदण्ड की एवज में
और हज़ारों साल से उनके वंशज
शिकार हैं पीढ़ी-दर-पीढ़ी
तुम्हारी अमानवीय यातनाओं के...।"[1]

कवि ने कविता में के अगले ही चरण में सवर्ण समाज की हृदयहीनता और अमानवीयता का पर्दाफाश किया है। ग़ौरतलब है कि शकों, हूणों एवं मुगलों ने भारत पर आक्रमण कर अपना आधिपत्य जमा लिया था किन्तु आर्यों की भाँति उन्होंने तत्कालीन सवर्णों को अपना दास और उनके लिए अस्पृश्यता का विधान नहीं बनाया। लेकिन आर्य-अनार्य युद्ध का नतीजा दलित वर्ग वर्तमान तक भुगत रहा है। कवि ने आगे लिखा है -

"किन्तु, जीत के उन्माद में
अंधे नहीं हो गए थे वे
मनुष्यता बाकी थी उनमें
हृदयहीन नहीं थे वे
तुम्हारी तरह।"[2]

'शुक्र है तू नहीं है' कविता में कवि ईश्वर से भी प्रश्न करता है कि जब दुनिया को चलाने वाला ईश्वर है फिर भी दुनिया में भेदभाव क्यों है? ईश्वर ने भी जगत में भेदभाव को बनाए रखा

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.22
[2] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.22

है।

"ईश्वर!
कहते हैं
तू (सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान) है,
सब कुछ
तेरी इच्छा औ आदेश से होता है
तेरी इच्छा के बिना
पत्ता तक नहीं हिल सकता
यानी, दुनिया में अच्छा-बुरा
जो कुछ भी होता है
उस सबका कारण 'तू' है
इसका मतलब, सदियों से
मेरे शोषण और अत्याचार का कारण भी तू है...।"[1]

कवि ने ईश्वर की सनातन अवधारणा पर ही प्रश्न चिह्न लगा दिया है। वास्तव में ईश्वरवादी अवधारणा का त्याग कर ही दलितों का विकास संभव है अन्यथा तो दलितों के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आ पाएगा। मेरे मतानुसार तो इस ईश्वरवादी अस्तित्व को हमें मिटाना होगा, ईश्वर का समाज से उन्मूलन होना अनिवार्य है, इसी तर्ज पर दलितों के जीवन में बेहतरी आ सकती है। ईश्वर के अस्तित्व का निर्माण भी एक षड्यंत्र है, जिसके बलबूते पर ब्राह्मण वर्ग ने आज तक अपने निजी हित की रोटियाँ सेंकी हैं। अन्याय और दमन से दलितों के स्वाभिमान को अपने अहं के पैरों तले कुचल दिया है। 'दमन की दहलीज पर' कविता में कवि मन विषाद की चरमावस्था तक पहुँचकर आक्रोश भरे स्वर में कहता है -

"तमाम विरोधों और दबावों के बावजूद
जाति के जंगल का यह निरीह जीव

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.31

अपनी मुक्ति के लिए लड़ा है

और आज

तमाम हौसलों के साथ

हाथों में खंजर लिए वह

दमन की दहलीज पर खड़ा है

और ललकार रहा है चीखकर

बाहर निकल हरामज़ादे

तेरी ऐसी-तैसी...।"[1]

कर्दम जी का लहजा कहीं-कहीं आक्रामक हो गया है। किन्तु, जो जीवन उन्होंने जिया है वह इस बात का प्रमाण है कि दमन का चरम उन्होंने देखा और सहा है और ऐसे में यदि अधिव्यक्ति में आक्रामकता आ जाने की संभावना अधिक हो जाती है। कविता तो भावों का उद्वेलन है और भोगा हुआ यथार्थ यदि रचना से छूट जाए तो रचना में बनावट की भी संभावना अधिक हो जाती है। अतः कहना ना होगा कि कवि की कविता की विषय-वस्तु सीधे आत्मानुभव की अभिव्यक्ति है। यदि कविता में गालियाँ आयीं हैं तो लाजिमी है कि यदि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है, तो गालियाँ भी तो समाजोत्पन्न हैं। जैसा समाज होगा वैसा ही साहित्य होगा, अतः उनका अपना सौंदर्यशास्त्र है। और तो और दलितों का जीवन तो उच्च्य वर्ण की गालियाँ खाते-खाते बिता है। कॉडवेल ने अपनी पुस्तक 'विभ्रम और यथार्थ' में लिखा है - *"साहित्य समाज का उत्पाद है, जैसे मोती सिंपी का उत्पाद है।"*

3.3. पुरातन मूल्यों का निषेध

दलित साहित्य की सबसे बुनियादी बात है पुरातन मूल्यों का निषेध। जब तक पुरातनता का निषेध नहीं होगा तब तक नवीन मूल्यों की स्थापना भी नहीं की जा सकती। अतः सर्वप्रथम ईश्वर जैसी परम सत्ता का निषेध करना दलित हित में होगा। अतः कवि ने 'धर्मग्रन्थों को आग

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.35

लगानी होगी' में लिखा है -

"जो कहते हैं कि
वर्ण-व्यवस्था अप्रासंगिक हो चुकी है,
जब तक स्मृतियाँ रहेंगी
रामायण, गीता और वेद रहेंगे
तब तक वर्ण-शुचिता रहेगी
अस्पृश्यता रहेगी, जातिवाद रहेगा,
समाज में विघटन और
विद्वेष रहेगा...।"[1]

अतः सर्वप्रथम पुरातनता का त्याग करना अनिवार्य बन जाता है। डॉ. अम्बेडकर ने मनुस्मृति को जलाकर इस बात तर्क को यथोचित साबित किया था। वास्तविकता तो यह है कि प्राचीन काल से जिस ईश्र की पूजा दलितों ने की है वह भी उनके पक्ष में खड़ा नहीं रहा है। कर्दम जी ने अपनी कविता 'तुमने कहा' में लिखा है -

"तुम्हारी सेवा
पूरी धर्म भावना से
करते आए हैं
हज़ारों सालों से हम
सेवा-कर्म करते
दमन और दारिद्र्य में जी रहे हैं
'हरि-कृपा' का
अमृत पी रहे हैं...।"[2]

अतः इस मिथ्या अस्तित्व को हमें अपने जेहन से मिटाना होगा तभी दलित वर्ग अपने

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.66
[2] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.18

विकास का शिलान्यास कर पाएगा अन्यथा अध्यात्म के नाम पर शोषण का चक्र जारी रहेगा। पुरातन मूल्यों के साथ-साथ ईश्वर नामक सत्ता को जड़ से उखाड़ने की आवश्यकता है जिसके आधार पर यह वर्ण-व्यवस्था का वृक्ष पनपा है। यदि ईश्वर नामक सत्ता होती तो दलितों पर अन्याय ना होता, ईश्वर पुनः धरा पर जन्म लेता और दलितों की पीड़ा को दूर करता, भवसागर से मुक्ति दिलाता। इसी तथ्य के मद्देनज़र जयप्रकाश कर्दम ने अपनी कविता में ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाया है और पुरातन सनातन मूल्यों का निषेध किया है।

3.4. शोषण का सामना

दलितों के संदर्भ में शोषण एक ऐसा शब्द है, जिसके बिना दलितों के जीवन का मूल्यांकन संभव ही नहीं है। इधर आम लोगों की धारणा हो गयी है कि 'दलित वर्ग' स्वयं ही अपने आप को शोषित-पीड़ित एवं 'दलित' मानने लगा है। ऐसे में वर्गविहीन समाज की अवधारणा फलीभूत नहीं हो सकती। भेदभाव की खाईयाँ और भी गहरी होती जा रही हैं। भेदभाव और अधिक बढ़ता जा रहा है, मार्क्स की तमाम अवधारणाएँ नाकाम सिद्ध हो रही हैं। साम्यवाद-समाजवाद जैसी विशाल एवं समाज हितैषी अवधारणाओं तक को हमने नाकाम करने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि एक लम्बे अरसे से जिस वर्ग को तमाम अधिकारों से वंचित रखा गया, उसके केवल अपने अधिकारों की मांग करने से ही भेदभाव बढ़ रहा है यह कहना कितना युक्तियुक्त है? आज जब उन्हें अपने अधिकार प्राप्त होते हुए दिखाई दे रहे हैं तो सवर्ण समाज की आँखों में उनकी उन्नति मानो चुभ रही है। कर्दम जी ने अपने बचपन से शोषण का सामना किया है।

कहते है ना कि जब परिस्थिति की मार पड़ती है तो इन्सान अपना सर्वस्व खो बैठता है। वेद युग से ही दलितों के साथ कुछ ऐसा ही होता आया है। इनका जीवन तो 'दोहरा अभिशाप' है। कुछ हालात तथाकथित सनातन वर्ण-व्यवस्था ने निर्मित किये तो कुछ नियतिवत। और जब दुहरी मार पड़ती है तो जीवन में एक बिखराव ही उत्पन्न होता है। दलितों के जीवन-क्रम में जो बिखराव है वह नियतिवत कम और सनातन समाज द्वारा निर्मित अधिक है। लेकिन डॉ. जयप्रकाश

कर्दम जी के जीवन में बड़े-बड़े चक्रवात आये, उन्होंने अपना हौसला खोने नहीं दिया। जन्मजात प्रतिभा पढ़ने की ललक ने डॉ. जयप्रकाश जी को जीवन में अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया। वास्तव में उन्होंने दलित होने का भारी-भरकम मुआवज़ा दिया है। उनकी 'किले' कविता में इस सच का एक भयावह रूप दिखाई देता है।

"असमानता औ अन्याय के ये सारे किले
मेरी आँखों में गड़े हैं
इन किलों में बंद हैं, मेरी चीखें
इनके मेहराबों में सजे हैं
मेरी यातनाओं के फानूस
मेरे रक्त में रंगे हैं, इनके ध्वज और
इनकी दहलीज़ों में दफन है मेरा वजूद
इनकी भित्तियों पर खुदी हैं
मेरे दमन और दारुण्य की गाथाएँ,
इनके चौबारों में जले हैं
मेरे आँसुओं के दीप
इनके शयनकक्षों में बिखरे हैं
मेरी बहनों और बेटियों की
रौंदी गयी अस्मिता के निशान, और...।"[1]

शैशव से ही आपने दलितों की क्लेशदायी स्थिति को झेला तथा वर्ण-व्यवस्था की चपेट में आकर कई ऐसी घटनायें देखी जो आगे चलकर क्रांतिकारी स्वर के लिए कारण-कार्य साबित हुई। एक बार की बात है - इनके पिता को मढैया गाँव के बदनी जाट ने कमर में लाठी मारी थी। यह क्षेत्र जाट बहिल था और यहाँ के जाट अत्यंत दबंग किस्म के थे। अतः वे दलितों पर इस प्रकार के अत्याचार करते रहते थे चूँकि दलित सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से कमज़ोर थे,

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.11-12

अतएव उन्हें अत्याचार को सहना पड़ता था। इसके विपरित जाट आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से समर्थ थे। अतः वे अपनी मनमानी किया करते थे। बदनी जाट तो केवल एक घटना है, ऐसी कई घटनाएं कर्दम जी के व्यक्तित्व को क्रांतिकारी बनाने के लिए कारण सिध्द हुई हैं। इसीलिए आक्रोश से कवि मन कहता है -

"जी करता है
ध्वस्त कर दूँ इन किलों को,
चिन्दी-चिन्दी कर दूँ
इनका वजूद, कि
शांत हो जाए
मेरी अन्तर में धधकती हुई
अपमान की आग...।"[1]

किन्तु कवि ने इस धधकती आग को रचनात्मक ढंग से अभिव्यक्ति प्रदान की है। दलित जीवन के भावों और दशाओं की बारंबारता की अभिव्यक्ति इतनी प्रबल है कि वह अपनी एक प्रणाली विकसित कर चुकी है। कवि का संवेदनमय जीवनानुभव एक ही अभिव्यक्ति में कई आयामों को और क्षितिजों को प्रकट करता है। शोषकों द्वारा शोषितों का शोषण के वर्णन में मानो सामाजिक न्याय की एक गुहार है। कवि जड़ीभूत समाज में कायापालट का अभिलाषी है, अतः वह तमाम तैयारशुदा मानदंड़ों की खिलाफत करता है। शोषण का सामना और प्रतिकार एक ऐसा स्वर है, जो कर्दम जी की तमाम रचनाओं में प्रखरता से गुंजायमान है। देखिए उनकी 'किले' कविता का यह अंश -

"फड़कने लगी हैं मेरी भुजाएँ, और
कुलबुलाने लगे हैं
फावड़ा, कुल्हाड़ी और हथौड़ा पकड़े
मेरे हाथ, काट फेंकने को

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.12

उन हाथों को, जिन्होंने

बरसाएँ हैं अनगिनत कोड़े

मेरी नंगी पीठ पर,

छीना है मेरे मुँह का ग्रास

नोंचते आए हैं मुझे

भूखे बाज की मानिंद

अपने नुकीले पंजो से, औ

डकारते आए हैं मेरा मांस

यदि यही रहा मेरे दमन और शोषण का हाल, तो

आज नहीं तो कल

हरकत में ज़रूर आएँगे

मेरे हाथ।"[1]

ग़ौरतलब है कि कर्दम जी के पिता किसान थे, किन्तु उनके क्षेत्र के बदनी जाट ने उनकी कमर में लाठी मारी थी और उसका असर जीवनांतक तक रहा। कर्दम जी ने इसका ज़िक्र 'लाठी' कविता में किया है, जो शोषण एवं अत्याचार को सहने के चरमोत्कर्ष का परिचय देती है।

"जब-जब भी पुरवाई हवा चलती

मेरे पिता की कमर दर्द करती

वह आक्रोश से कसमसाते

पर, सांप का सा फन मारकर रह जाते...

X X X

पर मरते दम तक उनकी कमर से

उस लाठी का दर्द नहीं गया

पिताजी को मरे अब बीस बरस हो गए हैं

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.13-14

इन बीस वर्षों में ज़िन्दगी को मिले बहुत से

ज़ख्म भी अब भर गए हैं

पर, आज भी जब-जब पुरवाई चलती है

मेरे पिता की कमर में लगी

बदनी जाट की वह लाठी

मेरे सीने में कसकती है।"[1]

आप बीती अनुभूति कर्दम जी की काव्यगत विशेषताओं में एक है। अमूमन आलोचकों को कहते सुना है कि भारत-पाक के बेबनाव समूल नाश करने और अंदरूनी संघर्ष को समाप्त करना इतना संभव नहीं है क्योंकि आज़ादी और विभाजन के दौरान दोनों का साबका एक ऐसी विकट स्थिति से पड़ा कि आज तक दोनों ने अपने-अपने दायरे बना लिए हैं और विभाजन एक ऐसा पहलू है जो बार-बार उनके हृदय में शूल बनकर चुभता है। अतः दोनों कभी-भी दोनों की गुत्थियों को सुलझाना बिगडैल एवं ताकतवर सांड की नाक में नकेल डालने के बराबर है। तभी तो छोटी-से-छोटी बात को लेकर दोनों आखाड़े में खड़े हो जाते हैं। धर्म की अफीम खाकर एक-दूसरे का कत्लेआम करने पर आमादा हो जाते हैं।

इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो दलितों ने तो आर्य-अनार्य युद्ध के बाद से लेकर आज तक केवल शोषण और शोषण का सामना किया है। फिर भी वे कभी सवर्ण समाज का कत्लेआम करने नहीं खड़े हुए हैं। क्योंकि दलितों की तहज़ीब में ऐसा करना गँवारा नहीं है। जो दलितवाद को ग़लत कहते हैं उन्हें इस आयाम में भी सोचना चाहिए। दलितों ने लम्बे अरसे से शोषण को सहा है और आज भी उससे दो-चार हो रहे हैं। कर्दम जी की कुछ रचनाओं में यदि आक्रामक रवैया दिखाई देता है तो वह केवल आक्रोश है और आक्रोश चुप्पी में भी सहजवत दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान में भी दलितों को लेकर आगजनी जैसी कई घटनाएँ उजागर हो रही हैं, अर्थात् अभी भी दलितों पर अत्याचार का सिलसिला खत्म नहीं हुआ है। ऐसी घटनाएँ सुनकर तो किसी भी इन्सान का दिल दहल जाएगा, जिसका नहीं दहलेगा वह इन्सानियत से अपना रिश्ता तोड़ हैवानियत को अपना चुका होगा।

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.43-44

3.5. शिक्षा की छटपटाहट

शिक्षा का अधिकार मूलभूत अधिकारों में आता है, किन्तु प्राचीन काल से ही दलितों को शिक्षा से वंचित रखा गया है। इसके कई उदाहरण रामायण एवं महाभारत काल में दिखाई देते हैं। एक कमंडलुधारी वर्ग ने शिक्षा जैसे अधिकार पर अपना शिकंजा जमाए रखा था। बड़े-बड़े नामवंत गुरुओं ने अवर्णों को पढ़ाने से इन्कार कर दिया। दलित के शिक्षा प्राप्त करने की सज़ा मौत थी, इसके लिए एक उदाहरण के तौर पर शम्बुक वध प्रकरण काफ़ी है।

आधुनिक काल में महाराष्ट्र में फूले एवं अम्बेडकर के प्रयासों से दलितों के लिए शिक्षा के द्वार खुल पाए हैं अन्यथा दलित वर्तमान तक शिक्षा से वंचित ही रहता। तभी तो कर्दम जी दलितों की सामान्य सी आकांक्षा को अपनी कविता 'मेरी चाह' में अभिव्यक्ति प्रदान की है।

"स्वीकार नहीं मुझे,
अब सांझ के सूरज सा ढलना
मैं भोर के सूरज सा उदय होना चाहता हूँ,
अज्ञान के अंधेरों से, निकलना चाहता हूँ,
बहुत भटका हूँ
असमानता और अन्याय की गलियों में,
मैं समता के राजपथ पर चलना चाहता हूँ।"[1]

ग़ौरतलब है कि महाराष्ट्र में जब सावित्री फूले ने नारी शिक्षा को तवज्जो देते हुए अपने ही घर में मोहल्ले की कुछ गृहिणियों को शिक्षा देने का मौलिक कार्य शुरू किया तब उनके घर ब्राह्मणों ने गोबर फेंका। फिर भी उन्होंने अपना फैसला नहीं बदला। वे अपने कार्य में लगी रहीं और स्त्रियों को सुशिक्षित करने का बीड़ा उठा लिया और आज हम देखते हैं कि नारी स्वातंत्र्य की बात काफ़ी ज़ोर शोर से हो रही है। कहना अत्युक्तिपूर्ण ना होगा कि शिक्षा बिना स्वातंत्र्य संभव नहीं। शिक्षा का अधिकार बुनियादी अधिकार है जिससे अवर्ण समाज प्राचीन काल से ही वंचित रहा है। कर्दम जी का बचपन इस बात का प्रमाण है कि उन्हें अपनी शिक्षा के लिए काफ़ी कठिनाइयों

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.27

का सामना करना पड़ा था। रजनी तिलक ने जयप्रकाश जी के संदर्भ में लिखा है - *"जयप्रकाश जी की हर साहित्यिक रचनाएँ उनके जीवन संघर्ष से जुड़ी है। उनके लेखन में उनके जीवन के संघर्ष की झलक दिखाई देती है। उनकी प्रत्येक रचना में जो घटना है वह या तो उनके जीवन से संबंधित है या उनके किसी निकट संबंधित व्यक्ति के साथ घटी हुई है।"*[1]

इनके पिता की मृत्यु दीर्घावधि तक क्षयरोग से जुझने के पश्चात् सन् 1976 ई. में हुई। इस समय डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की आयु केवल 16 वर्ष की थी। पिता की मृत्यु के पश्चात् इनके दादाजी फग्गनसिंह ने खेती-बाड़ी सँभाली किन्तु वृध्दावस्था के कारण खेती की दुरावस्था होती गयी और धीरे-धीरे खेती बिकते-बिकते परिवार की आर्थिक अवस्था पूर्णतः विकट स्थिति को जा पहुँची। डॉ. जयप्रकाश जी की आँखों के आगे यह सब घटता गया और इन घटनाओं से उनकी जीवन के प्रति सूझ-बूझ बढ़ती गयी। उन्होंने अपने बारे में स्वयं लिखा है - *"मुझे याद है, जब मैं छोटा-सा था, वे (पिताजी) मज़दूरी करने गज़ियाबाद जाते थे। स्टेशन पर मालगाड़ी में जो सामान आता था... उन्हें उतारने का काम करते थे। मुझे पता नहीं उनको क्या मज़दूरी मिलती थी। हाथ-पैर काले हो जाते थे। साइकिल से आते-जाते थे, बाद में बीमारी बढ़ी तो और तो कुछ नहीं कर पाते थे। उन्होंने तांगा-घोड़े का काम किया। मरने से कुछ दिन पहले वो भी उनके बस का नहीं रहा था।.....जहाँ तक मेरी बात है, मैं परिवार में बड़ा बेटा था, एक बेटी के बाद। दादाजी बहुत प्यार करते थे। ...उनकी हसरत थी कि मैं कुछ बनूँ। बहुत अच्छी तरह उन्होंने पाला और अपनी परिस्थिति के हिसाब से जितना बेहतर हो सकता था उन्होंने किया लेकिन परिवार की हालत बिगड़ती गई। स्थिति यह आ गयी थी कि आठवीं पास करने के बाद मेरे पिता ने मुझे पढ़ाई से रोककर वेल्डिंग का काम सीखने के लिए कहा।"*[2]

ऐसी विकट अवस्था में भी डॉ. जयप्रकाश कर्दम में पढ़ाई की जिज्ञासा समाप्त न हुई उन्होंने परिस्थितियों पर मात करते हुए अपने जीवन की अहम सीढ़ियाँ पार की। वही सत्य उनकी रचनाओं में भी प्रतिबिम्बित हुआ है। इसीलिए ब्राह्मण वर्ग के अत्याचार के खिलाफ़ उन्होंने लिखा है -

---

[1] 'दलित साहित्य के वैचारिकी', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ.5

[2] 'दलित साहित्य के वैचारिकी', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ.2

"यह अब नहीं चलेगा
अब हर क्षेत्र में होगी
समान रूप से हिस्सेदारी
शासन-प्रशासन से लेकर
मैला ढोने, जूती गांठने
और झाड़ू लगाने तक के काम में भी
बांटनी होगी समानता।"[1]

कर्दम जी की कविताओं में कटुता का भाव प्रतिबिम्बित होता है जो ऊपरी तौर पर जितना सौम्य लगता है गहराई में उतना ही तीखा और पैना है। कवि एक आलोचक भी होता है, जिसकी आलोच्य दृष्टि साधारण आलोचक से अधिक गहरी और संवेदनशील होती है। वह अपने अंतर से बाहरी जगत के हर हिस्से का अनवलोकन करता है और अपने भोगे हुए यथार्थ के साथ-साथ जगत को भी अभिव्यक्ति देता है। कर्दम जी ने अपने जीवन में जो कुछ भोगा उसे तो बयान किया ही लेकिन जो अन्य दलितों पर बिता वह भी अनायास ही अभिव्यक्ति पा गया है। शिक्षा का अभाव एक ऐसा अभाव है जो मनुष्य को ज्ञान के उजाले से दूर रखता है। कर्दम जी में पढ़ने की जिज्ञासा थी अतएव उन्होंने एक मुकाम तय किया है।

3.6. आरक्षण

कल के शूद्र आज के दलित हैं। स्पष्ट है दलितों के अन्दर का आक्रोश अब करवटें लेने लगा है। आज तक भी कुछ विद्वान दलितों की इस नियति के लिए आर्थिक पिछड़ापन को मुख्य कारण मानते हैं। क्योंकि आधुनिक समाज के संचालन में अर्थ का बहुत बड़ा योगदान है। अस्पृश्यता एवं शोषण के विकास के ऐतिहासिक कारणों का हवाला देते हुए बी.टी. रणदिवे लिखते हैं "स्पष्ट है कि अस्पृश्यता ठोस आर्थिक स्थितियों की उपज है। आर्थिक दृष्टि से अत्यंत पिछड़े हुए लोग ही अछूत माने गये। सामाजिक व्यवस्था के मूल में अर्थ ही है, इस बात से इन्कार नहीं किया जा

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.16

सकता है।"[1]

आर्थिक पिछड़ेपन के कारण दलितों के समस्त राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार छीन लिये गये। उन्हें एक घृणित एवं अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य किया जाता था। वर्तमान में आधुनिक समाज में आरक्षण के चलते दलितों का आर्थिक पिछड़ापन दूर हुआ है और उनमें आंशिक रूप से आत्मविश्वास का उदय हुआ है। वे भी अब अपने अधिकारों की बात करने लगे हैं। पुख़्ता आर्थिक आधार हो तो समाज में एक दर्जा मिल जाता है। डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं आरक्षण के प्रावधान का समर्थन किया और दलितों का आर्थिक दिवालियापन दूर करने का एकमात्र उपाय माना था। इस भारतीय समाज में समानता का भाव विकसित करने का और कोई साधन उपलब्ध भी नहीं था और ना है। डॉ. धर्मवीर ने लिखा है - "दलितों की समस्या क्या है? इस समस्या को तरह-तरह के नाम दिये जा सकते हैं। अब तक ये बाकी समाज के दास बने रहे हैं। हिन्दुओं के धर्मशास्त्रों में इनका अधिकार दूसरों की सेवा करने के सिवाय कुछ नहीं हो सकते और ये बाज़ार में कोई दुकान नहीं खोल सकते हैं। बाज़ार में इनके हाथ से कोई चीज नहीं ख़रीदेगा। अब सरकारी सेवाओं में आरक्षण मिलने के बाद इन लोगों ने कुछ मुद्रा देखी है। अब कहीं-कहीं ये साग-सब्ज़ी बेचने की दुकान भी कर लेते हैं। भूमि सुधार के बाद थोड़ी कृषि भूमि भी इनके कब्ज़े में आयी है। लेकिन एक शक्तिशाली सामाजिक वर्ग के रूप में विकसित होने के लिए यह थोड़ी-सी मुद्रा पर्याप्त नहीं है। एक जाति के साथ इन्हें आर्थिक क्षेत्र में स्वावलंबी बनना चाहिए। ऐसा हो कि यदि कभी आगे ख़राब वक़्त आने पर, दोबारा कोई इनका सामाजिक बहिष्कार करने की कोशिश करे, तो बचाव में ये लोग अपनी आर्थिक दुनिया आप हो।"[2]

कर्दम जी ने इस बात पर ज़ोर दिया है और अपनी कविता 'आरक्षण' में आरक्षण से संबंधित कई सवाल उठाये हैं।

"तुम्हें खटकता है

---

[1] 'समकालीन भारतीय समाज में वर्णों और जातियों का वर्गों से क्या संबंध है', बी.टी. रणदिवे, 'कथन', मई 1982, पृ. 53

[2] 'हरिजन से दलित' में डॉ. धर्मवीर का लेख, पृ.152।

सरकारी नौकरियों में मेरा आरक्षण

मेडिकल या इंजीनियरिंग कालेजों में

मेरा एडमिशन

आग लगती है तुम्हें

मेरी उपलब्धियों से...

x x x

क्या ग़ैर-सरकारी संस्थानों में

केवल सवर्णों का नियोजन उचित है?

क्या यह सब आरक्षण नहीं है?

फिर मेरे आरक्षण का विरोध क्यों?"[1]

ध्यातव्य है कि लम्बे अरसे तक दलित वर्ग को सरकारी नौकरियों में जगह नहीं मिल पायी थी। शिक्षा से वंचित यह वर्ग अपने अधिकारों से सालों-साल वंचित रहा है। कहना ना होगा कि सवर्णवादी मानसिकता ने दलितों को सरकारी नौकरियों में आने ही नहीं दिया था। कालांतर में जब दलित वर्ग सुशिक्षित हुआ तो वह अपने अधिकारों की मांग करने लगा, मेडिकल शिक्षा के लिए जब आरक्षण की मांग की गयी तब सवर्ण समाज ने जमकर विरोध किया। कर्दम जी ने अपनी कविता में इसी तथ्य को उजागर करने का प्रयास किया है। कर्दम जी की कविताओं में ओज गुण का बाहुल्य प्रचुरता में दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं तो कवि का रवैया काफ़ी आक्रामक दिखाई देता है। साधारण शब्दों में ही अभिव्यक्ति का सौंदर्य है, कभी लगता है कि अनर्गलता की व्याप्ति अधिक हुई है किन्तु दलित साहित्य का सौंदर्य समाज में प्रचलित गालियों के इर्द-गिर्द ही अपना ताना-बाना बुनता है। जिस वर्ग को संबोधन लिए प्रायः गालियों का ही प्रयोग होता रहा उस वर्ग का साहित्य भला गालियों से बचकर परिष्कृत शब्दों में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति दे भी तो कैसे दे? जब कवि कहता है -

"तुमको हराम का हलुवा उचित है

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.15

मुझको ईमानदारी और मेहनत की
रोटी भी अनुचित है... ।"[1]

तो प्रकारान्तर से कवि व्यवस्था के बेडौलपन का पर्दाफाश कर रहा है। 'हराम' जैसा अनर्गल शब्द दलितों को गाली-गलौज करने के लिए प्रयोग में लाया जाता रहा है। अब यदि यही शब्द ब्राह्मण वर्ग के कुकर्मों के लिए प्रयोग में लाया जा रहा है तो इसमें अतार्किकता तलाशने की कोई बात ही नहीं। कहावत के तौर पर यदि देखा जाए तो 'लोहा-लोहे को काटता है' कल तक का निचला तबका अब अन्याय बर्दाश्त करने के पक्ष में नहीं है। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जहाल मतवादी 'ईंट का जवाब पत्थर से' देने के पक्ष में थे और यदि वह सही था तो दलित वर्ग का आक्रामक रवैया क्योंकर ग़लत होगा?

कर्दम जी की 'लाठी' कविता में जो उनके मन की टीस बार-बार करवट लेती है और इसीलिए वे अपनी कविता 'अम्बेडकर की संतान' में उन्होंने अन्याय और शोषण के खिलाफत की है।

"अम्बेडकर की संतान,
अब और नहीं सहेंगी
शोषण और अत्याचार
नहीं रहेंगी मौन,
xxx
लेंगी हिसाब,
तोड़कर अन्याय और शोषण की ज़ंजीरों को
रचेंगी नया इतिहास।"[2]

भोपाल दस्तावेज में लिखा है कि, "लगभग सभी दलित आंदोलनों में आरक्षण का मुद्दा बारंबार सामने आता है और इसे प्रगति के निर्णायक साधन के रूप में देखा जाता है। शासकीय

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.16
[2] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.50

नौकरियों और विधानसभाओं में आरक्षण और छात्रवृत्तियों के रूप में शिक्षा में कुछ मदद के अलावा, अनुसूचित जाति, जनजाति ने राज्य या समाज से कुछ उल्लेखनीय नहीं लिया। ग़रीबी हटाने, गाय, बकरी पालने, सूअर पालने, रोड किनारे दुकान खोलने के लिए लघु ऋणों के ज़रिये समुदाय को अधिकार संपन्न बनाने की योजनाओं से अनुसूचित जाति/जनजाति को कुछ ठोस नहीं हासिल हुआ। इस प्रकार प्रगति के एक साधन के बतौर आरक्षण पर विश्वास अनुसूचित जाति/जनजाति की चेतना को गढ़ता रहा। आरक्षण पर विश्वास का कारण यह तथ्य है कि बहुत से राज्य के विभागों में अनुसूचित जाति/जनजाति का कोटा खाली रहता है। यह स्थिति इस विश्वास को प्रबल करती है कि दलितों की प्रगति की प्रक्रिया रुक जाती है यदि अनुसूचित जाति/जनजाति का निर्धारित कोटा खाली रहता है। दलित आंदोलन को पूरी तरह से निर्धारण कोटा भरने के लिए प्रयत्न करना चाहिए लेकिन हमें अनुसूचित जाति/जनजाति की प्रगति और शोषण मुक्ति में शासकीय नौकरियों में आरक्षण की सीमित भूमिका को भी समझना होगा। जब तक हम यह नहीं समझते आंदोलनों की दिशा को ऐच्छिक उद्देश्यों की ओर परिवर्तित करना मुश्किल होगा।"[1] और तब तक उपरोक्त कविता की *'लेंगी हिसाब, तोड़कर अन्याय और शोषण की ज़ंजीरों को, रचेंगी नया इतिहास।'* ये पंक्तियाँ अपना असर नहीं दिखा पायेंगी।

सन् १९४७ के राजनीतिक परिवर्तन के समय भारत की जनसंख्या लगभग ३३ करोड़ थी जो आज १०० करोड़ से ऊपर पहुँच गयी है। उस समय भारत एक कृषि प्रधान देश था। ८० प्रतिशत गाँव और बाकी २० प्रतिशत में शहर और कस्बे आबाद थे। कृषि प्रधान देश था इसलिए ८० प्रतिशत किसान थे, किसानों के खेत थे, पोखर और कुएँ थे। गाँवों कस्बों में जड़ी-बूटियाँ पीस कर दवे देने वाले खानदानी वैद्य थे। कहीं-कहीं डाकिये और 'मास्साब' थे। मरण-मौत, शादी-विवाह पर कर्ज देने वाले साहूकार थे, पूजा पाठ कराने वाले पण्डित पुरोहित थे और थे जमींदार जो पुश्तों से अंग्रेज़ हाकिमों की चाकरी करते आ रहे थे। वे आज़ादी के बाद गाँधी बाबा का नाम लेने लग गये थे। भारत में कहने को प्रजातन्त्र आ गया था, पर सामन्तवाद मरा नहीं था। पण्डितों, पुरोहितों, राजपूत जमींदारों और पूँजीवाद के नये रूप, साहूकार व्यापारियों

[1] भोपाल दस्तावेज 2002, '21 वीं सदी के लिए दलितों के भविष्य निर्माण की नई रणनीति', मध्यप्रदेश शासन, पृ.57

की शक्ल में सामन्तवादी-पूँजीवादी गठबन्धन ने निचली जातियों, दलितों, किसानों और श्रमजीवियों के शोषण की प्रक्रिया उसी तरह जारी रखी थी जैसे सामन्तवादी दौर में जारी थी।

निचले तबके और निर्धन मजलूमों को लगातार हाशिये पर ढकेला जाता रहा। गाँव के विकास के शोर-शराबे में कस्बों-गाँवों में बिजली आई पर अँधेरा बढ़ गया। नल और हैण्ड पम्प लग गये पर पानी आना बन्द हो गया। पाठशालाएँ खुलीं मगर ग़रीबों और दलितों की पहुँच से दूर। कुछ दलित बच्चे स्कूल तक पहुँच गये पर उन्हें दूर बैठना पड़ता था। मास्साब जब भी पढ़ायेंगे पण्डितों-ठाकुरों के बच्चों को पढ़ायेंगे, दलितों के बच्चों के हिस्से जितना आ जाए उतना बहुत है। चौक-चौराहों पर हँसी ठट्टा.... ये ओछी जात के कमीने पढ़-लिख गये तो हमारे खेत-खलिहानों में दिन-रात कौन खटेगा! बस्ती-बस्ती में मन्दिर-मस्ज़िद उग आये। अध-पढ़े पुजारी उन शास्त्रों की दुहाई देते जो उसने और उसके पुरखों ने कभी पढ़े ही नहीं। अनपढ़ पण्डित मनुस्मृति और पुराणों के हवाले से उच्चवर्ण के मतलब की बातों की महिमा गाता, बाकी को धिक्कारता रहता। मदरसे काफ़िरों के ख़िलाफ ज़हर उगलते रहे, मुल्ला-मौलवी आतंकवाद को ज़िहाद बताते रहे। ज़मींदारी प्रथा कहने को ख़त्म हो गयी पर ग़रीब किसान ग़रीब ही रहा और दलित अछूत और ग़रीब दोनों।

ऐसा इसलिए हुआ कि जातिवाद के वर्चस्व को तोड़ा नहीं गया। सामन्तवाद ने जातिवाद को अपना शस्त्र बनाकर ग़रीबों और दलितों का शोषण किया। पर १९४७ के बाद पूँजीवाद जनतन्त्र में पूँजीवाद और सामन्तवाद ने भी शोषण के लिए जातिवाद को ही अपना सबसे कारगर हथियार बनाया।

जातिवाद और उच्चवर्ण के वर्चस्व को बनाए रखने में गाँधीजी ने एक प्रपंच रचा या वे खुद किस प्रपंच का शिकार हो गये। इस पर वामपन्थियों में अभी भी बहस जारी है। लेकिन, इतना तय है कि गाँधीजी के विचार और क्रियाकलाप कहीं से भी दलितों और ग़रीबों के हित में नहीं थे। स्वाधीनता संघर्ष के अन्तिम दौर में ज़मींदारों और पूँजीपतियों का एक बड़ा तबका खादी और गाँधी टोपी पहन कर 'गाँधीवाद' को अपने पक्ष में इस्तेमाल करने की चालाकी में लग गया था। इस तबके का न तो ह्रदय परिवर्तन हुआ था और न ही यह सामाजिक सम्पत्ति का 'ट्रस्टी' बनना चाहता था। इसकी आकांक्षा तो जनतन्त्र के नाम पर सम्पत्ति का मालिक बने रहने की थी। डॉ.

अम्बेडकर ने इस प्रपंच को पहचान लिया था। वे समझ गये थे कि सामाजिक विकास के पूँजीवादी दलाल संख्या में भले ही कम हों, बहुसंख्यक ग़रीबों और दलितों को निगल जाने की तैयारी में है। जनतन्त्र के जयकारों के पीछे जातिवाद का वही पुराना बन्धन छिपा है। इसलिए डॉ. अम्बेडकर ने जातिवाद की जड़ें काटने की दृष्टि से दलितों के लिए आरक्षण की ज़ोरदार माँग की।

डॉ. अम्बेडकर की सदाशयता अम्बेडकर के साथ हा चली गयी और फिर शुरू हुआ दौर आरक्षण की राजनीति का। शोषक वर्ग के प्रतिनिधि राजनीतिक दल समय-समय पर अपने वर्गीय हितों के अनुरूप आरक्षण की राजनीति करते रहे।

आज के दौर में इसके वोट बैंक और खेमा-बनाऊ पैंतरे का बीभत्स रूप सामने है। आरक्षण विरोधी आन्दोलन थमने के कोई आसार नज़र नहीं आ रहे हैं। इसलिए आरक्षण एक बड़ा मुद्दा बन गया है। कर्दम जी इन तमाम तथ्यों को केन्द्र में रखकर 'आरक्षण' कविता की अभिव्यक्ति की है।

3.7. ईश्वरवादी मिथ्या चेतना पर प्रहार

दलितवादी साहित्य में ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाया गया है। ग़ौरतलब है कि प्राचीन काल से तथाकथित अवर्ण समाज ने उसी ईश्वर की पूजा-अर्चना की है जो सवर्ण समाज का भी ईश्वर रहा है किन्तु, ध्यातव्य है कि वर्तमान समय तक अवर्ण समाज को मंदीर में प्रवेश नहीं मिला। ऐसे में यदि दलित वर्ग परंपरागत ईश्वर का बहिष्कार करता है तो इसमें तथ्य यह कि जब भी धर्म की हानि होगी ईश्वर नवीन रूप में अवतार लेंगे वाली धारणा उनके संदर्भ में फलीभूत नहीं हुई। कर्दम जी ने 'मेरी चाह' कविता में लिखा है -

"पिलाकर
भाग्य और भगवान की घुट्टी,
खिलाकर
निष्काम कर्म की अफीम
कुंद किया गया है
मेरी चेतना को,

किया गया है मुझे

निस्तेज, निष्प्राण...।"[1]

ग़ौरतलब है कि शैशव से ही हमें ईश्वर के अस्तित्व के बारे में बारंबार बताया और समझाया जाता है। नियति-भाग्य जैसी अवधारणाओं के चलते हम अपनी चेतना का भी उपयोग नहीं करते हैं। 'कर्मण्यवाधिकारस्य' के तर्ज पर हम कर्म करते जाते हैं किन्तु अपनी चेतना पर भाग्यवाद का पर्दा डाले रहते हैं। समाज में उपेक्षा और अपमान सहते रहते हैं, यह समझकर कि हमने पूर्वजन्म में कोई पाप किए होंगे जिसका फल इस जन्म में मिल रहा है, उसी ईश्वर के अस्तित्व को मानकर चलते रहे हैं। इसीलिए कर्दम जी ने लिखा है -

"ईश्वर! तेरे सत्य और शक्ति को मैं अब जान गया हूँ

तेरे दलालों की कुटिलता और कमीनेपन को भी

पहचान गया हूँ

शुक्र है तू कहीं नहीं है

केवल धर्म के धन्धे का एक ट्रेड-नेम है

अगर सचमूच तू कहीं होता

तो सदियों की

अपनी यातना का हिसाब

मैं तुझसे ज़रूर चुकाता।"[2]

दलितवादी साहित्य ने ईश्वर की मर्यादाओं और मानदण्डों आदि पर प्रहार किया है। उस ईश्वर की अप्रासंगिकता सिद्ध की है। यदि ईश्वर जैसी कोई शक्ति इस संसार में अस्तित्व में होती तो दलितों पर होते हुए अन्याय के खिलाफ लड़ने के लिए वे जन्म लेते लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इसीलिए ईश्वर के रूढ रूप का पूर्णतः बहिष्कार किया गया है। ब्रिटिशों के भारत आगमन के पश्चात जब दलितों को शिक्षा-दीक्षा मिली तब जाकर मनुवादी विचारधारा के काट की खोज हुई और अम्बेडकर के आगमन एवं उनकी विचारधारा ने दलितों को अभयदान दे दिया। अम्बेडकर और

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.26

[2] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.31-32

उनके समर्थक मनुस्मृति तथा अन्य हिन्दू धर्मग्रन्थों को ही दलित समस्या का कारण मानते थे, अतः सनातन समाज के ढाँचे के साथ-साथ सनातन ईश्वर को दरकिनार करना आवश्यक था।

3.8. वर्णवाद की आलोचना

भारत देश का सबसे बड़ा कलंक और इसकी अधिकांश समस्याओं का मूल जन्म आधारित जाति प्रथा रही हैं। इसको तोड़ने के लिए हमारे दीर्घकालीन इतिहास में लगातार प्रयास हुए। किन्तु द्विज समुदाय अपने विशेषाधिकारों के कारण शेष आबादी के मुकाबले इतना शक्तिशाली था कि ये प्रयास सफल नहीं हो सके। आधुनिक काल में महात्मा ज्योतिबा फुले, डॉ. अम्बेडकर आदि ने एक बार फिर उस पर प्रहार किया।

भारत में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के कारण यहाँ के शूद्र समझे जाने वाले दलितों की परिस्थिति बहुत ही दयनीय थी। यहाँ निजी स्वामित्व मनु की न्याय व्यवस्था का अंग है, जिसे धर्म का रूप दे दिया गया है। इस धर्म ने शूद्रों को पशु के समान देखा है, उसे ना तो शिक्षा का अधिकार था और ना ही गाँव में रहने का। वह समाज से बहिष्कृत था और उसका काम था सवर्णों की सेवा करना, मैला ढोना इत्यादि। धर्म के नाम पर यही काम इस वर्ग को सौंपा गया था।

इस संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर ने लिखा है, "भारत का सर्वहारा अर्थात् गरीब और श्रमजीवी वर्ग वर्ण व्यवस्था के गर्भ से पैदा हुआ है। भारत में जिस समय वर्ण व्यवस्था अस्तित्व में आयी उसी समय सर्वहारा भी अस्तित्व में आया। इसलिए भारत का सर्वहारा वर्ग किसी औद्योगिक क्रांति का परिणाम नहीं है। वह एक ऐसा वर्ग है, जो जन्म से ही सर्वहारा है, जन्म से ही दलित है और जन्म से ही दास है।"[1]

कर्दम जी की लगभग सभी कविताओं में वर्णवाद की आलोचना हुई है। 'लाठी' एवं 'गूँगा नहीं था मैं' कविता में जो सच्चाई बयान हुई है वह दलितों की बदहाली का सजीव अंकन है। मार्क्स के शब्दों में जो सर्वहारा है वह भारतीय संदर्भ में दलित है, वह जन्म से ही सर्वहारा है। उसके पैदा होते ही उसके जातीय सम्मान एवं स्वाभिमान को कुचला जाता रहा है और उनमें होनेवाले

[1] तद्भव, जून-२००३, पृ.139

आत्मबल के संचार के स्रोत को ही खत्म कर दिया जाता। कर्दम जी ने इस सत्य को अपने शैशव काल से ही जिया और कालांतर में अपनी कविताओं तथा अन्य विधाओं में उसे अभिव्यक्त किया है। उन्होंने 'भारतीय चिंतन की गाड़ी' में लिखा है -

"धर्मांधता के जंक्शन से लेकर
सामंतवाद और पूँजीवाद के स्टेशन
और सांप्रदायिकता की हाल्ट तक
हर जगह ठहरती है
लेकिन
लोकतंत्र की धुरी पर चलने वाली
भारतीय चिंतन की यह गाड़ी
इक्कीसवीं सदी में भी
जाति के स्टेशन से
बचकर निकलती है।"[1]

तो प्रकारान्तर से वे भारतीय सवर्ण मानसिकता की ही आलोचना कर रहे हैं। भारत में ब्रिटीश राज आने के बाद कई तरह के औद्योगिक परिवर्तन हुए और साथ ही साथ सामाजिक परिवर्तनों के लिए भी काफी जगह बन गयी लेकिन आधुनिकीकरण के बावजूद भी भारतीय सवर्ण लोगों की मानसिकता सामंतवादी या मध्यकालीन ही रह गयी है। कवि ने इसी तथ्य की ओर इंगित किया है।

3.9. स्वतंत्रता के दम्भ का पर्दाफाश

कर्दम जी ने दलित चेतना की कविताओं में स्वतंत्रता और मोहभंग पर भी कटाक्ष किया है। उनकी कविता 'बेमानी है आज़ादी' में उन्होंने स्वतंत्रता के बाद के परिवेश में दलितों की हीन-दीन दशा का अंकन किया है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास 'गोदाम' में जिस सामंतवादी-पूँजीवादी सभ्यता पर प्रकाश डाला है, ठीक उसी तर्ज पर कर्दम जी की प्रस्तुत कविता सामंतवादी समाज का चित्रांकन

---

[1] 'तिनका तिनका आग', जयप्रकाश कर्दम, पृ.50

करती है वहीं विभूति नारायण राय के उपन्यास 'किस्सा लोकतंत्र' का भी स्मरण कराती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी मतदान जैसे मूलभूत अधिकारों से यह वर्ग वंचित है। कर्दम जी ने लिखा है -

"निषिद्ध हैं जिसके लिए आज भी
बहुत से सार्वजनिक स्थल
निषिद्ध हैं शासन और सत्ता के प्रतिष्ठान
बेमानी हैं उसके लिए
आज़ादी और लोकतंत्र की बातें
व्यर्थ हैं संसद और संविधान
नहीं चाहिए उसे नीति और धर्म की शिक्षा,
नहीं चाहिए अध्यात्म का ज्ञान
उसे चाहिए रोटी और सम्मान।"[1]

ग़ौरतलब है कि स्वतंत्रता प्राप्ति एवं संविधान के लागू होने के पश्चात् भी दलित वर्ग लम्बे अरसे तक रोटी के लिए मुहताज रहा। आरक्षण लागू होने के बाद भी इस वर्ग की सारी समस्याएँ हल नहीं हुईं। गाँव-देहातों में तो इस वर्ग की और भी हालत बदतर रही है। ऐसे में वह अध्यात्म का ज्ञान लेकर भला क्या करता जब उसके पास दो जून की रोटी मयस्सर नहीं और आत्मसम्मान पर आए दिन चोट की जाती। कवि स्वयं ऐसी स्थिति से दो-चार हुए हैं। संसद से सड़क तक बस सवर्णों का राज चलता रहा है और दलितों को केवल अपमान का घूँट पीकर रहना पड़ा है। ऐसे में कवि ने आज़ादी के बेमानीपन को अपनी कविता में उजागर कर दलित वर्ग को सचेत करने का प्रयास किया है।

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.25

3.10. दलित नारी जीवन का सजीव चित्रण

आदिम कबिलाई व्यवस्था के बाद जैसे-जैसे मानव सभ्यता के एक-एख चरण पार करने लगा तब सभ्यता की चरमावस्था पर पहुँचकर उसने विवाह जैसी सामाजिक संस्था की स्थापना की। आदिम कबिलाई व्यवस्था में स्त्री और पुरुष में समानता थी किन्तु कबिले समाज के रूप में परिवर्तित होते ही स्त्री केवल उपभोग्या बनकर रह गयी। और जब वर्ण व्यवस्था बनी तब निचले तबके की स्त्री सवर्णों की यौन लालसा का शिकार होने लगी, दलित स्त्री का सवर्णों द्वारा यौन उत्पीड़न होन लगा।

कालांतर में दलित वर्ग के जागरूक होने के बाद जब दलित स्त्री ने अपने विवाह की बात की तो उसे केवल अस्वीकृति ही मिली। कर्दम जी ने अपनी कविता 'अस्वीकृति' में सवर्ण वर्ग की मानसिकता और दलित स्त्री की दयनीय स्थिति को सिलसिलेवार उजागर किया है।

"सिलिया, मेरी बहन

XXX

जिस मातादीन को तू
अपने दिल की गहराइयों से
प्यार करती है
अपना पति, अपना देवता मान
उसका नाम जपती है...

XXX

वह तुझे रखैल बनाकर रख सकता है
लेकिन, दुल्हन बनाकर अपने घर नहीं ले जाएगा,
यह भी हो सकता है कि
कभी, किसी दबाव में आकर, वह
तेरे साथ शादी भी कर ले, लेकिन
जातीयता के जहर के चलते

यह शादी भी बेमानी ही रहेगी

उसके घर में तुझे

वह स्थान कभी नहीं मिल पाएगा

जो किसी ब्राह्मणी को मिलता...।"[1]

कहना ना होगा कि दलित नारी केवल यौन उपभोग के लिए इस्तेमाल की जाती है, अंतर्जातीय विवाह के लिए सवर्ण समाज से उसे स्वीकृति नहीं मिलती। कर्दम जी ने दलित स्त्री की स्थिति तथा उसके यौन उत्पीड़न पर प्रकाश डाला है। गाँव-देहातों में सवर्ण समाज के पुरुष दलित स्त्री के साथ प्यार का स्वांग रचता है और उसके शरीर एवं भावनाओं के साथ खेलता है। यदि वह उसे घर में पनाह भी दे तो उसकी हैसियत सिर्फ दासी या नौकरानी जैसी ही होती है। वह घर की मालकीन कभी भी नहीं बन सकती, उसे उसके अधिकार प्राप्त नहीं होते। और यदि वह अपने अधिकारों की मांग करती है तो उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। यह दलित स्त्री जीवन की वास्तविकता है जिसकी ओर कर्दम जी ने इंगित किया।

नारी का शोषण इक्कीसवीं सदी में हर जगह हर क्षेत्र में किया जा रहा है। रमणिका गुप्ता ने नारी शोषण के बारे में लिखा है - "औरत औरत होती है, चाहे वह किसी भी धर्म जाति या समुदाय की हो, सब जगह उसका शोषण होता है। मेले या सिनेमा घर में हर औरत के साथ छेड़छाड़ होती है।"[2] लेकिन दलित स्त्री के साथ तो केवल छेड़छाड़ ही नहीं बल्कि उसका प्यार के नाम पर यौन शोषण किया जाता है।

ग्रामीण जीवन में दलित स्त्री पर अत्याचार की घटनाओं की संख्या को देखकर लगता नहीं कि हम किसी सभ्य समाज में रह रहे हैं। जातिवादी समाज की बर्बरता जाति श्रेष्टता को दर्शाने का पर्याय बनी है। भारतीय आभिजात्यवादी सभ्यता, संस्कृति और वर्ण वर्चस्व की यह न खत्म होने वाली प्रवृत्ति है। सोलह वर्षीय फूलन देवी पर बेहमाई के बीच ठाकुरों द्वारा लगातार कई दिनों तक बलात्कार किया गया था। उसे नग्न करके संपूर्ण गाँव के लोगों के समक्ष उसे कुएँ से पानी

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.29

[2] 'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन', डॉ. जयप्रकाश कर्दम, पृ.18

भरने पर मजबूर किया गया था।

दलित स्त्री के स्त्रीत्व पर अमानुष अत्याचार करके उसके अस्तित्व मिटा देने की बेहमाई के ठाकुरों की जाति अहं और वर्चस्व की निरंकुशता, जातिवादी घृणा की पराकाष्ठा थी। एक अबोध, असहाय किशोरी, कामांध बर्बर पशुओं के आगे बेबस थी। लेकिन स्त्री के अस्तित्व और अस्मिता को नकारने, उसे अपमानित करने के कारण जो आग फूलन में भड़की थी, वह बीस से बाईस बहशी ठाकुरों को गोलियों का निशाना बनाकर ही ठंडी हो पायी थी। फूलन को इस समाज ने नहीं चंबल के बिहड़ों ने सहारा दिया था। समाज के कथित सवर्णों की बेरहमी, बर्बरता, पाशविकता ने फूलन को दस्यु सुंदरी बनने पर मजबूर किया था। एक स्त्री की अस्मिता का अपमान उसे क्या से क्या बना दे सकता है, इसका यह एक जीवंत उदाहरण है। इससे सवर्ण जाति अहं से ग्रस्त समाज को बोध लेना चाहिए।

3.11. मौलिक अधिकारों के प्रति सजगता

संविधान निर्माण के साथ ही साथ मौलिक अधिकारों का दायरा साफ हुआ लेकिन दलितों को इसके बाद भी अपने मौलिक अधिकार प्राप्त नहीं हुए। इसीलिए कर्दम जी ने अपनी कविता 'मेरे अधिकार कहाँ है?' में लिखा है -

"तुम चाहो रामराज्य आए,
तुम श्रेष्ठ, शूद्र मैं बना रहूँ
तुमको सारे अधिकार रहें,
मैं वर्जनाओं से लदा रहूँ
सदियों से शम्बूकों की गर्दन काटने की परम्परा
इस देश-धरा से उठ जाए, इस आशय का स्वीकार कहाँ है?
कानों में पिघला शीशा,
मेरी जीव्हा पर ताले हैं
अस्पृश्य, पशु से भी बदतर निज श्वासों तक के लाले हैं

उत्पीड़न के ज़जीरों में यूँ कसा-फंदा सदियों से

मैं ना मुर्दा हूँ, ना ही जी सकता

मेरे मौलिक अधिकार कहाँ हैं?"[1]

ग़ौरतलब है कि दलितों को लम्बे अरसे तक अपने अधिकारों से वंचित रखा गया था। इसीलिए डॉ. अम्बेडकर ने अछूतोद्धार के दौरान मानवीय अधिकारों की भी मांग की थी, जिनकी प्राप्ति न केवल समाज के सहयोग पर आधारित थी बल्कि दलितों के संगठन और उत्साह पर भी निर्भर थी। वर्तामान समय संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर की यह मांग फलीभूत होत हुई दिखाई देती है। शिक्षा जैसा मौलिक अधिकारों से दलित वर्ग को वंचित रखा गया। राम राज्य को आदर्श राज्य माना जाता रहा है, लेकिन यह कैसी विडंबना है कि उस रामायण काल में भी शम्बुक की हत्या कर दी गयी फिर भी वर्तमान समय में भी तुलसीदासी विचारधारा के लोग राम राज्य की परिकल्पना को योग्य मानते हैं और वर्ण व्यवस्था को उचित करार देते हैं।

वर्तमान समय में लोगों ने आधुनिकता का चोला तो पहन लिया है लेकिन विचारों से वही सामंतवाद बीच-बीच में सिर उठा रहा है। आख़िरकार कहना ना होगा कि ऐसे लोगों की विचारधारा 'कुत्ते की पूँछ टेढी की टेढी' लोकोक्ति को चरितार्थ करती हुई दिखाई देती है।

ऐसे दलितों को चाहिए कि वे अपने अधिकारों के लिए मैदान में उतर आए। यदि दलित ऐसा करने से रहे तो उनकी आज़ादी एवं उनका भविष्य महाशून्य के समान है। इसीलिए कर्दम जी ने दलितों को संबोधित करते हुए लिखा है -

"एक दिन

तुम्हारी संतानें तुमसे पूछेंगी

तुमने हमें क्यों पैदा किया

यदि नहीं लड़ सकते थे तुम

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.42

अपने अधिकारों की लड़ाई

नहीं कर सकते थे रक्षा

अपनी अस्मिता की...।"[1]

साथ ही कवि कहता है -

"तुम भूखे सही

स्वाभिमान मत छोड़ो

दरिद्र सही

लाचार मत बनो

बेशक अंधकार में घिरे हो

निराश और निष्क्रिय मत बनो।"[2]

दलित साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें दया, सहानुभूति इत्यादि के लिए जगह नहीं है। यदि मांग है तो अधिकारों की और समानता के व्यवहार की। शोषित-पीड़ित दलितों के लिए भूख एक ऐसी सच्चाई है जिसके बिना दलित साहित्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भूखे व्यक्ति के लिए सबसे बड़ी बात यदि कोई है तो वह है - रोटी, दलित वर्ग रोटी की खातिर अपने स्वाभिमान की परवाह नहीं करता क्योंकि उस वक्त उसके लिए रोटी ही सबसे बड़ा सच होता है। कर्दम जी ने बुनियादी सच की बात की है, जिसके बिना दलित साहित्य का अस्तित्व ही ना के बराबर हो जाता है। दलितों के संबंध में छुआछूत की समस्या के बाद भूख की समस्या सर्वोपरि है, जिसकी ओर नज़रंदाज़ कर दलित चेतना की बात नहीं की जा सकती।

---

[1] 'तिनका तिनका आग', जयप्रकाश कर्दम, पृ.34
[2] वही, पृ.1

3.12. धर्मग्रंथों का बहिष्कार

संस्कृत-साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य तक की विकास यात्रा पर दृष्टि डाली जाए तो यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि सामाजिक विधि-विधानों की विविधताओं, कुरूपताओं तथा कुप्रथाओं से ऊबकर या उससे संत्रस्त होकर अनेक नए सामाजिक तथा धार्मिक आंदोलनों ने स्वरूप ग्रहण किया। कभी वेद-विहित विधानों के विरूद्ध जैन खड़े हुए, कभी बौद्ध और कभी सिख और कभी लोक। दलितवादी विचारधारा ने भी इसी तर्ज पर अपना स्वरूप ग्रहण किया है। सर्वविदित है कि दलित वर्ग प्राचीन काल से ही शोषित एवं पीड़ित समाज रहा है, वर्ण व्यवस्था के विभाजन से ही यदि देखा जाए तो एक मुट्ठी भर ब्राह्मण वर्ग ने विशाल दलित समुदाय पर अपना वर्चस्व स्थापित किया है।

डॉ. अम्बेडकर ने मनुस्मृति के आक्षेप वाले पृष्ठों को जला दिया तथा आर्य समाजियों द्वारा 'जाति तोड़क सम्मेलन' के आयोजन पर उद्घाटन भाषण देते हुए हिन्दू धर्मशास्त्रों, पुराणों और वेदों की तीव्र निन्दा की। अम्बेडकर तथा अम्बेडकरवादियों की यह घोषणा है कि "दलित साहित्य हिन्दू धर्म के आधार-स्तम्भ, ईश्वर, आत्मा और भाग्य के नकार का साहित्य है।"[1]

इसी क्रम में दलितवादी साहित्य में धर्मग्रन्थों का बहिष्कार है। कर्दम जी ने लिखा है -

"मक्कार हैं वे लोग जो कहते हैं कि
वर्ण-व्यवस्था अप्रासंगिक हो चुकी है,
जब तक स्मृतियाँ रहेंगी,
रामायण, गीता और वेद रहेंगे
तब तक वर्ण-शुचिता रहेगी
अस्पृश्यता रहेगी, जातिवाद रहेगा...।"[2]

और इसीलिए दलित मानस चाहता है कि ये सभी धर्मग्रन्थों का बहिष्कार होना आवश्यक है। ना केवल ग्रन्थ बल्कि सनातन ईश्वर के अस्तित्व को नकारना होगा।

---

[1] 'दलित चेतना की कहानियाँ : बदलती परिभाषाएँ', राजमणि शर्मा, पृ.117

[2] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.66

"समाज को प्रगतिशील बनाना है
जाति के जहर को पिटाना है
तो इन तथाकथित धर्मग्रन्थों को आग लगानी होगी,
और नकारना होगा वर्णित ईश्वर को
जो कर्मानुसार फल देता है, और मोक्ष भी वर्णों के अनुसार
जगानी होगी शुद्ध प्रजा
ध्वस्त करने होंगे विषमताओं के संरक्षण।"[1]

ग़ौरतलब है कि जब तक ये धर्मग्रन्थ रहेंगे तब तक दलित मानस आज़ाद साँसें नहीं ले पाएगा। पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह सवर्ण जातीय अहंमण्यता अपना सिर उठायेगी। इसीलिए दलित साहित्य में धर्मग्रन्थों का बहिष्कार किया गया है।

3.13. दलित अस्मिता की खोज

दलितों का जीवन संग्राम यातनामयी रहा है। दलितों ने जब-जब अपने स्वतंत्रता की आवाज़ उठायी है तब-तब उनकी आवाज़ को कुचल दिया गया है। स्वतंत्रता से पूर्व एवं स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भी यही सिलसिला जारी रहा है। अम्बेडकर के नेतृत्व ने दलितों में अखिल भारतीय चेतना का विकास तो किया लेकिन उनके पश्चात कोई प्रबल नेतृत्व सामने नहीं आया जिसके अभाव में दलित आंदोलन को सही दिशा प्राप्त नहीं हुई लेकिन जो लौ उन्होंने जलायी थी वही आज तक काम कर रही है। महाराष्ट्र की भूमि से उत्पन्न हुआ दलित आंदोलन आज संपूर्ण भारतवर्ष में अपनी पताका लहरा रहा है।

निश्चय ही स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात भारतीय परिवेश में परिवर्तन दिखाई देता है। फिर भी "समूचा प्रशासन, समूची व्यवस्था, दलित, पीड़ित, शोषित के हित-चिन्तन का नारा देकर भी सामन्तीय, पूँजीवादी व्यवस्था का पोषक बना हुआ है। और तो और, दलित शोषित वर्ग के बीच से उठा हुआ व्यक्ति भी, विकासपथ पर बढ़कर अपनी अस्मिता, अपनी माटी और अपनों को

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.66-67

भूलकर इसी सामन्तीय पूँजीवादी व्यवस्था का अंग बन उनके विद्रोह, उनके आक्रोश के कारणों की खोज और समाधान में कोई मदद न कर उनके संघर्ष को कमज़ोर बनाता है।"[1]

ऐसे में सदियों से दलित, पीड़ित, शोषित वर्ग का मोहभंग हो जाता है और वह अपनी लड़ाई स्वयं लड़ने का संकल्प लेता है। दलित साहित्यकारों की रचनाएँ इस संकल्प को अंजाम देने की पुरज़ोर कोशिश हैं। कर्दम जी की तमाम रचनाओं में दलित अस्मिता की खोज दिखाई देती है। यह न केवल कर्दम जी की बल्कि लगभग सभी दलित रचनाकारों की कोशिश है कि दलित वर्ग को समाज में पुनः अन्याय एवं अत्याचार का सामना ना करना पड़े। वे अपनी रचनाओं की मशाल से दलित वर्ग को सचेत करने का यथेष्ट प्रयास कर रहे हैं। दलितों पर लगातार अमानवीय अत्याचार होत रहे हैं, उनकी अस्मिता को पैरों तले कुचला गया है, इसीलिए कर्दम जी लिखते हैं -

"... उनके चीत्कारों पर गूँजे हैं अट्टाहास,
मारी गयी है खाली पेटों पर जूतों की ठोकरें,
रौंदी गयी हैं उनकी लाश
गांव हो या शहर,
यही रहा है सब जगह दलितों का हाल... ।"[2]

और एक दृश्य यह है कि सवर्ण समाज हर जगह अपना वर्चस्व बनाए हुए है, ऐसे में दलितों के साथ बराबरी का भाव कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। देखिए,

"धन-धरती-मील तुम्हारे हैं
पोखर और झील तुम्हारे हैं
शासन-सत्ता पर काबिज तुम
थाने-तहसील तुम्हारे हैं
तुम जाति-दम्भ के अभिमानी
मुझसे घृणा व्यापार करो

---

[1] 'दलित चेतना की कहानियाँ : बदलती परिभाषाएँ', राजमणि शर्मा, पृ.79
[2] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.34

वैषम्य-द्वेष के बीहड़ में
मैत्री की मीनार कहाँ है?"[1]

दलित रचनाकार समानता का दावा करता है। जब तक समानता का व्यवहार नहीं तब तक दलितों की अस्मिता का सवाल कटघरे में कैद रहेगा। दलितों में जो ऊँचा ओहदा पा गया वह अपने वर्ग से कटता गया है। और तो और वह अभिजात्य वर्ग के साथ रहते-रहते अपने आत्मजों को भी पहचानने से इन्कार कर देता है। कर्दम जी की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं -

"मेरी कुछ मजबूरियाँ हैं, माँ समझती क्यों नहीं।
साथ तो मैं ले चलूँ लेकिन रखूँ तुझको कहाँ?
ऊँची-ऊँची जातियों के लोग रहते हैं वहाँ
सभ्य-शिक्षित, हाइजेण्टरी लोग, सब फारवर्ड हैं,
लेकिन माँ तू तो निरी अशिक्षित और बैकवर्ड है।"[2]

कहना ना होगा कि दलितों में अपने पिछड़ेपन का अहसास जब तक रहेगा तब तक वह विकास पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते हैं। स्वयं दलितों के ऐसे रवैये को लेकर दलित रचनाकारों के मन में काफी आक्रोश भरा हुआ दिखाई देता है। और इसी आक्रोश के कारण उनकी रचनाओं में अस्मिता की खोज भी दिखाई देती है।

बहरहाल कर्दम जी की कविताओं में संपूर्णता की अभिव्यक्ति हुई है। अमूमन उनकी कविताओं तथा अन्य रचनाओं में आत्मपरकता प्रवाहित हुई है। और ध्यान देने की बात है कि दलित साहित्य का उत्स ही आत्मानुभूति है और जब स्वयं के अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति होगी तो निश्चित ही आत्मपरकता का सहज उच्छृंखलन भी होगा। यही सहज उच्छृंखलन कर्दम जी की कविताओं की प्रमुख विशेषता है।

---

[1] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.41
[2] 'गूँगा नहीं था मैं', जयप्रकाश कर्दम, पृ.46

निष्कर्ष

कर्दम जी की कविताओं में दलित चेतना की अभिव्यक्ति के माध्यम से मानवीय संवेदनशीलता पर कटाक्ष हुआ है। मानवीय संवेदना ही कर्दम जी की रचनाओं को सार्थक पहचान देती है। कवि में स्थापित मूल्यों को नए सिरे से स्थापित करने की ललक है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कुछ सक्रिय है तो वह है नकार और विद्रोह का वह भाव जिसमें अप्रासंगिक हो चुकी, मरी हुई, जबरन लादी गई परम्परा को नकारकर, पूर्णतया अस्वीकार कर नई परम्परा की स्थापना की ललक। और इस ललक का औज़ार है - विद्रोह भाव, जिसकी धार हर बार तेज़ की जाती है लेकिन इस विद्रोह में पराजय की परवाह नहीं। अमूमन नकार और विद्रोह के लिए संगठन की आवश्यकता होती है लेकिन कवि ने व्यवस्था से उपेक्षित होकर, उससे असुरक्षितता का अनुभव कर अपनी रक्षा, अपने अस्तित्व की लड़ाई का बीड़ा स्वयं उठाया है।

फलस्वरूप कर्दम जी की कविताओं में एक ऐसा भाव उत्पन्न हुआ है जिससे गुजरते हुए दलित, चाहे वह जन्मना हो या परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से निर्मित, एक साथ संगठित होकर हमले के लिए उद्यत होता है, अपनी पहचान बनाने के लिए प्रयासरत होता है। उसके संगठन, समुदाय, समाज, वर्ग यदि पीछे भी हटते हैं तो वह संसार को प्रकाशित करने के लिए छोटे दीपक की भाँति अन्धकार से अकेला लड़ने को उद्यत है। इस आस में कि आज नहीं तो कल तो एकाधिक दीपक खड़े हो ही जाएँगे। वस्तुतः इस चेतना का विकास तभी संभव है जब कविता हो या किसी अन्य विधा की रचना, उसमें सत्य-तथ्य की गुंजाइश हो। कर्दम जी की कविताओं में यह गुंजाइश सहजवत दृष्टिगोचर होती है।

कर्दम जी की काव्यगत विशेषताओं पर विचार किया जाए तो कहना ना होगा कि उनकी कविता गद्यात्मक होने के बावजूद भी काव्यात्मक संबंधों की बात करती है। काव्यात्मक संबंध से तात्पर्य है - ऐसा संबंध जो एक-दूसरे के मन की साँठ-गाँठ को सहज-सुलभ तरीक़े से अंजाम तक ले जाए - समानता के आशय से। रचना का आशय समाजहित हो लेकिन रवैया भले ही

विद्रोहात्मक हो किन्तु जब मानवीयता की बात की जाए तो वहाँ केवल सामंजस्य, सद्भावना इत्यादि की गुंजाइश हो जो एक सफल, शांतिमय समाज की रचना कर सकते हैं। कर्दम जी की रचनाओं में यह खास तत्व विद्यमान है।

अन्याय एवं अत्याचार के खिलाफ मन में खूब आक्रोश है, खून भी गर्म है और मार रहा है धमनियों में ज़ोर से उफान लेकिन विचार हैं संयत कि यदि हम भी बल्लम, बंदूकें और तलवारें लेकर मैदान में उतरें तो हानि होगी तो केवल मनावीयता की। दलितों के संबंध में यह महत्वपूर्ण तत्व है कि तमाम सामाजिक बदसलूकियों के बावजूद भी यह वर्ग समाज में शांति बनाए रखना चाहता है। आक्रोश और चुप्पी का अद्भूत समन्वय कर्दम जी की कविताओं की मुख्य धारा है।

बहती धारा से कटकर अपनी रचना शैली के माध्यम से एक अलग-थलग संसार की सृष्टि कर्दम जी की विशेषता है। उनकी तमाम रचनाओं में विद्रोह का स्वर होने के बावजूद भी समानता की गुहार शांति एवं अहिंसा सूचक है। कवि की सौंदर्य-दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय पर जाती है और स्लो-मोशन में वहाँ का सारा हाल बयान करती है। मानो समाज में बिखराव ही बिखराव है लेकिन उसे करीने ढंग में लाने के लिए कोई पहल ही नहीं करता।

कवि जानता है कि तलवार की धार पर समता, बंधुत्व की बात नहीं की जा सकती इसीलिए वह अनेकानेक जगह चुप्पी साधता है। क्रांति लाने के लिए खून बहाने के पक्ष में कविमन नहीं है। अन्य दलित रचनाकारों की तुलना में कर्दम जी इस विशेष पक्ष पर आकर अपनी अलग राह लेते हैं, इसलिए उनकी कविताएँ अलग कोटि में आती हैं। कवि का शब्द-कर्म एक ऐसी भावप्रवणता को जन्म देता है जिससे दलित साहित्य की नवीन कमान तैयार होती दिखाई देती है। कवि के ही शब्दों में -

"मेरे शब्दों
केवल शब्द मत बने रहो
अपने अर्थों में आ जाओ...

x x x

अवाम के मन में उतर जाओ...

x x x

परिवर्तन के दस्तावेज बन जाओ...

x x x

क्रांति का बिगुल बजा दो।"[1]

बहरहाल कवि का शब्द-कर्म और मर्म अंतरगुंफित होकर जनमानस के भावों को आंदोलित करता है। इस मायने में कर्दम जी की कविताएँ अपने पाठकों से सीधे संवाद करती है या कहें की वाद-विवाद-संवाद की प्रक्रिया से होकर गुजरते हुए कविता उद्दीपन या संचारी भाव का कार्य करती है, जो दलित साहित्य की अन्यतम विशेषता है।

[1] 'तिनका तिनका आग', जयप्रकाश कर्दम, पृ.17

चतुर्थ अध्याय

दलित आंदोलन : डॉ. जयप्रकाश कर्दम का कथा-साहित्य

प्रस्तावना

4.1. 'करुणा' उपन्यास का कथासार एवं विषय-वस्तु

4.1.1. मानव कल्याण की कामना

4.1.2. समाज की विद्रुपताओं पर कटाक्ष

4.1.2.1. दहेज प्रथा

4.1.2.2. पुरातनवादी मानसिकता

4.1.2.3. भ्रष्टाचार

4.1.3.. संसार की असारता पर कटाक्ष

4.1.4. बौद्ध धर्म की महानता का परिचय

4.2. "छप्पर" उपन्यास का कथासार एवं विषय-वस्तु

4.2.1. व्यवस्था की आलोचना

4.2.2. परंपरागत आस्था एवं ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न

4.2.3. सवर्ण की दम्भी मानसिकता की टीका

4.3. 'तलाश' स्वानुभूत या भोगे हुए यथार्थ की भावाभिव्यक्ति

निष्कर्ष

दलित आंदोलन : डॉ. जयप्रकाश कर्दम का कथा-साहित्य

प्रस्तावना :-

दलित आंदोलन की शुरुआत तो डॉ. अम्बेडकर के भारतीय राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में पदार्पण से होती है लेकिन दलितों ने अपनी मुक्ति के लिए प्राचीन काल से ही अविरत प्रयास किए थे। सन् १८५७ के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में भी दलितों की प्रतिभागिता उल्लेखनीय है। लेकिन शोक के साथ कहना पड़ रहा है कि उनके योगदान को लेकर किसी भी इतिहासकार ने कुछ भी नहीं लिखा है। बहरहाल दलितों ने भारत की विविधा संस्कृति को एकजुट बनाए रखने में लगातार प्रयास किए हैं, किन्तु बदले में उन्हें केवल औ केवल शोषण एवं असमानता ही मिली। इसी असमानता से छुटकारा पाने के लिए दलितों ने समय-समय पर विद्रोह किए लेकिन अपनी भावुकता के कारण उन्हें कभी सफलता नहीं मिली।

भला इस संसार में ऐसा कौन व्यक्ति होगा जिसे गुलामी से कोई फर्क़ नहीं पड़ता हो। जब-जब प्रभुत्वसंपन्न वर्ग ने दुर्बलों पर अन्याय एवं अत्याचार किए तब-तब उन्हीं में से कोई उनका मसीहा बनकर उठ खड़ा हुआ है और प्रचलित अन्याय की ज़ोरदार खिलाफत की तथा उस वर्ग के शोषण के विरूद्ध अपनी अवाज़ बुलंद की। और तो और इससे भी आगे बढ़कर उसकी आवाज़ ने एक जनवादी रवैया लिया और देश एवं समाज में क्रांति का बिगुल बज उठा और ताकतवर प्रभुत्वसंपन्न वर्ग को हार माननी पड़ी है। संसार के हर देश का इतिहास इस तथ्य से रंजित है।

दलित आंदोलन भी ऐसी ही परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ या कहें कि हिन्दू धर्म की तमाम धार्मिक परम्पराओं एवं रीतियों के भुक्तभोगियों ने हिन्दू धर्म का बहिष्कार कर अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ने का फैसला किया और उनके नेतृत्व के रूप में डॉ. अम्बेडकर सामने आए और फिर उसके बाद अम्बेडकर के नेतृत्व में दलितों ने लगातार अपनी विजय पताका लहरायी है।

दलित वर्ग की सक्रिय हिस्सेदारी ने समकालीन दलित आन्दोलन को नयी दिशा एवं गति प्रदान की है। प्रगतिशील दलित वर्ग ने आज यह सिद्ध कर दिया है कि वह केवल शोषित अथवा शासित होने के लिए अभिशप्त नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक प्रक्रिया में भाग लेकर राष्ट्र को दिशा देने की क्षमता उसमें भी है। प्रवाहमान काल से चला आ रहा शोषण का अंत करने हेतु, वह आज स्वयं कटिबद्ध हो विकास की लगाम को थाम लिया है। सदियों से चली आ रही मनुवादी एवं सामंती व्यवस्था को तहस-नहस करने के विस्फोट का परिणाम नहीं है बल्कि उसके पीछे सदियों से चले आ रहे दलित मुक्ति आन्दोलनों का इतिहास मौजूद है।

स्वंतत्रता संग्राम के दौरान ही भारत के दलितों में सामाजिक औ सांस्कृतिक परिवर्तन के प्रयास शुरू हो गये थे। दलितों के लिए समान मानवाधिकारों की सबसे मुखर लड़ाई १९ वीं सदी में महात्मा ज्योतिबा फूले ने लड़ी, किन्तु उसे सफलता के सोपान तक २०वीं शताब्दी में भारत रत्न डॉ. अम्बेडकर ने पहुँचाया। इशके अतिरिक्त छत्रपति शाहु महाराज, पेरियार रामस्वामी नायर, नारायण गुरु, बिरसा मुंडा एवं डॉ. जयपाल सिंह आदि व्यक्तिमत्वों द्वारा ब्राह्मण वर्चस्व वाली संस्कृति के विरूद्ध चलाए गए आन्दोलन ने दलितों के जीवन में एक नई चेतना का संचार किया। यही नई चेतना आगे चलकर दलित समाज में परिवर्तन का आधार बनी। दलितों में आए इश नवजागरण ने उनके जीवन के कई पहलुओं को प्रभावित किया। इसी नवजागरण के चलते दलित समाज सामाजिक बुराइयों से मुक्ति के साथ-साथ सांस्कृतिक गुलामी से मुक्ति की ओर अग्रसर हुआ।

दलितों में आगे इस नयी चेतना का तेवर साहित्य में भी परिलक्षित होने लगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है - *"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता जाता है।"*[1]

यद्यपि दलितों द्वारा किये गये इस आंदोलन ने समाज के बने बनाए ढाँचे को तोड़कर एतक नवीन आकार देने का प्रयास किया है किन्तु यह आन्दोलन साहित्य में अपना असर कमोबेश ही दिखा पाया है। हिन्दी में दलित आंदोलन को लेकर छिंट-पुट ही लिखा गया है या यूँ कहें कि २०

[1] 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका पृ.२

वीं सदी के अंतिम दो दशकों से दलित लेखकों ने साहित्य जगत में पदार्पण किया है तो कोई अत्युक्ति ना होगी। जो भी हो हिन्दी साहित्य में दलित आन्दोलन अपना वह रूप नहीं ग्रहण कर पाया है जो मराठी साहित्य में दिखाई देता है। कहना ना होगा कि हिन्दी साहित्य में दलित आन्दोलन मराठी साहित्य से आयातीत है। इसके लिए तथ्य भी है कि दलित आन्दोलन की प्रारंभिक भूमि महाराष्ट्र रही है। दलित आन्दोलन के प्रमुख हस्ताक्षर छत्रपति शाहु महाराज, महात्मा ज्योतिबा फूले, डॉ. अम्बेडकर इत्यादि महाराष्ट्र की भूमि में उत्पन्न थे। अतः लाजिमी है कि दलित आन्दोलन की जड़ें महाराष्ट्र में ही हो और मराठी साहित्य में ही वह अपना असर दिखाए और हुआ भी वही। दलित आन्दोलन पहले मराठी में और फिर धीरे-धीरे हिन्दी साहित्य में अंगडाई लेने लगा। लेकिन दलित चेतना की अभिव्यक्ति भी अन्य साहित्य की भाँति पहले कविता में ही हुई। आम तौर पर कहा ही जाता है कि हर लेखक पहले कवि होता है और उसके बाद एक सफल गद्यकार। दलित आन्दोलन के संदर्भ में भी यह बात शत-प्रतिशत लागू होती है।

ऐसे ही संदर्भ को रेखांकित करते हुए डॉ. एन. सिंह ने लिखा है कि, *"किसी भी प्रकार की नूतन चेतना अब साहित्य में अभिव्यक्ति पाती है तो उसका स्वाभाविक स्वरूप कविता ही होती है। लेकिन उसकी चरम परिणति उपन्यास में होती है। हिन्दी में दलित चेतना की अभिव्यक्ति भी पहले कविता में हुई। इसे चाहे रैदास से माने, चाहे उससे पूर्व से, जो हीरा-डोम से होती हुई, वर्तमान समय तक आती है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के साथ ही कथा साहित्य में भी दलित चेतना की अभिव्यक्ति दृष्चिगोचर होने लगी। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के दो लघु-उपन्यास - 'बिल्लेसूर बकरीहा' तथा 'चतुरी चमार', मुन्शी प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ यथा - 'सद्‌गति', 'ठाकुर का कुँआ', 'घासवाली', 'मंत्र', 'मंदिर और बाबा का भोग' आदि। अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल', गिरिराज किशोर के दो उपन्यास 'परिशिष्ट' तथा 'यथा प्रस्तावित' के अतिरिक्त हरिसुमन बिष्ट का उपन्यास 'आसमान झुक रहा है' में बाकायदा दलित उत्पीडन, शोषण तो अभिव्यक्त हुआ ही है, दलितों के सामाजिक, आर्थिक एवं मानसिक शोषण के भी कई सजीव*

चित्र यहाँ उपस्थित हैं।"[1]

इसी श्रृंखला में जयप्रकाश कर्दम जी का उपन्यास 'छप्पर' एक ऐसी औपन्यासिक रचना है, जो पाठकों में उच्च वर्णों द्वारा किए जाने वाले अन्याय एवं अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करने की संवेदना को जगाता है। डॉ. एन. सिंह का कहना है - जय प्रकाश कर्दम का उपन्यास 'छप्पर' ऐसा ही परिवर्तनकारी उपन्यास है, जिसे मैं हिंदी का पहला उपन्यास मानता हूँ। ऐसा नहीं है कि इससे पूर्व लेखकों ने उपन्यास नहीं लिखे या प्रकाशित नहीं हुए। इससे पूर्व भी उपन्यास लिखे गये हैं, लेकिन उनमें दलित चेतना की अभिव्यक्ति का वह प्रवाह नहीं है जो हाल में लिखे गए उपन्यासों में दृष्टिगोचर होता है। इस दृष्टि से कर्दम जी के उपन्यास 'छप्पर' को अपनी कोटि का पहला दलित उपन्यास माना जा सकता है। इसमें वह भावप्रवणता है जो पाठकों को एक ऐसे विश्व से रु-ब-रु कराती है, जो औपन्यासिक तत्वों से कम और सत्य से अधिक निकट है।

वैसे भी दलित साहित्य में औपन्यासिक कृतियों की काल्पनिकता जैसा कोई घाल-मेल नहीं है। दलित साहित्य की कोटि में आने वाली रचनाओं में, दलितों द्वारा लिखी गयी हर रचना आती है और हर रचना में दलित लेखक के जीवन का भोगा हुआ यथार्थ ही उजागर होता है और होना चाहिए। ओमप्रकाश वाल्मिकी, मोहनदास नैमिशराय इत्यादि रचनाकारों की रचनाएँ इस बात के लिए प्रमाण हैं।

सन् १९८६-९६ के अंतिम दशक के दलित उपन्यासों का परीक्षण समाजशास्त्रीय, आर्थिक मनोवैज्ञानिक तथा कलात्मक पद्धतियों से किया जा सकता है क्योंकि दलितेत्तर लेखकों के दलित समाज से स्पर्श करने वाले उपन्यासों का विश्लेषण किया जाये तो उनके निष्कर्ष सर्वग्राही व अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

दलित उपन्यासों में आज़ादी से पूर्व एवं आज़ादी के पश्चात् के आठवें दशक तक के कालखण्डों में दलित एवं उच्च जाति के समाजों की जो परिस्थितिजन्य समस्याएँ थीं, उसका चित्रण मिलता है। बदली राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में आज़ादी के बाद के वर्षों में दलित

---

[1] 'अंगुत्तर' - अप्रैल-जून १९९५ में प्रकाशित डॉ. एन. सिंह का लेख, पृ.६१

समाज के क्रीमीलेयर का, नगर में बसने वाले अग्रणी-वर्ग का उदय हुआ है। परन्तु, गाँव के दलित समाज की परिस्थिति और उसमें जीते दीन-दरिद्र मनुष्यों की वेदना-संवेदनाओं को आकार देने का लक्ष्य लिए अधिकतम उपन्यासों में दलितों और सवर्णों के बीच संबंधों और तज्जन्य संघर्षों का चित्रण केन्द्र स्थान में रहता है।

जयप्रकाश कर्दम का उपन्यास 'छप्पर' पहला दलित उपन्यास है, जिसमें एक दलित युवक 'चन्दन' का उच्च शिक्षा के लिए संघर्ष अभिव्यक्ति पाता है, जिसके कारण उसके माँ-बाप को कितनी ही यातनाएँ सहनी पड़ती हैं और कितने अत्याचारों का सामना करना पड़ता है। इस उपन्यास में दलित जीवन के जितने भी पहलू हैं, लगभग सभी संपूर्ण भयावहता के साथ उपस्थित हैं।

जयप्रकाश कर्दम जी का उपन्यास पढ़ते हुए चेतना, उत्साह और प्रेरणा मिलती है। यह उपन्यास आजादी पूर्व और आज़ादी के बाद की स्थिति का चित्रण करता है। यह प्रमुख रूप से दलित परिवार की कहानी है, और साथ-साथ भारतीय समाज की विषमता को डंके की चोट पर उजागर करता है। परंतु सात ही यह उपन्यास आम आदमी के सुखकर जीवन जीने के लिए मार्गदर्शक का भी काम करता है।

अस्सी के बाद लिखे गए ऐसे कई उपन्यासों में चेतना के इस नवीन तेवर को देखा जा सकता है। 'हज़ार घोड़ों का सवार', 'यथा प्रस्तावित', 'मोतिया', 'मिट्टी का सौगंध', 'घार', 'गगन घटा गहराई', 'नयी बिसात', 'सर्पगंधा', 'बसंती मौसी' आदि उपन्यासों में चेतना के इस स्वरूप को उपन्यासकारों ने बड़े ही जीवंत एवं प्रामाणिक ढ़ंगों से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

किन्तु जयप्रकाश कर्दम का प्रथम उपन्यास 'करुणा' उक्त उल्लिखित रचनाओं से भिन्न है। यह अपने आप में एक नवीनता लिए हुए जो बौद्ध धर्म के दर्शन की विचारधारा को संयत रूप में पुनः हमारे सामने रखने का सचेष्ट प्रयास है। वर्तमान में कर्दम जी की केवल दो ही औपन्यासिक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं और दोनों में पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है। प्रायः यह देखा गया है कि लेखक अपनी पिछली रचना की कथावस्तु एवं शिल्प-संवेदना से पूर्णतः छुटकारा नहीं पाता है लेकिन कर्दम जी की दोनों रचनाओं में दो अलग-अलग कथानक अलग-अलग परिप्रेक्ष्य को उजागर करते हैं।

4.1. 'करुणा' उपन्यास का कथासार एवं विषय-वस्तु

'करुणा' उपन्यास मानव कल्याण की कामना करने वाला उपन्यास है। यद्यपि यह कहना ना होगा कि प्रस्तुत उपन्यास में कर्दम जी के जीवन की कुछ झाँकियाँ यदा-कदा अपना सिर निकालती हुई दिख जाती हैं। वैसे भी इससे आनुषंगिक तर्क भी कि रचनाकार अपने रचना-कर्म के दौरान चाहे जितनी भी निरपेक्षता बरतने का प्रयास करे, उसके इर्द-गिर्द का परिवेश तथा उसका अपना सत्य रचना में अनायास ही प्रस्तुत होता है अथवा लेखक की निरपेक्षता को उसका परिवेश तथा जीवनानुभूति अनायास ही 'ओवरराइड' कर जाती है। 'करुणा' उपन्यास के संदर्भ में यह तर्क सटीक जान पड़ता है।

'करुणा' उपन्यास की सारी कहानी एवं घटनाएँ धामपुर नामक गाँव में घटित होती हैं और इसी गाँव में वास करने वाले चरित्रों के ज़रिए वह अपना एक वृत्त बनाती है। इस उपन्यास में मुख्यतः दो प्रधान चरित्र विद्यमान हैं, रमेश और करुणा। इन दोनों की कथा उपन्यास के अंत तक समानांतर चलती है और विराम में एक वृत्ताकार हो जाती है। वास्तव में लेखक ने अत्यंत ही सतर्कता से दोनों के प्रेम संबंध को चिह्नित किया है और चरित्रांकन में भी काफ़ी साफगोई बरती है। मूल्यांकन के दौरान कभी-कभार लगता है मानो लेखक ने उपन्यास ना लिख किसी फ़िल्म की पटकथा लिखी हो। और अचानक लग जाता है कि लेखक पर हिन्दी फ़िल्मों का काफ़ी असर दिखाई देता है। जिस प्रकार हिन्दी फ़िल्मों के आरंभिक दौर में फ़िल्म का नायक अभी युवावस्था में आया ना आया कि उसके माता-पिता का देहांत हो जाता है और नायक के लिए छोड़ जाते हैं अनुज भाई-बहनें। अब नायक चूँकि सूझ-बूझ वाला है और सामाजिक किस्म का उसका चरित्र ठहरा, उसे सबकी देखभाल, परवरिश एवं उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा विवाह इत्यादि तक को अपना उत्तरदायित्व समझकर निभाने के लिए बाध्य करता है। यह सब करते हुए उसे काफ़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, यहाँ तक कि वह अपनी शिक्षा-दीक्षा तक पूर्ण नहीं कर पाता है लेकिन वह अपने उत्तरदायित्व को भली-भाँति निभाता है और नियति की कसौटी पर ख़रा उतरता है।

इसी दौरान, ऐसे ही वातावरण में, एक दिन अचानक ही वह एक युवती से टकरा जाता है, जिसके साथ धीरे-धीरे मेलजोल बढ़ते जाता है और एक समय के बाद उसके साथ उसका मन रमने लगता है और ऐसा ही कुछ उस युवती के साथ भी होने लगता है। इसी बीच एक दिन उस नौजवान युवक के साथ एक अनहोनी होती है, जिसमें वह अपाहिज हो जाता है। वह ग़रीब है और भी कई बातें घट जाती हैं, जिसके चलते नायिका अपाहिज नायक को नहीं अपना सकती है और इस प्रकार दोनों बिछड़ जाते हैं। फिर एक दिन दोनों अनायास ही एक-दूसरे से टकरा जाते हैं और एक-दूसरे की उपलब्धि या हालातों से प्रभावित होते हैं और एक नई डगर की तलाश में निकल पड़ते हैं।

इस प्रकार तटस्थ होकर उपन्यास की कथावस्तु पर कटाक्ष करने से लगता है कि यह उपन्यास कई हिन्दी फ़िल्मों का सोचा-समझा और सूझ-बूझ से युक्त मिश्रण है। और एक बात इस उपन्यास में देखने को मिलेगी वह यह कि लेखक ने जबरन ही गौतम बुद्ध का या बुद्ध विहार का ज़िक्र जबरन ही कर दिया है, जिससे कथा में वैक्यूम तैयार हुआ है। इस बात के प्रमाण के लिए उपन्यास के पृष्ठ सं. १०-११ पर दृष्टिपात किया जा सकता है। दलित लेखक होने का दावा करने के लिए मानो उपन्यासकार ने जगह-जगह अचानक ही बौद्ध विहार का दिक्र कर दिया है। करुणा का बौद्ध भिक्षुणी बनना भी कुछ ऐसा ही प्रसंग है। कर्दम जी का चूँकि यह पहला औपन्यासिक प्रयास मानो राजनीति की सोची-समझी साज़िश की भाँति जान पड़ता है। अमूमन रचना में स्वतःप्रवर्तता (Spontaneity) रचना की स्वाभाविक माँग होती है, बिना स्वतःप्रवर्तता के रचना में प्रवणता एवं सहृदयता की न्यूनता उत्पन्न होती है, इस तथ्य से कर्दम जी चूक गये हैं।

उपन्यासकार की एक और कमी यदा-कदा दिखाई पड़ जाती है, वह है उसका शाब्दिक चयन! तात्पर्य यह कि लेखक ने कई जगह अनावश्यक ही कुछ अटपटे शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ - *"यद्यपि उसका धर्मवाद ब्राह्मण था... ।"*[1] में धर्म के साथ वाद शब्द जोड़ने शायद ही कोई आवश्यकता थी, किन्तु शायद लेखक ने औपन्यासिक उत्कृष्टतता में चार चाँद लगाने के

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 19

उद्देश्य से ऐसा किया हो!

बहरहाल, उपन्यास की कथा की शुरुआत धामपुर नामक गाँव के सुनहरे वातावरण में, सुबह के सूरज की सुनहली किरणों, ओस भरी घास और पक्षियों के कलरव में होती है। उपन्यास के नायक रमेश के पिता हरिशंकर जी का देहांत हुए दो साल हो चुके हैं। मगर उन्होंने अपने पीछे चार बेटे और दो बेटियाँ छोड़ी जिनकी ज़म्मेदारी रमेश पर थी। पारिवारिक परिस्थितियाँ भी अत्यंत विषम थीं अतः उसे अन्यमनस्क हो पढ़ाई बीच में ही छोड़ देनी पड़ी।

"यूँ कानूनी तौर पर वह इस सबके लिए बाध्य नहीं था। पर कहते हैं 'मानो तो सब कुछ है, ना मानो तो कुछ नहीं।' वह मानता था। मानना आस्था पर निर्भर करता है। यदि इस तरह की आस्था उसके मन में न होती तो वह इतने बड़े परिवार की ज़िम्मेदारी कभी अपने सिर न लेता।... और अब तो परिवार की मर्यादा उसके लिए प्राणों से भी बढ़कर हो गयी थी। और उस मर्यादा की रक्षा के लिए ही स्वयं को समर्पित करना ही उसका साध्य बन गया था।"[1] वह अपनी सारी ज़िम्मेदारियाँ निभाता जाता है। लेकिन घर की बिगड़ती आर्थिक स्थिति और ऊपर से समय से पूर्व हुई माता-पिता की मौत ने उसकी ज़िन्दगी को विषादपूर्ण बना दिया था।

वैसे वह बहुत ही शांत स्वभाव का व संगीत प्रेमी था और शिक्षा के क्षेत्र में उसकी गहरी रुचि भी थी किन्तु माता-पिता की अकाल मृत्यु के बाद उसे अपनी शिक्षा पूर्ण करने का अवसर ना मिला। वह कला निष्णात हो चुका था। अतः एक स्कूल में अध्यापक की नौकरी करने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय ना रह गया था। और उसी के निमित्त उसे नसबन्दी कार्यक्रम के अंतर्गत अपना आपरेशन कराने के लिए बाध्य होना पड़ा। यह देख-सुन माता के अन्तर में अपराध-बोध जागृत हुआ और घृणा और क्षोभ के चलते उसने भी अपने प्राण त्याग दिए।

वैसे तो रमेश बहुमुखी प्रतिभा का धनी था, वह संगीत में रुचि रखता था और कॉलेज के संगीत संकाय में सितार वादन किया करता था। साथ ही साथ वह साहित्य में शोध करने का आकांक्षी था परंतु वह आकांक्षा पिता की मृत्यु के साथ-साथ मिट्टी में मिल गयी। साहित्यकारों

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 9

की समस्या को आधार बनाकर वह एक उपन्यास भी लिख रहा था। वह मितभाषी था किन्तु उसके विचार बहुत गहरे थे। करुणा रमेश के व्यक्तित्व एवं बहुमुखी प्रतिभा से काफ़ी प्रभावित थी। धीरे-धीरे उनका परिचय गहरा होते जाता है और कब उनके मन में एक-दूसरे के प्रति प्रेम के अंकुर फुटते हैं उन्हें पता ही नहीं चलता है और आख़िरकार दोनों आजीवन साथ रहने का निश्चय करते हैं लेकिन एक सड़क दुर्घटना में रमेश अपाहिज हो जाता है और करुणा के ह्रदय को भारी झटका लगता है। वह अब संसार से विरक्त हो जाती है, अब उसे किसी बात में कोई दिलचस्पी नहीं रही। *"यद्यपि उसका धर्मवाद ब्राह्मण था और उसके घर पर सारे धार्मिक अनुष्ठान ब्राह्मण के द्वारा ही सम्पन्न होते थे तथापि इन शान्त चित्त और शीलवान बौद्ध भिक्षुओं की तुलना में उसे तिलक धारी हिन्दू साधू अनाचारी और तुच्छ लगते।"*[1]

इसी तथ्य के साथ एक दिन एक भिक्षुणी का प्रवचन सुनकर वह गृह-त्याग करती है और बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है। भिक्षुणी ने बताया *"सांसारिक जीवन में सुख है ही कहा। सब कुछ दुःखमय है, जन्म से जाति जरा, मरण सब दुःख है, वांछित वस्तु का न मिलना दुःख है। दरिद्रता और अभाव दुःख है। शत्रु से भय शंका रहना दुःख है। विषयों के प्रति राग, आसक्ति और यहाँ तक कि सभी कुछ दुःखमय है। सारा जीवन दुःखों से भरा है। मनुष्य दुःख में पैदा होता है। तृष्णा के कारण राग और आसक्ति में डूबा मनुष्य जीवन भर दुःख भोगता है और दुःख सहते-सहते ही मर जाता है। विषयों के प्रति अनासक्ति और तृष्णा के नाश में ही सुख है।"*[2] इसी तथ्य को आधार मानकर उसने अपने जीवन के मार्ग का चयन किया। वह भिक्षुणी बनती है और अपने कड़े परिश्रम से वह सबमें विख्यात होने लगती है।

इधर रमेश जीवन की अनसुलझी गुत्थियों में उलझा रहता है, अतः सदैव परेशानियों एवं उत्तरदायित्व से घिरा रहता है। एक परेशानी ख़त्म होते ही दूसरी परेशानी उसके सामने आकर खड़ी हो जाती है। अपनी छोटी बहन रीता की शादी के लिए वह योग्य वर की तलाश करने लगता

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 19

[2] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 20

है किन्तु समाज में व्याप्त दहेज प्रथा जैसे विकराल दैत्य का सामना करना उसके वश में नहीं था। अतः वह बौद्ध धर्म में ही अपनी बहन का विवाह कर देता है, कुछ वर्ष का सुखी दाम्पत्य जीवन बिताने के बाद जब उसे कोई संतान नहीं हुई तब उसकी सास का पुरातनवादी रवैया सिर उठाने लगता है और दिन-ब-दिन घर में उसके प्रति बर्ताव बदलने लगता है और गाली-गलौज तक मामला जा पहुँचा। ऐसे में वह लौटकर अपने भाई रमेश के पास आती है लेकिन जीवन के प्रति हुई उत्पन्न विरक्तता के चलते वह आत्महत्या कर लेती है।

बहन की अकाल मृत्यु के घाव भरे भी नहीं कि ठाकुर सुखदेव सिंह के पुत्र का मामला उठ खड़ा होता है। ठाकुर साहब का बिगडैल बेटा सूरज, भुल्लन नामक गरीब आदमी की जवान बेटी का बलात्कार करने की कोशिश करता है। मामला पंचायत के आगे आता है और रमेश की ज़ोरदार अपील के चलते उसे सज़ा भुगतना पड़ता है। लेकिन सूरज इंस्पैक्टर को घुस देकर, रमेश की बहन की आत्महत्या को हत्या में परिवर्तित कर रमेश को जेल की सलाखों के पीछे भेज देता है।

रमेश के जेल जाने के बाद उसके छोटे भाई-बहनों को काफ़ी आपदाओं का सामना करना पड़ता है। अब गृहस्थी का सारा भार अखिल पर आ पड़ता है और इसीके चलते उसे अपनी शिक्षा-दीक्षा छोड़कर ठेले पर फल वगैरह बेचना पड़ता है। इस तरह वह परिवार की जिम्मेदारी सँभाल लेता है। कुछ लोग होते हैं जो हालातों के आगे मजबूर होकर घुटने टेक देते हैं और उन्हीं हालातों को अपनी नीयति मानकर उसी बहाव में बहते जाते हैं। लेकिन, कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो दिशा के विपरित चलकर अपनी नीयति को भी चुनौती देते हैं। अखिल में दिशा के विपरित चलने का साहस न था अतः वह उसी बहाव में बहते चला जाता है।

रमेश के चरित्र में परिवर्तन तब देखने को मिलता है जब से वह जेल जाता है। जेल जाने से पूर्व उसके लिए समाज का चित्र आदर्शवादी था लेकिन अब वह बदलकर कलुषित हो जाता है। *"पूर्व की अपेक्षा अब उसके सोचने के ढंग में भी क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया है। पहले वह समाज को आदर्श का पर्याय मानता था और मनुष्य को इस आदर्श समाज की एक सूक्ष्म इकाई। किन्तु जबसे उसे रीता की हत्या का झूठा अभियुक्त बनाकर जेल की इस कोठरी में कैद किया गया*

है, समाज के प्रति उसका दृष्टिकोण बिल्कुल बदल गया है। वह सोचने को विवश हो गया है कि समाज का न तो न्याय के प्रति आग्रह है और न सुरक्षा कवच ही। बल्कि वह समाज को स्वार्थ में लिप्त हिंसक लोगों का समूह बताने लगा है। उसकी सोच के अनुसार केवल वही लोग सुरक्षित हैं, तथा उनके साथ ही न्याय होता है, जो समृद्ध हैं, शक्तिशाली हैं। इस बात को जब वह दूसरे दृष्टिकोण से सोचता है तो पाता है कि कोई आदमी कितना अधिक समृद्ध है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसने दूसरों का कितना अधिक शोषण किया है। कोई आदमी कितना सम्मानित है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसने दूसरों को कितना पतित बनाया है। या यूँ कहिए कि वह वर्तमान समाज के ढाँचे को कुछ इस तरह मानने लगा है कि एक आदमी की ज़िन्दगी दूसरे की मौत पर खड़ी हो गयी है। एक आदमी का उत्थान दूसरे के पतन पर निर्भर हो गया है, तथा एक आदमी की सम्पन्नता दूसरे की विपन्नता और उत्पीड़न पर खड़ी हो गयी है। उसकी इस सोच का ही परिणाम है कि पहले वह जिस पुलिस को जनता की रक्षक के रूप में दर्जा देता था, आज उसी पुलिस को वह हरामी, मुफ्तखोर या जाहिल जैसे शब्दों से संबोधित करने में संकोच अनुभव नहीं करता है।"[1]

उपन्यास के अंत तक आते-आते रमेश अचानक पुनः कल्याणी से मिलता है और बौद्ध धर्म का स्वीकार करता है। कर्दम जी ने डॉ. अम्बेडकर के विचारों पर अमल करते हुए बौद्ध धर्म की तात्विक व्याख्या की है और रमेश का बौद्ध धर्म में दीक्षा लेना डॉ. अम्बेडकर के दिखाए मार्ग पर चलने का संकेत है।

संक्षेप में 'कल्याणी' उपन्यास सभी औपन्यासिक तत्वों को समेटते हुए सार्थक प्रयास साबित होता है। उपन्यास में लेखक ने जिन बिन्दुओं को रेखांकित करने का प्रयास किया है वे निम्नानुसार हो सकते हैं।

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. 45-46

4.1.1. मानव कल्याण की कामना

दलित साहित्य में मानव कल्याण की कामना पर अधिक बल दिया गया है। प्राचीन काल से उपेक्षित समाज द्वारा किया गया आन्दोलन भले ही उग्र रूप में दिखाई देता हो लेकिन उसकी बुनियाद शान्ति है। कर्दम जी का यह प्रथम उपन्यास बौद्ध धर्म की विचारधारा एवं पृष्ठभूमि को आधार बनाकर लिखी गयी रचना है अतः इसमें गौतम बुद्ध के विचारों का प्रभाव दिखाई देना लाजिमी है। लेखने उपन्यास के आरम्भ में आत्म-कथ्य में लिखा है - *"बुद्ध-धर्म महज किसी धार्मिक सम्प्रदाय का नाम नहीं है अपितु यह जीवन का एक श्रेष्ठ मार्ग है, जिसका अनुसरण करके कोई भी व्यक्ति अथवा समाज जीवन के शिखर तक पहुँच सकता है। बुद्ध धर्म उश जीवन पद्धति का नाम है, जो मनुष्यता पर आधारित है। जिसका केन्द्र बिन्दु मानव है, तथा मानव कल्याण ही जिसका एकमात्र ध्येय है।"*[1] ग़ौरतलब है कि गौतम बुद्ध मानव कल्याण की कामना करते हुए निर्वाण को चले गए थे। उन्होंने मानव के दुःख का निदान प्राप्त करने के उद्देश्य से ही गृह-त्याग किया था।

'करुणा' उपन्यास की नायिका करुणा यद्यपि निजी चिन्ताओं से मुक्ति पाने के उद्देश्य तथा जीवन के यथार्थ की खोज करने के लिए गृह-त्याग करती है।

हरिराम मीणा ने लिखा है कि, *"देश और काल की विशिष्ट परिस्थितियों में सामाजिक अन्याय के लिए उत्तरदायी कारण कई हो सकते हैं। भलीभाँति परिचित कारकों में हम जाति, लिंग, क्षेत्र, धर्म, भाषा, नस्ल, कर्म (व्यवसाय), वंश, अतीत आदि को ले सकते हैं।"*[2] लेकिन करुणा की व्यथा कथा में उक्त कोई भी कारण लागू नहीं होता। वह तो सांसारिक दुःख से पीड़ित होकर बौद्ध धर्म का स्वीकार करती है। वह बौद्ध भिक्षुणी द्वारा की गयी सांसारिक जीवन की व्याख्या से अभिभूत होकर अपने जीवन का मार्ग बदल देती है।

गौतम बुद्ध ने मानव कल्याण की कमना से ही महाभीनिष्क्रमण किया था। वास्तव में उनके अंतर्मन में जो दुःख था वह उन्हें सताए जा रहा था। व्यक्ति संपूर्ण जीवन जी लेता है लेकिन कभी

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ.३

[2] 'दलित साहित्य २००२', सं. जयप्रकाश कर्दम, पृ. २११ पर हरिराम मीणा का आलेख 'सामाजिक न्याय : सवाल इरादों का है।'

अपने अंतर्मन को नहीं परख पाता कि उसे वास्तव में क्या चाहिए। बुद्ध ने अपने अंदर की ओर झाँककर देखा तो उन्हें राजमहल वगैरह सब ओछे लगने लगे औ उसी की परिणति निर्वाण में होती है। करुणा उपन्यास में लेखक ने लगभग उसी तर्ज पर करुणा का गृह त्याग दर्शाया है। करुणा भी गौतम बुद्ध की तरह ही जीवन की सच्चाई को जानने के उद्देश्य से गृहत्याग करती है।

डॉ. एल. बी. राम अनन्त ने इस उपन्यास के संदर्भ में लिखा है कि, *"इसमें लेखक ने जीवन के धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में उगने वाली कंटीली झाड़ियों में चिथड़े-चिथड़े होकर तार-तार होने वाली मानवता को चित्रित किया है। इस चित्र के अपने आकर्षण हैं। कहीं परिस्थितियों का सटीक चित्रण, करुण जीवन के लिए बेमेल पृष्ठभूमि प्रदान कर करुणा को गहराता और उपन्यास के शीर्षक को सार्थकता प्रदान करता है, तो कहीं आधुनिक भारतीय जीवन की घुटन की ओर ध्यान ले जाता है।"*[1]

वास्तव में करुणा का जीवन संसार की कंटीली झाड़ियों के बीच उलझने के बाद वह बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुई थी। अन्यथा वह भी अन्य समकालीन मध्यवर्गीय युवा-मन की तरह आकांक्षाओं एवं अभिलाषाओं से युक्त था लेकिन जैसे ही जीवन में दुर्घटनाएँ घटित होती गईं वह जीवन से विरक्त होती गयी।

वैसे भी मनुष्य को होश तो तब आता है जब उस पर कोई भीषण आपदा आती है। अन्यथा वह जीवन के भुलभुलैया में इस कदर खोया रहता है कि उसे हर वस्तु सुहानी दिखाई देती है। करुणा जीवन को सही मायने में तब समझती है जब रमेश के साथ भयानक दुर्घटना होती है और उसे अपना जीवन नारकीय वेदनामय लगता है।

उपन्यास में यदि कोई खास बात है तो वह है कथानक एवं चरित्रों की सोची समझी बुनावट। परंपरागत शोध की परिधि से अलग-थलग यदि निरपेक्षता से कर्दम जी के इस औपन्यासिक कृति के बारे में सोचें तो एक तथ्य-सत्य सामने आता है वह यह कि कथा में कोई परिघटना लक्षित नहीं होती। पूर्णतः काल्पनिक धरातल पर सृजित है।

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. दो शब्द

बहरहाल इतना कहा जा सकता है कि गौतम बुद्ध के जीवन मूल्यों को लेकर रचित होने कारणवश इसमें मानव कल्याण की कामना लक्षित होती है। अन्यथा आम तैर पर यह कृति आम जन-जीवन की परतों को बेपरत करती हुई दिखाई देती है। हाँ यह हो सकता था कि यदि लेखक बौद्ध धर्म को सायास कथानक के क्रम में न लाता तो एक बेहतर रचना हो सकती थी। फिर भी लेखक की यह प्रथम औपन्यासिक कृति होने के कारण आनेवाली औपन्यासिक कृतियों में जीवन की सच्चाईयों की गुंजाइश है और पाठक की माँग भी।

रचना में समाज की भयावहता का चित्रण उत्तम है। रमेश के जीवन का अंकन सही मायने दलितवादी स्वर से ओत-प्रोत है। रमेश के माध्यम से ही लेखक ने सामाजिक विद्रुपताओं पर महीन तौर पर कटाक्ष किया है।

4.1.2. समाज की विद्रुपताओं पर कटाक्ष

राजमणि शर्मा ने अपने आलोच्य ग्रंथ 'दलित चेतना की कहानियाँ : बदलती परिभाषाएँ' पुस्तक में लिखा है कि, *"सत्य तो यह है कि दलित की जो स्थिति या अवधारणा मराठी साहित्य में रही है वैसा हिन्दी क्षेत्र और साहित्य में कभी नहीं रही। हिन्दी क्षेत्र का साहित्य अम्बेडकर के विचारों से अंकुरित पुष्पित पल्लवित नहीं हुआ। इसलिए हिन्दी दलित साहित्य विशेषकर कथा-साहित्य का विवेचन-विश्लेषण मराठी दलित साहित्य के प्रेरणास्रोत एवं मानदण्डों के आधार पर करना एक बेइमानी है। यहाँ तो वेदों से लेकर आज तक दलित संघर्ष की चेतना सतत प्रवहमान है और वही हिन्दी साहित्य की मूल संवेदना है।"*[1]

यदि उक्त तर्क की कसौटी पर कर्दम जी की किसी भी रचना का मूल्यांकन करें तो सही प्रतीत होता है। बावजूद इसके कि यहाँ मराठी साहित्य में वर्णित दलित संवेदना का विकास भले ही न हुआ हो लेकिन यहाँ पर भी दलितों का वही दर्द बयान हुआ है, जैसा मराठी में। हिन्दी क्षेत्र में दलितों को लेकर जो विद्रुपता रही वह मराठी साहित्य से भिन्न नहीं है। कर्दम जी जब करुणा के माध्यम से समाज पर कटाक्ष करते हैं तो ठीक वही चित्र हमारे सम्मुख आँखों के सामने आ

[1] 'दलित चेतना की बदलती कहानियाँ : बदलती परिभाषाएँ', राजमणि शर्मा, पृ. ८३

जाता है जैसा मराठी साहित्य में है।

करुणा उपन्यास में चित्रित धामपुर का समाज उतना ही विद्रुपताओं से भरा हुआ है जितना लिम्बाले की 'अक्करमासी' का समाज है। धामपुर भारतीय समाज के प्रतीक के रूप में हमारे सामने है। उपन्यास के आरंभ में ही लेखक ने एक बिन्ब हमारे सामने प्रकट किया है जो इस बात का हवाला देता है कि समाज में भ्रष्टाचार के कारण माहौल में तनातनी उत्पन्न हुई है, जबकि प्रशासन हर तरह से नाकाम है। दूसरी ओर पूँजीपतियों की पौ बारह है, वे मजदूरों पर अत्याचार कर रहे हैं। कर्दम जी ने धामपुर की भूमि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि धामपुर में *"बेरोजगारी ने व्यापक रूप ले लिया था। युवा खून में असन्तोष बढ़ रहा था। जगह-जगह आन्दोलन हो रहे थे। कहीं रोजगार की मांग की जा रही थी, कहीं रोजगार भत्ते की संसद या विधान सभा का चुनाव हार जाने वाले नेता इन आन्दोलनों के अगुवा बने हुए थे। सरकार भी इस ओर कम जागरुक न थी। किन्तु शासन तन्त्र में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण सुधार की अपेक्षा बेरोजगारी की समस्या और अधिक गम्भीर होती जा रही थी। हर जगह शोषण का साम्राज्य था। पूँजीपति लोग मजदूरों का शोषण कर रहे थे, और सरकारी अफसर अपने मातहतों का।"*[1] गौरतलब है कि लेखक ने समाज की दुर्दशा को रेखांकित करने का यथेष्ट प्रयास किया है। और साथ ही मजदूरों की स्थिति का जायजा देते हुए मार्क्स के विचारों की हलकी सी झलक भी छोड़ी है ; वहीं राजनीति की विद्रुपताओं पर कटाक्ष किया है।

भारतीय समाज की यह कैसी त्रासदी है कि राजनीति में रहते हुए राजनेता देश के विकास की कम और भ्रष्टाचार की अधिक सोचते हैं। शासन-तन्त्र में ऐसा पतन अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देता। यहाँ देश की जनसंख्या को काबू में रखने के लिए नसबन्दी कार्यक्रम क्या लाँच होता है, वहाँ पर भी लोग भ्रष्टाचार की गुंजाइश खोज लेते हैं। समाज में इतनी बेरोजगारी है कि पैसे वाले लोग पैसे के बूते पर या पहुँच व भाई-भतीजावाद के बूते पर नौकरी पा लेते हैं। दूसरी ओर कथा नायक विवाह से पूर्व ही नसबन्दी करने के लिए बाध्य है। समाज में व्याप्त असमानता का करीने

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १३-१४

ढंग से पर्दाफाश हुआ है। जन्मना गरीब आदमी की स्थिति यह है कि वह अपना सर्वस्व खोकर भी अपने परिवार का भरण पोषण करने के लिए बाध्य है।

कर्दम जी ने उस दुखती हुई नब्ज को पकड़ लिया है जिसे किसी अन्य दलित रचनाकार ने आज तक उजागर नहीं किया। 'करुणा' का कथा नायक अपने ही घर-आँगन में ठगा सा महसूस करने लगता है। डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी जी के शब्दों में कहें तो -

"अपने ही घर-आँगन में
छला जाकर अपनों से ही
होता रहा आहत
सह-सहकर पदाघात
बन गया वह पत्थर सा
डटा रहा फिर भी निरन्तर
आग के मैदान में
खदबदाता रहा सदियों के संताप के
अन्याय के विरूद्ध
भटकता रहा इंसानियत के बियाबान में
अमानवीयता का दंश लेकर...।"[1]

वास्तव में *"एक लम्बी दुष्चक्रीय और यंत्रणापूर्ण ज़द्दोजहद को झेलने और उससे लगातार उबरने की जिजीविषा ही शायद वो चीज है जिसने सदियों से अभिशप्त दलितों को इस मुकाम तक पहुँचाया कि वे अपनी अपेक्षा, यंत्रणा और बहुआयामी शोषण के बुनियादी रहस्यों को समझ पाए, उनमें अपने शोषण के खिलाफ़ संगठित विरोध का साहस पैदा हुआ।"*[2] लेकिन करुणा का नायक विरोध करने के बजाए सहता जाता है। जब परिस्थितियाँ इस कदर हावी हो जाती हैं कि

[1] 'दलित साहित्य २००४', सं. डॉ. जयप्रकाश कर्दम, विस्तार के लिए देखिए संपादकीय पृष्ठ।

[2] 'दलित साहित्य २००४', सं. जयप्रकाश कर्दम, पृ. १९५ पर देखिए मुकेश मानस की समीक्षा 'दलित मानस की व्यापक संवेदनाएँ'

इंसान हर तरह से सकते में आ जाए और पूरे परिवार का दारोमदार उसी के कंधे पर आ गिरे तो उसकी सोच पर भी ताला लग जाता है। हांलाकि वह सोचता अवश्य है लेकिन विरोध का साहस उसमें लहरें उत्पन्न नहीं करता।

हांलाकि यहाँ उल्लेखनीय है कि, *"पिछली सदी के आखिरी दो-तीन दशकों में उठी दलित चेतना ने दलित समाज में वो क़ूबत पैदा की कि समूची भारतीय संस्था के द्वारा किए जाने वाले अपने शोषण के विरोध के साहस की भावना उनका बुनियादी हथियार बन गई। विरोध के साहस की इस भावना को दलित समाज ने कई रूपों में अभिव्यक्त किया है। दलित साहित्य का ज्वार उन रूपों में एक महत्वपूर्ण रूप है। मगर विरोध की अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य नहीं है। परंपरागत जीवन मूल्यों और व्यवहार के समांतर व्यापक जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य का मूलाधार है। जयप्रकाश कर्दम का समूचा जीवनानुभव और सृजनात्मक लेखन इस मायने में काफ़ी महत्वपूर्ण है।"*[1]

कर्दम जी ने अपने उपन्यास 'करुणा' में जिस रमेश के चरित्र को उभारा है वह उनके जीवनानुभवों से उपजा है। यह एक स्वाभाविक-सी बात है कि लेखक जिस समाज से, समाज की जिन वस्तुगत सच्चाइयों से रू-ब-रू होकर सामने आ रहा है उसकी रचना में उन्हीं वस्तुगत सच्चाइयों की अभिव्यक्ति देखने को मिलेगी। विकास की अनेकानेक ऊँचाइयों को छूने वाले समाज में दलित व्यक्ति और उसका समाज अभी विभिन्न मामलों में अपनी तल्ख़ सच्चाइयों के साथ निचले पायदान पर खड़ा है जहाँ उसका लहू सबसे सस्ता है।

दरअसल भारतीय समाजार्थिक संस्था में दलित व्यक्ति आज भी विभिन्न रूपों में सबसे ज़्यादा शोषित, प्रताड़ित और अपमानित है। विकास, समानता और स्वतंत्रता का दम्भ भरते भारत के बीच वह अभी भी उपेक्षित भारत है और यह उपेक्षा उसके चारों ओर अनेकानेक रूपों में साकार है। उसे और उसके शब्दों को गरीबी, जहालत, अवमानना, पिछड़ापन जैसे गिद्धों ने घेर रखा है।

---

[1] 'दलित साहित्य २००४', सं. जयप्रकाश कर्दम, पृ. १९५ पर देखिए मुकेश मानस की समीक्षा 'दलित मानस की व्यापक संवेदनाएँ'

रमेश इन्हीं सब विचारों की उद्भावना है।

कर्दम जी ने गरीब भुल्लन के माध्यम से भी उक्त गिद्धों को रेखांकित किया है। भुल्लन चूँकि तथाकथित 'छोटी कौम' का व्यक्ति है अतः न्याय भी उसके पक्ष में नहीं। गाँव के ठाकुर सुखदेव सिंह का एकमात्र बेटा सूरज भुल्लन की बेटी को जंगल में धर दबोचकर बलात्कार करने की चेष्टा करता है और फिर वही पंचायत का किस्सा शुरु हो जाता है। और न्याय भी मिलता है तो रमेश की पहल करने के पश्चात् ही। हांलाकि कालांतर में रमेश को भी एक मुकदमे में नाटकीय ढंग से फँसाकर जेल भेज दिया जाता है। वह ठाकुरों की सोची-समझी साज़िश का शिकार हो जाता है। इसी साजिश का वर्णन करते हुए लेखक ने पुलिसों के रवैये की भी खबर ली है। लेखक बड़े ही सिलसिलेवार ढंग से ठाकुरों के विचारों की पोल खोली है।

ध्यातव्य है कि हांलाकि रमेश दलित वर्ग का नायक नहीं है किन्तु उसकी स्थिति दलितों से कम नहीं है। और समाज में वही व्यक्ति सवर्ण है जो पैसे से बलशाली हो। कर्दम जी ने बौद्ध धर्म का उल्लेख करते हुए इस बात को सामने लाने का प्रयास किया है कि दलित वर्ग में पैदा होने वाला ही केवल दलित कहलाएगा बल्कि जो समाज उत्पीड़ित, वंचित होगा दलितों की गिनती में आएगा।

बहरहाल लेखक ने धामपुर के माध्यम से संपूर्ण भारतीय समाज की विद्रुपताओं पर प्रकाश डालने का यथेष्ट प्रयास किया है। और रमेश की आवाज़ में एक सच्चाई बयान की है कि *"समाज के पंगुपन का उसे पूरा अहसास है और वह अच्छी तरह जानता है कि समाज की इस पंगुता का कारण उसमें लोक चेतना का अभाव ही है। केवल मुट्ठी भर पूँजीपति और जमींदार लोग ही प्रगति के रास्ते पर दौड़ लगा रहे हैं। शेष समाज पंगु बना हुआ है, उसे इस बात पर विश्वास है कि जिस दिन भी समाज में लोक चेतना पैदा हो जाएगी उसी दिन अपने श्रम से इस समाज को खींचने के उपरान्त भी सदैव उपेक्षित तिरस्कृत रहने वाला यह गरीब वर्ग एक झटके में शोषण की तमाम जंजीरों को तोड़कर फेंक देगा तथा अन्याय और असमानता पर आधारित इस समाज की सारी*

व्यवस्था को खण्ड-भण्ड कर देगा।"[1]

फणीश्वरनाथ रेणु ने अपने उपन्यास मैला आँचल के आमुख में लिखा है कि इसमें (उपन्यास में) सारी चीजें मौजुद हैं - धूल, शूल, फूल, कीचड़ वगैरह। ठीक उसी प्रकार इस उपन्यास में यदि सामाजिक विद्रुपता का बहुआयामी अंकन है तो साथ ही बौद्ध धर्म ती सात्विकता का यथेष्ट वर्णन भी।

हांलाकि सामाजिक विद्रुपता की जहाँ पर भी बात आयी है लेखक मार्क्स के विचारों का अनुगमन करता हुआ दिखाई देता है। पूँजीपति-मजदूर, जमींदार-खेतीहर मजदूर, श्रम और मूल्य आदि सभी समीकरण मार्क्सवाद से आयातीत हैं। अतः कहना न होगा कि इस उपन्यास में किसी भी दृष्टि से दलितवादी स्वर की अनुगूँज सुनाई दिखाई देती ; बल्कि इसके विपरित मार्क्सवादी रवैये का या समाज में समानता लाने की मार्क्स की अपील का समर्थन दिखाई देता है। इस उपन्यास के बौद्धवादी नज़रिए को यदि छोड़ दिया जाए तो यह उपन्यास मार्क्सवादी कसौटी पर खरा उतरता है।

रही बात कथा नायक रमेश के चरित्र के मूल्यांकन की तो वह रमेश जो कि कथा-विन्यास के आरंभ में अहिंसावादी दिखाई देता है वह जेल जाने के उपरान्त हिंसा में विश्वास करने लगता है। लेखक के शब्दों में - *"पहले वह हिंसा का प्रबल विरोधी था। किन्तु जबसे उसके विचारों में परिवर्तन आया है उसका हिंसा विरोधी स्वर भी कुछ बदल गया है।"*[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस उपन्यास में विचारों का बेतरतीबपन अधिक है। बहरहाल उपन्यास के अंत तक आते आते कथा नायक और कथा नायिका की नाटकीय भेंट के समय बौद्ध धर्म के सही रूप पर लेखक ने कटाक्ष करने का प्रयास किया है।

यह भी कहा जा सकता है कि जो कथा नायक इतनी समाजार्थिक विषम परिस्थितियों को झेलता है उसके विचारों में समय एवं प्रसंगावधानानुसार बदलाव दिखाई देता है। कम-से-कम लेखक को इतनी स्वतंत्रता तो होनी ही चाहिए कि वह अपने विचारों को बेझिझक अभिव्यक्त कर सके

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ५०

[2] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ४९

लेकिन वहीं दूसरी शर्त यह भी होनी चाहिए कि वह जबरन किसी वाद को भी अपनी रचना एवं विचारों को हावी न होने दे। 'करुणा' कर्दम जी का प्रथम उपन्यास होने के कारण कई पड़ावों पर चूक-त्रुटियाँ दिखाई देती हैं अन्यथा लेखक ने समाज एवं चरित्रों का पारस्परिक सगुंफन में अत्यंत सतर्कता का परिचय दिया है।

4.1.2.1. दहेज प्रथा

दहेज प्रथा भारत की सबसे विकराल समस्याओं में से एक है। दहेज प्रथा को लेकर काफ़ी सारे लेखकों ने कलम चलायी है। यहाँ तक कि प्रेमचन्द ने अपना उपन्यास 'निर्मला' इसी समस्या को लेकर रचा था, जिसमें निर्मला की दुर्गति केवल और केवल दहेज न दे पाने के कारण होती है और उसका अनमेल विवाह बाबू तोताराम से कर दिया जाता है जो उम्र में निर्मला के पिता की बराबरी के होते हैं।

कर्दम जी ने 'करुणा' उपन्यास में रमेश की बहन रीता के विवाह को लेकर दहेज प्रथा की समस्या को उजागर करने का प्रयास किया है। भारतीय समाज में पुत्री का जन्म लेना बहुत अच्छा नहीं माना जाता रहा है। भारत के कुछ प्रांतों में हाल-हाल तक बेटी के पैदा होते ही उस नवजात शिशू को दूध में डूबोकर मार देने की प्रथा प्रचलित थी। बेटी का बड़े होते ही विवाह न करने से लोक-लाज का भय उत्पन्न होता है और वहीं विवाह करने के लिए अमाप या अनाप-शनाप दहेज का रिवाज माँ-बाप की कमर तोड़ देता है।

प्रस्तुत उपन्यास में लेखक ने भारतीय समाज की विद्रुपता पर कटाक्ष करते हुए दहेज प्रथा की समस्या पर प्रकाश डाला है। उपन्यास में रीता के विवाह के संदर्भ में लेखक के ये विचार उल्लेखनीय हैं - *"रीता दिन-प्रतिदिन घास-फूंस की तरह बढ़ती जाती थी। उसके अंग-अंग से यौवन प्रस्फुटित होने लगा था। अमीर की बेटी भले ही घर पर ही जवान क्या बूढ़ी क्यों न हो जाए, उसकी ओर कोई अंगुली नहीं उठाता किन्तु गरीब परिवार की बेटी का वय होने पर घर रहना ठीक नहीं होता, लोक-लाज का भय बना ही रहता है।"*[1] गोकि एक अरसे से भारत में 'आधुनिकता'

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २२

का प्रवेश हुआ है और इक्कीसवीं सदी में तो 'उत्तर आधुनिकता' की बात की जाने लगी है लेकिन लोगों के विचार अभी तक पुरातन या कुपमंडुक के ही रहे हैं।

कर्दम जी ने लिखा है कि, *"दहेज का प्रचलन जोरों पर था। समाज में इसने एक बीमारी का रूप ले लिया था और समाज का कोई भी वर्ग इससे अछूता न था। रुपये की चमक से जन-मानस अन्धा हुआ जा रहा था। कुल और चरित्र का रुपये के समक्ष कोई मूल्य न था। अपितु शादी में मिलने वाला दहेज ही लोगों की प्रतिष्ठा का प्रतीक बन गया था।"*[1] हांलाकि कर्दम जी का यह उपन्यास सन् १९८६ में प्रकाशित हुआ था लेकिन आज भी दहेज की वैसी ही स्थिति विद्यमान है। यद्यपि सरकार ने इस कुप्रथा को कुचलने के लिए दहेज निरोधक कानून भी बनाया लेकिन उस कानून का कोई विशेष लाभ नहीं हुआ।

लेखक ने बौद्ध धर्म में इस प्रथा के न होने की बात की है लेकिन बौद्ध धर्म के पतन के बाद यहाँ पर भी प्रचुर मात्रा में दहेज लेन-देन की प्रथा का चलन दिखाई देता है। उपन्यास का कथा नायक अपनी बहन रीता का विवाह बौद्ध धर्म में कर देता है लेकिन संतति न होने पर उसके प्रति उसके सास का रवैया बदल जाता है और मानसिक उत्पीड़न के कारण वह आत्महत्या कर लेती है।

4.1.2.2. पुरातनवादी मानसिकता

कर्दम जी ने दहेज प्रथा की समस्या को रेखांकित करते हुए पुरातनवादी मानसिकता को भी उजागर किया है। रीता के विवाह के बाद जब उसे तीन साल तक कोई संतान नहीं होती तब उसकी सास उसे प्रताड़ित करती है। *"तू असैनी है, कुलच्छनी है। तेरी कोख से आदमी तो क्या कभी चिड़िया का बच्चा भी पैदा नहीं होगा। मेरे वंश को डुबो रही है तू। कोई नाम लेने वाला भी न होगा। ऐसी औरत का क्या लाभ? तू कामधेनू नहीं है। तू कुल्टा है। इस कुल का नाश करके रहेगी तू।"*[2] लेखक ने लिखा है कि, *"पुरातनवादी सास ने इस बात को अपने ही ढंग से*

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २३

[2] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २४

लिया तथा उसे कुलच्छनी, कुल्टा, बांझ आदि अनेकों उपाधियों से विभूषित करना शुरू कर दिया।"[1]

भारतीय समाज में आज भी इस प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं कि यदि संतान उत्पत्ति न हो तो दोष पूर्णतः स्त्री पर डाला जाता है। यद्यपि रीता के पति पढ़े-लिखे हैं लेकिन वह भी माँ की बातों पर विश्वास करने लगते हैं और प्रतिदिन के गृहक्लेश से तंग आकर रीता आत्महत्या कर लेती है।

इस प्रकार कर्दम जी ने अत्यंत मार्मिक ढंग से समाज में प्रचलित पुरातनवादी रवैये की एक झलक प्रस्तुत की है।

4.1.2.4. भ्रष्टाचार

उपन्यास के आरंभ से लेकर अंत तक समाज में प्रचलित भ्रष्टाचार की समस्या का चित्रण मिलता है। रमेश को नौकरी इलसिए नहीं मिलती क्योंकि वह धनी कुलोत्पन्न नहीं है। अतः अपने परिवार को चलाने के लिए तथा सरकारी दफ्तरों की खाना पूर्ति के लिए स्वयं नसबंदी कर लेता है। जब वह जेल में जाता है तब भी देखता है कि जेल की दीवारों के भीतर भी किताना भ्रष्टाचार चल रहा है। जेल के नामवर कैदी रातोरात जाकर किसी का खून करके आते हैं और पुनः जेल की सलाखों के पीछे हो जाते हैं। जेलर भी उन्हें ऐसे कामों के लिए उपयोग में लाते हैं।

रमेश को जेल भेजने के सिलसिले में इन्सपेक्टर के संवाद भ्रष्टाचार के प्रसंग को और अधिक ताजा बना देते हैं। *"नहीं मैं घूस बिलकुल नहीं लेता जनाब! इस मुआमले में बड़ा सख्त आदमी हूँ। आज कर कितने ही लोग मेरे सामने रुपयों की थैलियाँ फेंक चुके हैं पर मैंने सबको ठुकरा दिया। धन मुझे कभी मेरे कर्तव्य से नहीं डिगा सका।"*[2] लेकिन दूसरे ही पल वह नोटों का बैग थाम लेता है और रमेश को रीता की हत्या मे फँसाकर जेल भेज देता है।

इस प्रकार कर्दम जी ने अनेकों जगहों पर भ्रष्टाचार का पर्दाफाश किया है।

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २४

[2] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३३

4.1.5. संसार की असारता पर कटाक्ष

कर्दम जी ने करुणा के माध्यम से संसार की असारता को रेखांकित करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है, जिससे उपन्यास में बौद्ध धर्म की छवि अधिक निखर उठी है। व्यक्ति को पहले सृष्टि की तमाम चीजों से लगाव होता है और फिर अचानक किसी कारणवश या परिणामवश व्यक्ति संसार से विरक्त हो जाता है और संसार को असार मानने लगता है। क्षत-विक्षत हृदय विदीर्ण हो जाता है और व्यक्ति संसार से मुँह मोड़ लेता है। करुणा के साथ ऐसा ही घटित होता है। वह बौद्ध भिक्षुणियों को देखकर यह मानने लगती है कि, *"सांसारिक जीवन के सुखों का त्याग कर, इन्होंने चीवर और भिक्षा पात्र ग्रहण किया है। निश्चय ही इसमें कोई अद्भूत सुख होगा।"*[1]

वास्तव में भिक्षुणी के संवादों से वह प्रेरित होती है और संसार की अस्सारता को जानकर गृह त्याग कर देती है। भिक्षुणी के संवाद भी संदर्भोल्लेख से उल्लेखनीय है - *"सांसारिक जीवन में सुख है ही कहा। सब कुछ दुःखमय है, जन्म से जाति जरा, मरण सब दुःख है, वांछित वस्तु का न मिलना दुःख है। दरिद्रता और अभाव दुःख है। शत्रु से भय शंका रहना दुःख है। विषयों के प्रति राग, आसक्ति और यहाँ तक कि सभी कुछ दुःखमय है। सारा जीवन दुःखों से भरा है। मनुष्य दुःख में पैदा होता है। तृष्णा के कारण राग और आसक्ति में डूबा मनुष्य जीवन भर दुःख भोगता है और दुःख सहते-सहते ही मर जाता है। विषयों के प्रति अनासक्ति और तृष्णा के नाश में ही सुख है।"*[2]

बौद्ध धर्म की शिक्षा का अनुगमन करते हुए लेखक ने जीवन की समेकित व्याख्या करने का उत्तम प्रयास किया है।

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २०

[2] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २०

4.1.6. बौद्ध धर्म की महानता का परिचय

हाँलाकि करुणा उपन्यास शीर्,क से ही बौद्ध धर्म का अनुसरण करने वाला उपन्यास दृष्टिगोचर होता है. लेकिन वास्तविक अर्थों में यह उपन्यास समाज के विभिन्न अंगो-उपांगों का वर्णन करने वाला मार्क्सवादी रवैये का उपन्या है। लेकिन चूँकि लेखक ने बौद्ध धर्म का यदा-कदा वर्णन किया है अतः कहना पड़ रहा है कि उपन्यास में बौद्धवादी सोच भी विद्यमान है।

कथा नायिका करुणा के माध्यमा से लेखक ने बौद्ध धर्म की महानता को रेखांकित किया है। समाज के बेढंगेपन एवं उसकी मूढ़ता जगजाहिर है अतः गौतम बुद्ध ने जीवन के तमाम उलझनों का हल खोजने के उद्देश्य से निर्वाण स्वीकार किया था लेकिन इस उपन्यास में समाज कल्याण कम व्यक्ति विशेष के दुःख को केन्द्र में रखकर बौद्ध धर्म का रेखांकन किया गया है। करुणा उपन्यास के केवल कुछ ही पृष्ठों में बौद्ध धर्म की छवि का परिचय मिलता है। पृष्ठ २० एवं पृष्ठ ७१-७२ इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। करुणा उपन्या के अंत में बौद्ध धर्म की महत्ता बताते हुए कहती है कि, *"बुद्ध के सिद्धांतों में ऐसी ही उत्कट प्रेरणा है कि उन्हें अपनाने वाले सब लोग एक दूसरे के साथ प्रेम और सद्‌भाव से रहते हैं। भगवान की शिक्षाओं में न्याय के प्रति आग्रह है। समता, मैत्री और भाईचारा ही उनकी शिक्षाओं का मूल है। इसीसे सुखी और सम्पन्न समाज का निर्माण हो सकता है। केवल भगवान बुद्ध के मध्यम मार्ग को अपनाने से ही समाज और राष्ट्र समुन्नत एवं सुविकसित हो सकते हैं।"*[1]

इस प्रकार कर्दम जी का पहला उपन्यास एक ओर जहाँ समाज की मार्क्सवादी नजरिये से व्याख्या करता है वहीं दूसरी ओर गौतम बुद्ध के सिद्धांतों को जीवन पर लागू कर एक ऐसे समाज की अवधारणा को जन्म देता है जो न्याय, समता और भ्रातत्व की भावनाओं पर आधारित हो। जहाँ शोषण न हो, ज़ोर जबरदस्ती न हो, अन्याय न हो। जिस समाज के मनुष्यों का चरित्र उच्च्य एवं नैतिक किस्म का हो। जहाँ स्वार्थपरता न हो, धोखेबाजी न हो, भ्रष्टाचार न हो तथा जहाँ नेताओं, सरकार का एक मात्र उद्देश्य बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय हो।

---

[1] 'करुणा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ७१

4.2. "छप्पर" उपन्यास का कथासार एवं विषय-वस्तु

दलित आन्दोलन को गति देने वाले कुछ महान रचनाकारों में जयप्रकाश कर्दम का नाम गौरव के साथ लिया जा रहा है। कल्याणी के बाद उनका उपन्यास 'छप्पर' बहुचर्चित उपन्यास है। पहले उपन्यास की तुलना में यह उपन्यास अधिक सुगढ है और लेखक ने अपनी सूझबूझ का बेहतरीन परिचय दिया है। कुछ विद्वान इसे पहला दलित उपन्यास मानने के पक्ष में हैं। डॉ. एन. सिंह लिखते हैं - *"जयप्रकाश कर्दम का उपन्यास 'छप्पर' ऐसा ही परिवर्तनकारी उपन्यास है, जिस मैं हिन्दी का पहला दलित उपन्यास मानता हूँ। ऐसा नहीं है कि इससे पूर्व लेखकों ने उपन्यास लिखे नहीं या वह प्रकाशित नहीं हुए हैं। इससे पूर्व भी उपन्यास लिखे गये हैं, लेकिन इनमें दलित चेतना की अभिव्यक्ति नहीं हुई है। इसलिए 'छप्पर' को ही पहला दलित उपन्यास माना जाना चाहिए।"*[1]

'छप्पर' की कथावस्तु एक मजदूर परिवार के युवक चंदन की शिक्षा के लिए संघर्ष की कहानी है। जिसमें उसकी माँ रमिया और पिता सुक्खा को गांव के ब्राह्मण, बनियों और ठाकुरों द्वारा मिलकर उत्पीड़ित किया जाता है कि वे सदियों से चली आ रही परंपराओं को तोड़कर अपने लड़के को शहर भेजते हैं। उपन्यासकार ने भारतीय गांव में दलितों की स्थिति का बड़ा सजीव वर्णन किया है।

भारतीय गांव में दलितों को अस्पृश्य माना जाता है इसलिए उन्हें गांव से बाहर रखा जाता है। वास्तव में *"अन्य भारतीय गांव की तरह मातापुर में भी थोड़े से लोग सुखी और सम्पन्न तथा शेष लोग दीन और दरिद्र हैं। सुखी सम्पन्न लोगों में सवर्ण कहलाने वाले ब्राह्मण पुरोहित, ठाकुर जमींदार तथा लाला साहूकार हैं। दूसरे गांव की तरह सवर्ण लोग ऊपर की ओर तथा अवर्ण कहे जाने वाले दलित लोग गंगा के बहाव की ओर निचान में बसे हैं।"*[2] गरीबी दलितों में आम बात है। अतः *"जो लोग दलित और दरिद्र हैं, उनके पास रहने सहने तथा एकाध पशु जो वह पालते हैं, उन सबके लिए कुल जमा गारा मिट्टी की दीवारों पर घास-फूस के छप्पर या झोपड़ियाँ हैं।"*[3]

---

[1] 'अंगूत्तर' अप्रैल-जून १९९५, पृ. ६१

[2] 'छप्पर' जयप्रकाश कर्दम, पृ. ९

[3] 'छप्पर' जयप्रकाश कर्दम, पृ. ९

उपन्यास का जुझारू नायक चंदन समूचे दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। खेतिहर मजदूर सुक्खा का पुत्र और माँ रमिया का नैनिहाल चंदन गांव की पढ़ाई पूरी कर शहर आकर पढ़ाई के माध्यम से अपना भविष्य संवारता है। वह इंजीनियर, डॉक्टर, वैज्ञानिक अथवा कोई बड़ा अफसर बनने का मोह त्याग कर समाज सुधारक बन जाता है और शहर की कच्ची बस्ती यानि जे.जे.कालोनी के मटमैले, शैक्षणिक परिवेश से उपेक्षित बच्चों के लिए स्कूल खोलकर डॉ. अम्बेडकर के नारे 'शिक्षित बनो' को क्रियान्वित करता है।

चन्दन हरिया नामक एक व्यक्ति के घर में आकर रहता है। हरिया उसे चन्दन ही मान लेता है और जीवनोपयोगी सुविधाएँ तो उपलब्ध कराता है और मकान किराया भी नहीं लेता है। चन्दन बच्चों को पढ़ाने के साथ दलितों में व्याप्त कुप्रवृत्ति एवं नशाखोरी को भी दूर करना चाहता है। *"हरिया भी खूब दारू पीता है, शाम को ठेके पर जाकर पीता है और अगली सुबह फिर प्याले में चाय की जगह दारू की जरुरत होती है उसको। यह दारू ही है जो हरिया को यह नहीं सोचने देती कि दुनिया मे क्या हो रहा है।"*[1] चन्दन लोगों को शिक्षित करना चाहता है और उनके मन में बसे भय को निकाल बाहर करना चाहता है। लोगों को जागरूक करने के उद्देश्य से वह एक जगह कहता भी है कि, *"यह मान्यता गलत है कि यज्ञ करने से भगवान इन्द्र प्रसन्न होंगे और तब वर्षा होगी। वर्षा होगी मानसून के आने से।... इसलिए मेरा कहना है कि यज्ञ वज्ञ से कुछ होने वाला नहीं है। दुनिया में ऐसा कोई देवता या भगवान नहीं है और इसलिए उसके द्वारा वर्षा कराए जाने की कोई संभावना नहीं है।"*[2]

उपन्यास में बलात्कार की शिकार कमला की कहानी काफ़ी खौफ़नाक है। एक समय अपने पिता के साथ भट्टा पर काम करते उसकी किशोरी उम्र भट्टा मालिक और उसके दरिंदे साथियों की वासना की शिकार हो गयी थी। वह हृदय विदारक हादसा आज छः वर्ष के बच्चे के रूप में एत साया की भाँति कमला के साथ है। इसे देखकर चन्दन सोचता है कि, *"कैसी विचित्र व्यवस्था है इस समाज की, एक ओर आततायी भेड़िये हैं और दूसरी ओर कमला जैसी निरीह और असहाय*

---

[1] 'छप्पर' जयप्रकाश कर्दम, पृ. ९

[2] 'छप्पर' जयप्रकाश कर्दम, पृ. १९

युवतियाँ हैं। एक ओर सृष्टि का आधार माना जाता है औरत को, वह देवी है, माँ है, उसके पैर छुए जाते हैं। वह श्रद्धा और सम्मान की पात्र है। दूसरी ओर कमला जैसी युवतियाँ हैं जो समाज के लिए खिलौना हैं, जिनको पुरुषों का एक वर्ग अपनी वासना की तृप्ति का साधन मात्र समझता है, उनके साथ बलात्कार किया जाता है। एक ओर नारी बहन है, बेटी है, उसकी इज्जत जान से भी बढ़कर होती है और दूसरी ओर कमला जैसी युवतियाँ हैं जिनको सरेआम बेइज्जत किया जाता है, जिनके शरीर और यौवन समाज के इन भेड़ियों की यौन तृष्णा की आग को शान्त करने का साधन मात्र हैं।"[1]

मातापुर गांव के जमींदारों के अत्याचार जब असहनीय हो गए तो सुक्खा और उसकी पत्नी रमिया घर और खेत छोड़कर कस्बे में आकर रहने लगे थे। इन तमाम विरोधों के बावजूद चन्दन अपना अभियान नहीं रोकता है। कमला, रजनी, हरिया आदि लोग अब चन्दन के कारवाँ की पंक्तियाँ बन जाती हैं।

उपन्यास हर दृष्टि से सफल है। रत्न कुमार सांभालिया लिखते हैं - *"संवेदना ही साहित्य का पर्याय होती है और इसी से किसी सृजन की प्रभावोत्पादकता बढ़ती है। छप्पर का कथानक बेहतरीन है, लेकिन संवेदनशीलता के अभाव में कमज़ोर पड़ गया है।"*[2] डॉ. तारा परमार लिखती हैं -*"इस उपन्यास में घटनाक्रम की न्यूनता है और मात्र दो-तीन परिवारों के सुख-दुःख को अभिव्यक्ति देने और लम्बे-लम्बे संवादों के द्वारा शिक्षा एवं संघर्ष के पिष्टपेषण को ही प्राथमिकता दी गयी है।"*[3]

---

[1] 'छप्पर' जयप्रकाश कर्दम, पृ. ५०

[2] 'राजस्थान पत्रिका', २६ मई १९९६, पृ. ३

[3] 'प्रज्ञा' (साहित्य), जून १९९५, सं. रामकृष्ण राजपूत

4.2.1. व्यवस्था की आलोचना

कर्दम जी ने अपनी हर रचना में व्यवस्था की कड़ी आलोचना की है। इस मायने में उनका यह उपन्यास व्यवस्था को कई स्तर पर व्याख्यायित करता है। वैसे कम्युनिस्ट आलोचक जी. पी. मिश्र के शब्दों में यदि कहें तो *"'व्यवस्था' व 'व्यवस्था-परिवर्तन' की बात करना अब आम बात हो गई है। राष्ट्रपति से लेकर अधिकांश नेताओं व बुद्धिजीवियों के चिन्तन व अभिव्यक्ति की नोंक पर यह विषय उछल जाता है। समाज में एक व्यवस्था चल ही नहीं रही, बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में अपना पाँव पसार कर जड़ जमा चुकी है, जिसके नियामक सत्ता से जुड़े तमाम लोग हैं और जो इस व्यवस्था का जमकर लाभ भी उठा रहे हैं। फिर ये लोग बार-बार 'व्यवस्था-परिवर्तन' की ओर संकेत भी देते हैं, दिखाने के लिए, इस व्यवस्था से दुःखी लोगों को सांत्वना देने के लिए।"*[1]

लेकिन कर्दम जी न सत्तावादी हैं और न ही उन चिंतकों में से हैं जो सांत्वना के लिए 'व्यवस्था' और 'व्यवस्था परिवर्तन' की बात करते हैं। वे तो सीधे समाज की उस सच्चाई के भुक्तभोगी हैं जो व्यवस्था के नाम पर अव्यवस्थित है। छप्पर उपन्यास का हर किरदार इस बात को प्रमाणित करता है कि मातापुर में जो कुछ है वह सब तितर-बितर है, सारी चीजें बेतरतीब और गरीब लाचार-बेबस। मातापुर की समाज-व्यवस्था भारतीय समाज-व्यवस्था व व्यवस्था को समेकित रूप में प्रतीकात्मक ढंग से रूपायित करती है। देश में जो घटित होता है वही मातापुर में होता है और जो मातापुर में होता है वह देश के हर इलाके में घटित होने की संभावना है। स्वतंत्रता के बाद से लेकर आज तक व्यवस्था का बेतरतीबपन दूर नहीं हुआ है। धनी और भी धनी होते हुए दिखाई देते हैं तथा गरीब जलालत, जहालत और बेबस-लाचार। आखिरकार व्यवस्था में घुस आए इस बेतरतीब विषाणु या वाइरस पर कोई रामबाण उपाय है भी या नहीं? इसी सोच से प्रेरित होकर लिखा गया यह उपन्यास व्यवस्था की घिनौनी तस्वीर की परत-दर-परत खोलता है।

एक तरफ जी तोड़ मेहनत करने वाले एक विशाल समुदाय को दो जून की रोटी मयस्सर नहीं होती वहीं मिल-मालिकों का यह टोन भी सुनने को मिलता है - *"साले चले आते हैं नखरा*

---

[1] 'आज़ादी और इंक़लाब', जी. पी. मिश्र, पृ. २५०

दिखाने, लीडर बनते हैं हरामजादे। काम-धाम करेंगे नहीं और चाहेंगे कि फैक्ट्री इनके नाम हो जाए।"[1] वास्तव में यदि देखा जाय तो मेहनत-मजदूरी करने वाले इसी वर्ग पर यह वर्ग अपनी ऐय्याशी करता है लेकिन उनका हक देने के लिए कतराता है। लेखक मजदूरों की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि, *"केवल मेहनत-मजदूरी के बल पर जिन्दा रहने वाले इन लोगों की विवशता है कि सब कुछ सुनकर और बर्दाश्त करके भी उन्हें वहीं पर काम करना पड़ता है। एक बेबसी-सी छायी रहती है उनके चेहरों पर हमेशा। इस बेबसी से उबरने का न उनके पास कोई उपाय है, और न प्रयास ही। दुनिया अपनी गति से चल रही है और ये लोग अपनी गति से किसी तरह अपनी जीवन यात्रा पूरी कर रहे हैं।"*[2]

सही मायने में यदि इसकी व्याख्या की जाए तो प्रतीत होता है कि जिस वर्ग के पास मूलभूत सुविधाएँ मौजुद न हो वह सर्वप्रथम अपनी क्षुधा तृप्ति का उपाय खोजता है। और भूखे व्यक्ति से व्यवस्था को बदलने के अपेक्षा करना भी कितना तर्कसंगत होगा! भूखा व्यक्ति ठीक तरह से जब सोच भी नहीं सकता तो व्यवस्था में परिवर्तन की सोच की बात करना तर्कसंगत नहीं।

ठाकुरों के विरोध को केन्द्र में रखते हुए, चन्दन जब गाँव में आता है तो गाँव वालों को समझाता है कि, *"हम व्यवस्था के विरोधी हैं व्यक्ति के नहीं। हमारी लड़ाई व्यवस्था के खिलाफ है, किसी व्यक्ति से कोई द्वेष नहीं हैं हमें। यदि कोई व्यक्ति इसमें बाधक होगा तो उसका विरोध अवश्य किया जाएगा, फिर वह चाहे कोई भी हो। हम न्याय और समता के पक्षधर हैं औ समानता प्राप्त करने के लिए हमें व्यवस्था को बदलना है, क्योंकि हमारी समाज व्यवस्था अन्याय और असमानता को जन्म देने वाली है। लेकिन व्यवस्था को बदलने का मतलब व्यवस्था को उलटना नहीं है। आज जो आक्रोश दूसरों के प्रति हमारे मन में है, व्यवस्था को उलटने से वही आक्रोश कल को हमारे प्रति दूसरों के मन में पैदा होगा और समाज के अन्दर अशांति और कलह बनी रहेगा। जबकि हम चाहते हैं कि सारा समाज सदैव शांति और सद्भाव से मिल-जुलकर रहे। इसलिए हमें किसी के प्रति घृणा या उपेक्षा का भाव नहीं रखना है। हमें चाहिए कि हम दूसरों के साथ वैसा*

---

[1] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ११

[2] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ११

ही व्यवहार करें जैसा हम अपने लिए चाहते हैं।"[1]

भारतीय शासन-तन्त्र ने आज़ादी के बाद से लगातार देश के साथ बलात्कार पर बलात्कार किया है। तभी तो वर्तमान समय तक देश में समानता और विकास के नाम पर केवल कोरी बहस की जाती है, लेकिन वास्तव में देश का जनाज़ा निकला जा रहा है। दलितों के हित में केवल बातें होती हैं और उसकी आड़ में वोट बैंक की राजनीति खेली जाती है।

दूसरा तथ्य यह भी है कि दलितों में अभी चेतनता, सतर्कता का अभाव है। कर्दम जी ने भी इस बात की ओर इंगित किया है। देखिए - *"मधुर भाषण, परस्पर सहयोग, एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति और मान-सम्मान की भावना सब कुछ है इन लोगों में, किन्तु इन सब अच्छाइयों के साथ-साथ इन लोगों में कुछ बुराइयाँ भी हैं। सबसे बड़ी बुराई तो यही है कि ये लोग जितना कमाते हैं उसका एक बड़ा हिस्सा दारूबाजी या जुए आदि में बर्बाद कर देते हैं।"*[2] दलितों में यदि चेतनता आ जाए तो वे व्यवस्था में परिवर्तन की सोच को बढ़ावा दे सकते हैं।

अव्यवस्थित व्यवस्था से तड़पकर आदमी सोचने लगता है कि, *"सीने में खंजर उतर जाए या गोली लग जाए तो थोड़ी देर पीड़ा होती है।थोड़ी देर तपड़पता-फड़फड़ाता है आदमी और फिर शान्त हो जाता है। लेकिन जीवन भर की घुटन तथा हर कदम पर अभाव और उत्पीड़न की तड़प औ बेबसी तो अंतहीन है। उससे कैसे पार पाए आदमी, कैसे शान्त हो।"*[3]

उपन्यास के प्रमुख पात्र सुक्खा की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। एक ओर वह अपने पुत्र चन्दन को पढ़ाना चाहता है वहीं दूसरी ओर समाज के उच्च्य वर्ग से उसे लगातार धमकियाँ मिलती हैं और साथ ही वह स्वयं को चन्दन की पढ़ाई के लिए पैसों की आपूर्ति करने में अक्षम भी पाता है। सुक्खा का दुःख बर्दाश्त की हद से बाहर चला जाता है। और वह भगवान से प्रार्थना करता है कि, *"हे भगवान! तू हमें उठा ले। हम सब कुछ बर्दाश्त कर लेंगे। लाख मुसीबतें दे हमको, हम सब दुःख सह लेंगे। भूखे-प्यासे रह लेंगे, पर चन्दन के साथ नाइंसाफी मत करना।"*[4]

---

[1] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १०९
[2] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १३
[3] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २९
[4] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २९

"धन्य हो भारत की समाज व्यवस्था कि यहाँ पर ब्राह्मण भूखा मर ही नहीं सकता। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक किसी न किसी रूप में ब्राह्मण उससे टैक्स वसूल करता है। चाहे कितना भी अशिक्षित, अयोग्य और अक्षम क्यों न हो।"[1]

चन्दन को यही बात सताती है कि समाज में इतनी विशाल असमानता होने के बावजूद भी शोषित-पीड़ित वर्ग चुप्पी साध कर बैठा है। हांलाकि उसके सर्किल में रहने वालों में वैचारिक मत-भिन्नता तो थी लेकिन *"एक चीज सबके अन्दर समान रूप से व्याप्त थी और वह थी शोषण, उपेक्षा औ अन्याय के विरूद्ध संघर्ष की प्रबल भावना।"*[2] इसी भावना को व्यापक स्तर पर उभारने की कोशिश और साहस की आवश्यकता को चन्दन गहराई से महसूस करता है। वह समाज के सत्य को भलीभाँति जानता है। *"सदियों से दासता और गुलामी की ज़ंजीरों में जकड़ा रहा है हमारा समाज। खाली पेट, नंगे तन और टूटे-फूटे छान-झोपड़ों में बसर करने की विवशता, यही रहा है सैकड़ों-हज़ारों वर्षों से हमारे समाज का यथार्थ।"*[3]

लेखक कमला के चरित्र का वर्णन करते हुए समाज की सडांध विचारधारा पर कई प्रश्न उठाता है। समाज के वहशियों की वासना की शिकार कमला गर्भवती बनती है और एक शिशु को जन्म देती है, जिसे उस समाज में मान्यता प्राप्त नहीं होती। वास्तव में समाज व्यवस्था इस कदर बनी हुई है कि, *"हमारे समाज में पति के बिना औरत नैतिक रूप से माँ नहीं बन सकती! बिना पति के उसकी और उसके बच्चों की कोई पहचान नहीं, कोई अस्तित्व नहीं।"*[4]

इसीलिए लेखक ने समाज की विचित्र व्यवस्था पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि, "कैसी व्यवस्था है इस समाज की। एक ओर आततायी भेड़िये हैं और दूसरी ओर कमला जैसी निरीह और असहाय युवतियाँ।"[5]

---

[1] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३१
[2] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३६
[3] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३८
[4] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ४७
[5] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ५०

व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए परिवर्तनकामी चेतना की अनिवार्यता है। व्यक्ति समुदाय शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाने भर से बदलाहट नहीं होती, आवश्यकता होती है उस बुलंद आवाज़ के साथ-साथ अनुकृति की भी। सुक्खा अपढ़ ही सही लेकिन उसमें जज्बा है किसी भी विकराल समय एवं परिस्थिति से टक्कर लेने का। लेखक ने सुक्खा को रेखांकित करते हुए लिखा है - *"सुक्खा का विद्रोह इस बात का संकेत है कि अब गाँव का गरीब मजदूर भी शोषण और अत्याचार के बन्धन से मुक्त होकर अपनी स्वेच्छानुसार विकास की ओर बढ़ना चाहता है।"*[1]

दलितों में आयी चेतना का तथा समाज के प्रति एक गरीब व अपढ़ दलित की सोच को सुक्खा के शब्दों में देखा परखा जा सकता है। उसने अपने पुत्र चन्दन को जन कल्याण के लिए अर्पित कर दिया। वह अफने बेटे से कहता है – *"समाज व्यक्ति से बड़ा होता है और ज़्यादा महत्वपूर्ण भी। समाज में ही हम सब हैं, इसलिए तुम समाज के लिए जो कुछ कर रहे हो वह हमारे लिए भी है। समाज के हित में हमारा भी हित है और समाज के सुख में ही हमारा भी सुख है। हम तुमको समाज के लिए समर्पित करने का निर्णय ले चुके हैं और यह निर्णय हमने अपने विवेक से और अपनी इच्छा से समाज हित में लिया है। हमारे निर्णय की पत रखो बेटा! और हमें अपना निर्णय बदलने को मजबूर मत करो। हाँ, जब तुम समझो कि तुम्हारा ध्येय पूरा हो गया है और समाज को तुम्हारी जरूरत नहीं रह गई है, तब तुम जहाँ चोहोगे हम वहाँ रहेंगे। सब बुजुर्ग स्त्री-पुरुषों को अपने माता-पिता मानो और उनकी जरूरत में उनके काण आओ, हमारे लिए यही सब कुछ है।"*[2]

मातापुर में परिवर्तन की लहर लाने के लिए समाज को जागृत करने की आवश्यकता पर चन्दन जोर देता है। व्यवस्था को बदलने के लिए पहले अपने आफ में परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है। सोये हुए समाज को जगाने का श्रेयसेकर कार्य फूले-अम्बेडकर ने किया तभी तो व्यवस्था का बना बनाया ढाँचा चरमरा उठा था और समाज में नवीन वैचारिक क्रांति आयी थी। ठीक उसी तर्ज पर चन्दन भी समाज में जागृति लाना चाहता है। वह हरिया से कहता है -

[1] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ६५

[2] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १०८

"हमारा समाज सोया हुआ है। व्यक्ति हो या समाज, वह चाहे कितना ही समर्थ और बलवान क्यों न हो, यदि वह सोया हुआ है तो वह मुर्दे के समान निश्चल और निष्प्राण है, उसे कोई भी आसानी से खत्म कर सकता है। जबकि हमारा समाज न केवल सोया हुआ है बल्कि वह जंजीरों में जकड़ा हुआ भी है। शोषण और अत्याचार की मार से पीड़ित और जर्जर यह समाज कहीं हमेशा के लिए सोता ही न रह जाए इसलिए उसे जगाना जरूरी है। सोए हुए समाज को जगाने के लिए तथा जागने तक उसकी रक्षा और पहरेदारी करने के लिए किसी न किसी को तो अपनी नींद और आराम का त्याग करना ही पड़ेगा न।"[1]

इस प्रकार व्यवस्था में आए हुए बेतरतीबपन को दूर करने के विचारों की अगुवाई करता हुआ चन्दन इस बात की ओर इंगित करता है कि समाजार्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक पुनर्जागरण के लिए नवीन तरह से प्रयास करने की आवश्यकता है। तभी समाज एवं व्यवस्था के ढाँचे में परिवर्तन की कामना की जा सकती है।

4.2.2. परंपरागत आस्था एवं ईश्वर के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न

उपन्यास जितनी सतर्कता एवं तार्किकता से व्यवस्था में आए हुए वाइरस को निकाल बाहर करने तथा समाज को तमाम रोगाणुओं से मुक्त करने की अपील करता है, उतना ही वह समाज को जागृत करने के लिए अनेकानेक तर्क देता है। वास्तव में जब तक समाज अपनी तमाम सडी-गली प्रथाओं से संसक्त रहेगा तब तक विकास के मार्ग-द्वार बंद रहेंगे। अतः उपन्यास इस बात पर भी ज़ोर देता है कि परंपरा से चली आ रही और रुढ़ हुई मान्यताओं को दरकिनार कर नवीन मूल्यों की स्थापना करने की आवश्यकता है।

कर्दम जी ने प्रस्तुत उपन्यास में परंपरागत आस्था एवं ईश्वरीय सत्ता की जमकर आलोचना की है तथा दलित-शोषित समाज को जागरूक बनाने की पुरज़ोर कोशिश की है। गौरतलब है कि उत्तर-आधुनिकता के दौर में ईश्वर के अस्तित्व पर सवालिया निशान लगाया गया है और ईश्वर के नाम पर समाज को अपने अधिपत्य में रखने वाले वर्ग की सच्चाई को उजागर किया है। भारतीय

---

[1] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ७७

समाज में व्याप्त अंधश्रद्धा को रेखांकित करते हुए कई साहित्यकारों ने ईश्वरीय सत्ता से इन्कार किया है। कर्दम जी ने प्रस्तुत उपन्यास में समाज में प्रचलित अनुष्ठानों के माध्यम से धर्म के नाम पर अपनी रोटियाँ सेंकने वाले दम्भी-ढोंगी वर्ग की सच्चाई बयान की है तथा समाज को जागृत करने का प्रयास किया है। लेखक ने चन्दन के माध्यम से धर्म की सत्ता पर कटाक्ष किया है - *"देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना तथा उनके लिए यज्ञ और हवन आदि अनुष्ठानों की परम्परा के पीछे एक ही उद्देश्य रहा है और वह है समाज को दिव्य-शक्तियों से भयभीत रखकर धर्म विशेष को जीवित रखना। यज्ञ आदि अनुष्ठानों के पीछे यही कारण है और भारतीय समाज की यह एक त्रासदी है कि किसी भी आपदा के समय उससे निपटने के उपाय खोजने की बजाय देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना की जाती है, तरह-तरह के अनुष्ठान किए जाते हैं।"*[1]

ध्यातव्य है कि प्राचीन काल से ही एक धर्म विशेष ने समाज में अपना वर्चस्व बनाए रखने के उद्देश्य से ईश्वरवादी अवधारणा का आविष्कार किया था। वास्तविक तौर पर यदि कोई ऐसी सत्ता होती तो समाज में इतनी असमानता न होती। तभी तो चन्दन ईश्वर को मानने वाले दीन-हीन दलित वर्ग से पूछता है कि, *"तुम्हारी जो आज दीन-हीन हालत है, तुम जो रोजी-रोटी के लिए दूसरों के मुंहताज हो और तुमको नीच, अछूत या हेय मानकर दूसरे लोग तुमसे जिस प्रकार घृणा और उपेक्षा का व्यवहार करते हैं, तुम जो शोषण, अपमान और अत्याचार के शिकार हो इस सबका कारण ईश्वर है, वही तुम्हारी यह दुर्दशा कर रहा है।"*[2] और *"देखिए कि वह कितना अन्यायी और निर्दयी है। तुम लोग जिस ईश्वर को मानते हो, उसकी पूजा-अर्चना करते हो, उसको प्रसन्न रखने के लिए भेंट चढ़ाते हो, उसे तुम पर तनिक भी दया नहीं आती है और वह तुमको पशुवत और नारकीय जीवन जीने को बाध्य करता है।"*[3]

इस प्रकार कर्दम जी ने उपन्यास में छिंट-पुट ही सही लेकिन ठोस रूप में ईश्वरीय सत्ता की सच्चाई का पर्दाफाश किया है। मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक होने वाले धार्मिक और

---

[1] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १८

[2] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १९

[3] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १९

सामाजिक अनुष्ठानों के सहारे फलने-फूलने वाले पण्डे-पुरोहितों के परम्परागत व्यवसाय को कुचलने की अनिवार्यता को कर्दम जी ने रेखांकित किया है। लेकिन उपन्यास में जो चन्दन ईश्वरीय सत्ता पर करारी चोट करता हुआ दिखाई देता है, दूसरे ही पल वह ईश्वरवादी सत्ता का स्वीकार भी करता हुआ दिखाई देता है। जब वह कहता है कि, *"धरती पर बोझ नहीं होता आदमी, आदमी पर बोझ होता है। कैसी व्यवस्था है, यह कैसी सोच है-हे भगवान!"*[1] तो वह प्रकारान्तर से ईश्वरीय सत्ता की स्वीकार ही कर रहा है।

कर्दम जी ने पहले उपन्यास की तुलना में इस उपन्यास के सृजन में काफी एहतियात बरती है लेकिन यदा-कदा लेखक का धर्मभीरू स्वभाव उफान मारता हुआ दिखाई देता है, जिससे लेखक को पूर्णतः उबरने की आवश्यकता है अन्यथा वे दलित वर्ग को सही दिशा दिखाने में सफल नहीं हो सकते।

4.2.3. सवर्ण की दम्भी मानसिकता की टीका

कर्दम जी ने प्रस्तुत उपन्यास में सवर्ण वर्ग की दम्भी मानसिकता को कई स्तरों पर उजागर किया है। वैसे सामाजिक विषमता के कारण ही समाज में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। श्री तुलसीनारायण सिंह ने प्रेमचंद को उद्धृत करते हुए लिखा है कि, *"प्रेमचन्द के अनुसार संघर्ष हमेशा से कथा-साहित्य का मूल आधार रहा है। जहाँ रामायण और महाभारत में सत्य और असत्य, नीति और अनीति के बीच द्वन्द्व देखने को मिलता है, वहीं आधुनिक साहित्य में जब भी टकराव की स्थिति बनती है, मूलतः सामाजिक विषमताओं के कारण।"*[2]

कर्दम जी ने इसी सामाजिक विषमता के माध्यम से सवर्ण मानसिकता पर कटाक्ष किया है। जब सुक्खा अपने पुत्र चन्दन को अच्छी तालीम देने के उद्देश्य से शहर रवाना कर देता है तो गाँव में हाय तौबा मच जाती है। लेखक के शब्दों में - *"चंदन जब शहर पढ़ने गया था तो जैसे भूचाल आ गया था सारे गाँव में। ब्राह्मण-ठाकुर सबके कान खड़े हो गए थे। एक अनहोनी*

---

[1] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १५

[2] 'प्रेमचन्द के उपन्यास', तुलसीनारायण सिंह, पृ. १६

बात हो गयी, अनहोनी ही नहीं जैसे बड़ा भयंकर अनर्थ हो गया। ब्राह्मण और ठाकुरों से लेकर लाला-साहूकार तक सब हैं इस गाँव में और बड़े-बड़े पैसे और हैसियत वाले, पर आज तक किसी का बेटा शहर पढ़ने नहीं गया। लेकिन सुक्खा चमार का बेटा पढ़ने शहर चला गया। नाक कट गई सबकी। सबके सिर पर मूत दिया एक चमार ने। पहले हल्की-हल्की सुगबुगाहट हुई लोगों में फिर स्वर तीखा होता गया।"[1] और इस तीखेपन की चिंगारी आग बनकर तब भभकी जब सुक्खा पण्डों-ठाकुरों के कहने पर चंदन को वापस नहीं बुला लेता है। ठाकुर ने चंदन को उनका लेखा-जोखा एवं जमींदारी के चोंचले संभालने का दायित्व सौंपने की बात रखी थी। लेकिन सुक्खा ने उनकी एक नहीं मानी। वह जानता था कि इन लोगों की कथनी-करनी में जमीं-आसमाँ का फर्क़ होता है और अपने जीवन की सच्चाई से परिचित था। इसीलिए वह नहीं चाहता था कि चंदन को भी उसकी तरह इन सवर्ण लोगों की गालियाँ और लातें खाकर जीवन न जीना पड़े।

सुक्खा के न मानने पर *"उसी दिन ठाकुर हरनाम सिंह की चौपाल पर गांव के सारे सवर्णों की पंचायत हुई। फैसला हुआ कि न तो सुक्खा को खेत-क्यार में घुसने दिया जाए, न उसे किसी डौले-चकरोड़ से घास खोदने दी जाए और न उसे लाई-पताई या मजदूरी के लिए बुलाया जाए। पंचायत उठ गई फैसला सुनाकर। 'अब देखते हैं कैसे पढ़ाता है सुक्खा अपने बेटे को।' ठाकुर हरनाम सिंह और काणे पण्डित ने अपनी-अपनी मूँछों पर ताव दिया।"*[2]

जब कोई रास्ता न मिला तो सभी सवर्णों ने एक साथ मिलकर सुक्खा को हर तरह से तंग करना शुरू किया। लेकिन सुक्खा के मन में थी शोषण, उपेक्षा औ अन्याय के विरूद्ध संघर्ष की प्रबल भावना। यद्यपि उसकी सामाजिक-आर्थिक हैसियत इतनी नहीं थी कि वह बिना किसी भी कार्य-परिश्रम के जीवनयापन कर सके और चंदन की पढ़ाई के लिए आर्थिक सहायता भी करे। लेकिन जब हौसले हो बुलंद तो हर समस्या का मुकाबला किया जा सकता है। तभी वह आक्रोश में आकर कहता है - *"जीवन-भर सब तरह के जुल्म और ज्यादतियाँ सही मैंने। पीढ़ियों से नारकीय जीवन जीना पड़ा हमको। इससे ज्यादा बुरा और क्या हो सकता है हमारे जीवन में। न ढंग से*

---

[1] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३०-३१

[2] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३५

खाना, न पहनना।... चाहे भूखे रहकर प्राण तजने पड़े मुझे। चाहे किसी फुटपाथ पर सड़कर मरना पड़े और चाहे चील-कौए नोंच-नोंचकर खा जाएँ मेरी लाश को लेकिन अपने जीते-जी चन्दन को इस नरक में नहीं पड़ने दूँगा मैं।"[1]

लेकिन सवर्णों के लिए यह प्रश्न उनकी अस्मिता का था। *"इतिहास और परम्परा से समाज में हमारा वर्चस्व रहा है। हमारा वर्चस्व कायम रहे हमारी अस्मिता इसी में है। अस्मिता के बिना मनुष्य जिन्दा नहीं रह सकता।"*[2] ठाकुर साहब को अपनी पुत्री रजनी की आवाज़ में आवाज़ मिलाकर यह कहने में भी हिचक थी कि, *"यदि परम्पराएँ गलत हों-जन विरोधी हों, यदि व्यवस्था दोषपूर्ण हो तो उसका विरोध किया जाना चाहिए। और यदि करने की सामर्थ्य या साहस नहीं हो तो भी कम से कम इतना तो किया ही जा सकता है कि हम स्वयं उस व्यवस्था और परम्पराओं को न मानें।"*[3]

रजनी चूँकि नवीन विचारों की युवती है, अतः वह भेदभाव की भावना से ग्रसित नहीं है लेकिन ठाकुर तथा अन्य सभी सवर्ण अपनी पुरातन मानसिकता के साथ चिपके रहने में ही अपना भला मानते हैं। आखिरकार सत्ता किसे अच्छी नहीं लगती। कर्दम जी ने सवर्णों की मानसिकता की सही मायने में परख की है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कर्दम जी के दोनों उपन्यास विभिन्न स्तरों पर समाज के विभिन्न पहलुओं की महीन से महीनतर व्याख्या करते हैं। समाज, व्यवस्था, असमानता, शिक्षा, अनासक्ति, संघर्ष, पुरातनता, पारंपरिकता, मानसिक उत्पीड़न इत्यादि को कई आयामों में रेखांकित करते है। एक ओर कल्याणी जहाँ जीवन में अनासक्ति तथा मानसिक शांति की प्रबल समर्थक है वहीं छप्पर उपन्यास का चन्दन जीवन को एक संघर्ष के रूप में देखता है और दलितों को उनके हक के लिए पुरातन मानसिकता को तजने के लिए प्रेरित तथा बाध्य करता है।

[1] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ६०

[2] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ६६

[3] 'छप्पर', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ९०

एक तौर पर वह दलित एवं अचेतन समाज का पहरेदार भी है। लोगों को अपने अधिकारों की परख कराने में उसकी भूमिका महत्वपूर्ण है।

कल्याणी जहाँ बौद्ध धर्म का स्वीकार कर भिक्षुणी बन जाती, वहीं आसक्ति से अनासक्ति की ओर प्रयाण करती है। रमेश का जीवन तमाम यातनाओं से भरा दिखाई देता है लेकिन वह परिस्थितियों से लड़ना ही अपने हित में पाता है। वास्तव में समाज में ऐसे कितने ही दलित-उत्पीड़ित लोग हैं जो इन तमाम समस्याओं से जुझ रहे हैं, जिनका साक्षात्कार हमें इन दोनों उपन्यासों में होते हैं। कर्दम जी की विशेषता यही है कि वे स्वयं इन परिस्थितियों के भुक्तभोगी हैं और सम्भवतः यही कराण है कि उनके लेखन में धाराप्रवाह भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। दलित जीवन के सत्य को आवाज़ प्रदान करती उनकी रचनाएँ इस बात के प्रमाण हैं कि दलितों का जीवन तब तक दुभर है जब तक वे स्वयं चागरूक नहीं बनते। सामाजिक परिवर्तन तभी संभव है जब परिवर्तनकामी चेतना सबके मन-मस्तिष्क में प्रवाहित हो और कर्दम जी के उपन्यास इस चेतनता को जगाने की बेहतर कोशिश हैं।

4.3. 'तलाश' स्वानुभूत या भोगे हुए यथार्थ की भावाभिव्यक्ति

हिन्दी कथा-साहित्य में कहानी का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है. वह यह कि हिन्दी कहानी ने अपने आरम्भ से ही यथार्थ की पक्षधर रही है। हाँलाकि उपन्यास के साथ कई बार बहस छिड जाती है कि पहले उपन्यासों में मनोरंजन को अधिक तवज्जह दी गयी है। लेकिन कहानी अपने आरम्भ से ही विवादों के घेरे से मुक्त है। 'दुलाईवाली', 'एक टोकरी भर मिट्‌टी', 'कानों में कंगना', 'ग्यारह वर्ष का समय', 'उसने कहा था' आदि के क्रम से यदि देखें तो पता चलता है कि प्रत्येक कहानी सामाजिक यथार्थ को अंकित करती नज़र आती हैं।

गुलेरी की 'उसने कहा था', यद्यपि इसका विषय भावुकता, प्रेम और कर्तव्य के इर्द-गिर्द ही मँडराता है, पर रचनाकार ने जो परिवेश निर्मित किया, जो वातावरण सामने रखा, वह कहानी का जीवन्त, मार्मिक और यादगार बना गया। इतना ही नहीं, इस कहानी में मन का खुला बेबाक चित्रण हृदय को बेधकर रख देता है। वास्तविक तौर पर यही बात - मन का खुलापन और बेबाकी कर्दम जी की 'तलाश' में संकलित कहानियों पर भी लागू होती है। सही मायने में यदि देखा जाए तो कर्दम जी की यह सबसे सुगढ़ रचना है। इसमें संकलित सभी कहानियाँ मनुष्य जीवन की यथार्थ जटिलताओं के भीतर से निकलकर उसकी यथार्थ सीमाओं को स्पर्श करती हैं और सत्य को स्वीकार करने की उस महिमामयी क्षमता का परिचय देती है जो अनेक व्यवधानों के कारण सत्य ही नहीं दिखाई देती।

कर्दम जी की लगभग सभी कहानियों के पात्र दलित हैं और उनका दलितपन तथा शोषक समाज के अगुवाओं का घिनौना बर्ताव उनके संवादों में स्पष्ट होती दिखाई देता है। कर्दम जी की कहानियों में एक कहानी ऐसी है जो उनके निजी जीवन में उनके पिता के साथ घटित हुई घटना को अभिव्यक्त करती है। यह कहानी 'लाठी' शार्षक से प्रकाशित हुई है। गौरतलब है कि कर्दम जी के पिता खेती-बाड़ी करते थे औ एक बार दबंग बदनी जाट ने उनकी कमर में लाठी मारी थी, जिसके दर्द के चलते उनके पिता आजीवन कराहते रहे थे। लाठी कहानी उसी बात को दोहराती हुई नज़र आती है। इस कहानी का एक पात्र दलित किसान है, जो अपने वार पर अपने खेत में पानी देने जाता है, लेकिन उस समय तक गाँव के दबंग जाट किसान का खेत नहीं भर पाता।

पानी चलाने को लेकर दोनों में कहासुनी हो जाती है और दबंग जाट किसान दलित किसान को लाठी मार देता है। हांलाकि दलित किसान गाँव में अपने मुहल्ले में आकर घटना की जानकारी देता है और दलित वर्ग के लोग बदनी से बदला लेने के लिए उठ खड़े होते हैं। लेकिन कर्दम जी के पिता तथा परिवार ने कभी बदले की भावना को रोष के रूप में प्रकट नहीं किया। कर्दम जी के पिता को मारी हुई लाठी से उत्पन्न दर्द उनकी रचनाओं में कसक बनकर उभरकर आया है।

यही कसक उनकी रचनाओं को अन्य कहानीकार से बिरले वर्णन का रचनाकार बना देती है। 'तलाश' में कुल बारह कहानियाँ संकलित हैं और हर कहानी में तलाश है एक ऐसी नवीन व्यवस्था की जहाँ पर असमानता न हो और दलित वर्ग भी सम्मानपूर्वक जीवन जी सके। 'मूवमेन्ट' कहानी का नायक प्रगतिशील विचारों का है और सामाजिक कार्यों के लिए प्रायः घर से बाहर ही रहता है। लेकिन उसकी पत्नी सुनीता अपने ही घर में चारदीवारी के भीतर घुटन सी महसुस करती है। एक ओर उसके पति समाज में व्याप्त असमानता दूर करने के लिए प्रयासरत हैं लेकिन अपने ही घर में वह पत्नी के साथ असमानता का व्यवहार करते हैं। हांलाकि पत्नी इस बात से रुष्ट है कि उसे कोई अवसर प्रदान नहीं किया गया। पति के यह कहने पर कि वह भी चाहते हैं कि सामाजिक आयोजनों में वह भी हिस्सा ले। इस पर भड़ककर वह कह उठती है - *"सिर्फ चाहते हो न? पर रखना तो चाहते हो नौकर की तरह इस चारदीवारी के अन्दर ही। नहीं तो कितनी बार मौका दिया है तुमने मुझे घर से बाहर जाने का, कितनी बार अपने साथ ले गए हो तुम? बाहर के लिए तो सिर्फ तुम हो, मैं तुम्हारे परिवार और मेहमानों की आवभगत और सेवा के लिए हूँ। तुम बराबरी की बात करते हो न, बराबरी का मतलब है हर क्षेत्र में हर स्तर पर बराबरी। हर किसी को अवसर की स्वतंत्रता और समानता। मेरी सारी जिन्दगी तो परिवार की जिम्मेदारियाँ निभाते हुए घर की चारदीवारी की भेंट चढ़ रही है। मेरे लिए कौन-सा अवसर है इस पर नहीं सोचोगे तुम कभी। यही तो सबसे बड़ी दिक्कत है। मैं पूछती हूँ क्या यही प्रगतिशीलता है तुम्हारी कि बाहर जाकर अन्याय और असमानता के खिलाफ भाषण झाड़ो और खुद घर में असमानता*

का व्यवहार करो? यही मूवमेन्ट है तुम्हारा?"[1]

वास्तविक अर्थों में कर्दम जी ने इस कहानी के माध्यम से समाज मे व्याप्त नारी जीवन की कसक को अभिव्यक्ति देने की कोशिश की है। सही मायने में यदि देखा जाए तो भारत के लगभग हर घर में नारी दलित, शोषित है और उसे कभी अपने जीवन को सोचने-समझने का अवसर भी प्रदान नहीं किया जाता। वह चारदीवारी के भीतर ही अपनी साँसे तोड़ देती है। २१ वीं सदी में नारीवादी आंदोलनों के चलते या शिक्षा के प्रसार के चलते नारी जीवन में थोड़ा-बहुत परिवर्तन देखने को मिलता है लेकिन आज भी एक विशाल नारी समुदाय त्रासदीपूर्ण जीवन जी रहा है।

वैसे २१ वीं सदी में स्त्री के सौंदर्य को कैश किया जा रहा है। लेकिन स्त्री इसे अपना उद्धार मानती हुई दिखाई दे रही है। बहरहाल वैसे यह कहानी दलित जीवन का चित्रण करने वाली कहानी नहीं है। यह तो प्रकारान्तर से नारी जीवन के यथार्थ को उजागर करने वाली कहानी है। प्राचीन काल से ही स्त्री को लोक मर्यादा और सदाचरण के नाम पर बंधक बनाकर रखा गया है। लेकिन वर्तमान समय में यह बंधकत्व स्त्री को मान्य नहीं इसके विपरित वह भी पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर विकास में प्रतिभागिता करना चाहती है। कर्दम जी ने सुनीता के माध्यम से स्त्री की अभिलाषा, आकांक्षा को सधी हुई आवाज़ में अभिव्यक्ति प्रदान की है। वैसे यह कहानी दलित कार्यकर्ताओं को सिलसिले से यह समाझाने का प्रयास करती है कि परिवर्तन की बात बाहर करने से पहले वे अपने घर-परिवार में परिवर्तन करें तथा सबके साथ समानता का व्यवहार रखें। बाहर समानता की माँग करते-करते कहीं ऐसा न हो कि घर के भीतर चहारदीवारी में स्त्री दलितपन के बोझ से दबी न जाए।

कर्दम जी ने जिस प्रकार स्त्री की मनोकांक्षा को परखकर 'मूवमेन्ट' कहानी का सृजन किया ठीक उसी प्रकार शिक्षा जगत में दलित अध्यापकों की दयनीय स्थिति को भी उन्होंने 'मोहरे' नामक कहानी के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

---

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ८८

इस कहानी में उत्तर भारत का विद्यालयी माहौल पूरी तरह प्रतिभाषित होता है। एक तो सवर्ण अध्यापक किसी दलित अध्यापक को तथाकथित विद्यामंदिर में बर्दाश्त नहीं कर पाते। यदि वह किसी तरह आ भी जाता है, तो उसके विरूद्ध विभिन्न प्रकार के षडयंत्र रचे जाते हैं। इस कहानी का नायक सत्यप्रकाश भी इसी स्थिति का भोक्ता है। वह एक दलित अध्यापक होने के साथ-साथ यह महसूस करता है कि, *"सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले अधिकांश बच्चे साधनहीन और निर्धन दलित परिवारों से हैं। जो लोग थोड़ा-सा भी ठीक-ठाक खातो-पीते हैं वे अपने बच्चों को पब्लिक स्कूलों में पढ़ने भेजते हैं।"*[1] और दरअसल वह एक दलित नेता के भाषण से इस सत्य को जान गया था कि, *"गैर दलित अध्यापक दलित बच्चों को पढ़ाने के प्रति गम्भीर नहीं है। वे नहीं चाहते कि दलित बच्चे पढ़-लिखकर कामयाब हों। इसलिए वे हमारे बच्चों को पढ़ाने में रुचि नहीं लेते हैं। हमारा शिक्षित होना उनके लिए चुनौती बन सकता है, वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। इसलिए पढ़ाने की बजाए वे उल्टे उन्हें हतोत्साहित करते हैं। बाबासाहब अम्बेडकर के लम्बे संघर्ष और त्याग का फल है कि आप लोग पढ़-लिखकर सरकारी नौकरी में हैं। यदि आप लोग चाहते हैं कि हमारा समाज तरक्की करे, हमारे समाज के बच्चे पढ़-लिखकर आगे बढ़ें तो आप लोगों को नौकरी की भावना से ऊपर उठकर इन बच्चों में पढ़ाने के लिए अतिरिक्त दायित्व अपने ऊपर लेना होगा।"*[2]

सत्यप्रकाश अपना कार्य भली-भाँति करता है लेकिन गैर दलित अध्यापकों में सत्यप्रकाश के प्रति हीन भावना थी अतः वे उसे एक षडयंत्र में फँसाकर स्कूल से बाहर कर देते हैं। यह लगभग भारत के सभी गाँवों का सत्य है कि दलित अध्यापक के प्रति सवर्ण अध्यापकों का रवैया कुछ उखड़ा-उखड़ा सा रहता है। कहानी में सत्यप्रकाश किसी बालक को नहीं पिटता है लेकिन रादेव त्रिपाठी उस बच्चे के पिता को उसके खिलाफ उकसाया, *"देखो, इस तरह का व्यवहार बच्चों के साथ ज्यादती है। आपको इस ज्यादती का विरोध करना चाहिए। आखिर माँ-बाप बच्चों को स्कूल में पढ़ने के लिए भेजते हैं। मास्टरों का फर्ज होता है कि वे बच्चों को पढ़ाएँ, उन्हें प्यार से समझाएँ,*

---

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ५१-५२

[2] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ५२

ज़्यादा हो तो जरूरत पड़ने पर उनको डाँट दें। लेकिन बच्चों के साथ इस तरह का हिंसक व्यवहार करना बहुत बड़ी ज्यादती है, यह मानव अधिकार का भी उल्लंघन है। इस तरह मार-पीट करने से बच्चे के मन में दहशत बैठ जाएगी, वह हमेशा डरा-सहमा-सा रहेगा। पढ़ाई में उसका मन बिल्कुल नहीं लगेगा। अच्छा बनने की बजाए उल्टे इससे तो बच्चे का भविष्य बिगड़ जाएगा। चाहे मैं ही क्यों न होऊँ बच्चों के अभिभावकों को इन बातों का विरोध जरूर करना चाहिए। आज आप चुप लगाकर बैठ जाएँगे तो कल को दूसरे बच्चे के साथ भी ऐसा हो सकता है। इससे सत्यप्रकाश को बढ़ावा मिलेगा। जुल्म को सहना जुल्म को बढ़ावा देना है। मैं यही कहूँगा कि अपने और सभी बच्चों के हित में आपको इसका विरोध करते हुए डिप्टी डायरेक्टर ऑफ़ एजुकेशन से इसकी शिकायत करनी चाहिए। ज्यादती की इस खिलाफत में हम लोग आपकी गवाही देंगे।"[1]

कर्दम जी ने एक ओर जहाँ सत्यप्रकाश के साथ किए गए षडयंत्र का वर्णन किया है, वहीं दूसरी तरफ रामदेव त्रिपाठी जैसे समाज कंटक व्यक्तित्व का भी पर्दाफाश किया है।

इस संकलन में कर्दम जी की पहली कहानी 'तलाश' सीधे समाज में स्थित वर्ण-व्यवस्था को रेखांकित करने वाली कहानी है। कहानी का नायक रामबीर सिंह एक बिक्रीकर अधिकारी है। वह गुप्ता परिवार के यहाँ किराए के मकान में रहता है और रामबती चुहड़ी से खाना बनवाता है जो गुप्ता दम्पत्ति को नहीं सुहाता और वे रामबीर से कहते हैं कि वे अपनी कामवाली बदल दें और रामबती से खाना न बनवाएँ। रामबीर सिंह के यह पूछने पर कि आखिर रामबती में क्या कमी है, तो गुप्ता दम्पत्ति ने कहा कि, *"आप नहीं जानते साहब, रामबती चूहड़ी है। एक चूहड़ी से खाना बनवाएँगे आप? माँस-मछली पता नहीं क्या-क्या खाती है। मुझे तो सोचकर ही घिन-सी आ रही है। और वह रसोईघर के अन्दर घुसकर सब चीज़ों को छुएगी।"*[2]

रामबीर सिंह को गुप्ता के ये शब्द बड़े अटपट् लगे और उत्तर में रामबीर सिंह ने कहा - *"आपकी बात कुछ जंच नहीं रही मुझको तो गुप्ता जी! हमें इस तरह की बोतें नहीं सोचनी चाहिए। ये बातें बहुत पुरानी हैं और पीछे छूट चुकी हैं। हमारा संविधान, जिससे हमारा देश चलता है,*

---

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ५५

[2] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २६

उसकी नज़र में सब बराबर हैं। कोई किसी से छोटा-बड़ा या छूत-अछूत नहीं है।"[1] लेकिन गुप्ता अपनी सवर्ण मानसिकता के दम्भ के चलते यह समझने वाला नहीं था उसने फिर प्रतिवाद किया कि, *"संविधान से देश चलता है साहब, समाज नहीं। समाज परम्पराओं से चलता है। इस पूरे मुहल्ले में ब्राह्मण-बनिए रहते हैं-धरम-करम से चलने वाले।"*[2]

लेखक ने जिस कदर समाज में व्याप्त छुआछूत की भावना को उजागर किया इससे यही प्रतीत होता है कि आधुनिकता की चकाचौंध का असर लोगों के केवल रहन-सहन पर पड़ा है लेकिन विचारों से वे अभी भी सामंती विचारधारा से प्रेरित हैं। लोग यह भूल जाते हैं कि देश का संविधान एक दलित ने लिखा है और वही संविधान आज देश को चला रहा है। कर्दम जी की कहानियों की यह विशेषता रही है कि वे प्रकारान्तर से व्यवस्था में एक नवीनता तलाशती हैं और कथ्य के स्तर पर वह बेबाक वर्णन करती हैं। लेखक की बाहरी वस्तुओं की गहराई से समझ इस बात के लिए प्रमाण सिद्ध होती हैं कि समाज में अभी तक वह सब प्रचलन में है जो वास्तविक अर्थों में नदारद होना चाहिए था। डॉ. अम्बेडकर की लाख कोशिशों के बावजूद भी समाज की परम्परागत सोच में दरार नहीं आयी। लेकिन लेखक अपने पात्रों के जरिए उस परम्परागत दीवार में सेंध लगाने में सक्षम एवं सफल साबित हुआ है। तभी तो रामबीर सिंह दो टूक कहता है - *"यदि यह बात है तो मैं आपका मकान खाली करने के लिए तैयार हूँ। लेकिन जातिगत भेदभाव के आधार पर मैं रामबती से खाना बनवाना बन्द नहीं करूँगा।"*[3]

भेदभाव तथा दीन दलितों के प्रति हीनता की भावना 'शीत लहर' नामक कहानी में भी दिखाई देती है। हांलाकि इस कहानी में भी दलित शब्द का प्रयोग नहीं है, लेकिन बेबस लाचार शीत लहर से ठिठुरते लोगों का जिक्र आता है। कहानी का नायक चन्द्रप्रकाश नेकनीयत आदमी है और दिल्ली के लक्षक्षक्ष्मीनगर में उसने एक हाउसिंग सोसायटी में घर लिया है जो वह सड़क किनारे ठण्ड से सिकुड़ते लोगों को देने की बात अपनी पत्नी के सामने छेड़ देता है औ उस पर

---

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २७

[2] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २७

[3] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २७

उसकी पत्नी बिगड़कर कहती है - *"तो फिर दे दो इनको रहने के लिए। लेकिन पहले सोसाइटी के पदाधिकारियों से पूछ लो, क्या वे लोग इसके लिए एलाऊ करेंगे।... ये लोग इतनी गन्दगी फैलाएँगे कि सारी सोसाइटी को गन्दा करके रख देंगे। सोसाइयी बिल्कुल एलाऊ नहीं करेगी इनको रहने के लिए।"*[1] *सोसाइटी* सचिव से पूछने पर वह उन लोगों की जेन्टरी (कुलीन वर्ग) पर सवाल उठाता है। *"आप अच्छी तरह जानते हैं कि सोसाइटी के सदस्य एक खास जेन्टरी के लोग हैं। इन सड़क के लोगों की क्या जेन्टरी है? सोसाइटी का कोई सदस्य इनको बर्दाश्त नहीं करेगा।"*[2]

लोगों के ऐसी अभिजात्यता पर लेखक ने करारा जवाब दिया है अपने पात्रत्रत्रों के माध्यम से। 'जहर' कहानी का नायक एक दलित ताँगे वाला है। एक दिन वह एक ब्राह्मण सवारी को अपने ताँगे में बैठा लेता है। रास्ते में किसी दलित नेता का जुलुस में जाते हुए दलितों को देखकर ताँगे में बैठा हुआ ब्राह्मण भुनभुनाता है और दलितों के खिलाफ अनाप-शनाप बोलने लगता है। इस पर ताँगे वाला विशम्बर पण्डित को बीच रास्ते में ही यह कहकर ताँगे से उतार देता है कि, *"पण्डत, जरा नीचे उतर ताँगे सै।"*[3] ताँगेवाले का आक्रोश आवेग के साथ बाहर पड़ता है। गौरतलब है कि पण्डितों की पण्डिताई केवल इस बात में रह गयी कि वे समाज में ऊँच-नीच, श्रेष्ठ-नीच की भावना को पनपने के लिए स्थान खोज लेते हैं। लेकिन कहानी में बिशमबर ताँगेवाले के शब्दों से पण्डित की पूरी पण्डिताई निकल जाती है।

वास्तव में प्रतिरोध का साहस ही दलितों के जीवन में बेहतरी की संभावनाएँ उत्पन्न करता है। बिशम्बर के दो टूक शब्द देखिए - *"जब चमारों सै इतनी नफरत है तुझकू तै चमार के ताँगे में भी क्यूँ बैठता है। किसी और भारकस सै अइए। मेरे ताँगे में बैठकै चमारों कू गाली देवैगा, उन्हें कोसैगा तू? ऐं!... चल उतर मेरे ताँगे सै।... दो रुपए का नुकसान मुझै होएगा ना? मैं सौ रुपए का नुकसान बर्दाश्त कर लूँगा. पर तेरे जैसी अपमानजनक बातें मैं बर्दाश्त नई करूँगा। चल उतर जल्दी सै। बातों में लगा कै टैम खराब मत कर मेरा। नहीं तै यू सन्टर देख रा है मेरे हाथ में,*

---

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १४३

[2] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १४३

[3] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ११२

इससै सूड़ दूँगा तुझै।"[1]

यदि समाज के प्रत्येक दलित में इस चेतना का विकास हो जाए तो समाज का कायापालट होने की संभावना की प्रचिति इन संवादों से होती है। कर्दम जी के उपन्यासों के पात्र सौम्य विचारों के हैं, वे आक्रोश को भी सौम्य रूप में व्यक्त करते हैं या यूँ कहें कि आक्रोश एवं प्रतिरोध का ज्वालामुखी उनकी आरम्भिक रचनाओं में अंकुरित होता है लेकिन 'तलाश' के पात्रों में आकर वही आक्रोश का ज्वालामुखी फट पड़ता है। बर्दाश्त की भी हद होती है। इस प्रचुरता में प्रचलित वाक्यांश को यदि दलितों के जीवन पर लागू किया जाए तो हजारों सालों से दलितों ने बर्दाश्त व सहन ही किया है। बस्स अब और नहीं का रवैया या स्वर उनकी जुँबा पर अब आ उठा है जो कि सामाजिक क्रांति एवं परिवर्तन के लिए सकारात्मक एवं अनिवार्य है।

कर्दम जी की एक अन्य कहानी 'साँग' जो कि नायिका प्रधान है ; दलितों के बदलते रवैये को व्यक्त करती है और सवर्ण समाज को सचेत करती है कि यदि ऐसा घटित न हुआ हो तो ऐसा होने की पूरी संभावना है, अतः वे दलितों के साथ अच्छा बर्ताव रखें।

कहानी में मुखिया भुल्लन जो कि दलित है, की खूब पिटाई करता है। भुल्लन का स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वह खेत में पानी नहीं लगा पाता है। इसी बात को लेकर मुखिया ताव में आकर भुल्लन की पिटाई करता है। भुल्लन दया की भीख माँगता रहा, गिड़गिड़ाया लेकिन मुखिया ने एक न सुनी, आव देखा न ताव देखा बस्स पिटता ही गया। *"मुखिया निर्ममता से भुल्लन को मारे जा रहा था और भुल्लन गर्म रेत पर पड़ी मछली की मानिन्द प्राण-रक्षा में इधर से उधर फड़फड़ा रहा था।"*[2] ठीक ऐसा ही बर्ताव वह चम्पा के साथ भी करता है लेकिन चम्पा भुल्लन की दशा से ही विचलित हो गयी थी और उसे भी मार पड़ी थी। इस बार वह पूरे साहस के साथ मुखिया का विरोध करती है। "*इससे पहले की मुखिया का हाथ चम्पा तक पहुँचता, ओढ़ने में से गंडासा पकड़े चम्पा के हाथ बाहर निकले और अगले ही क्षण मुखिया का सिर दो फाँक हो गया।"*[3]

---

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ११३

[2] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३४

[3] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३५

इस प्रकार कर्दम जी ने अपने पात्रों के माध्यम से प्रतिकार का स्वर अंकित किया है। इनेक वर्णन से यह पता चल जाता है कि दलितों में चेतना का विकास हो रहा है। डॉ. एन. सिंह ने लिखा है - *"अब वे न तो शाब्दिक हिंसा बर्दाश्त करने को तैयार हैं और न ही शारीरिक हिंसा को। जयप्रकाश कर्दम की कहानियों में परिवर्तन की ये आहटें स्पष्ट देखी जा सकती हैं।"*[1]

सिंह ने कर्दम जी की कहानियों की वकालत करते हुए लिखा है कि, *"जयप्रकाश कर्दम की कहानियाँ केवल कहानियाँ ही नहीं हैं, बल्कि दलित आन्दोलन के वैचारिक दस्तावेज हैं। दलित विमर्श में एक प्रश्न बराबर उभरता रहा है कि दलित साहित्य के मार्क्सवाद के साथ क्या रिश्ते हों। इस प्रश्न का बहुत ही सुविचारित उत्तर जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'कामरेड का घर' प्रस्तुत करती है।"*[2] इस कहानी के पात्र कई मार्क्सवादी बुद्धिजीवी हैं। इनमें प्राध्यापक, पत्रकार हैं और प्रगतिशील लेखन से जुड़े रचनाकार हैं। किन्तु आचरण में जमीं-आसमाँ का अंतर है। कामरेड तिवारी कामरेड असलम के घर पर मुर्गा खाता है लेकिन अपने घर पर उसे अण्डा खाने नहीं देता। कर्दम जी ने हिन्दुओं के इस आचरणगत द्वन्द्व को कहानी के दो पात्रत्रत्रों के माध्यम से उभारा है। वहीं 'नो बार' कहानी में विवाह संबंधी विज्ञापन में नो बार लिखने के बाद भी एक दलित के साथ विवाह करने के लिए सोचने वाले पिता की छवि को रेखांकित किया है।

बहरहाल क्रदम जी की कहानियाँ दलित सन्दर्भों में दलितों और गैर-दलितों में आ रहे भावात्मक परिवर्तनों को रेखांकित करती हैं। 'जरूरत' तथा 'बिट्टन मर गई' कहानियाँ भी ऐसी ही कहानियाँ हैं जो गैर-दलितों में दलितों के प्रति उत्पन्न होने वाले सद्भाव का वर्णन करती हैं।

कर्दम जी की प्रत्येक कहानी अपने आप में अनूठा कथ्य एवं विषय-वस्तु को प्रस्तुत करती है। शोषणरहित समाज की अपेक्षा करने के लिए सर्वप्रथम हमें अपने घर में स्त्री का होने वाला शोषण रोकने की बात सर्वप्रथम उठाने वाले रचनाकार के रूप में कर्दम जी को देखा जा सकता है। इस प्रकार इनकी प्रत्येक कहानी एक अलग विषय पर आधारित है तथा एक ऐसी व्यवस्था की तलाश है इनमें जहाँ शोषण से मुक्त समाज हो और समानता व भाईचारा हो।

---

[1] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ११

[2] 'तलाश', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १२

निष्कर्ष

कर्दम जी के सम्पूर्ण कथा-साहित्य में एक अंडरटोन विद्यमान है। और वह है समाज के कायापालट की कामना की प्रतिज्ञा। कर्दम जी ने अपने पहले उपन्यास में ही इस बात की ओर इंगित किया था कि यदि समाज में परिवर्तन लाना हो तो स्वयं में परिवर्तन करो। कल्याणी इसी बात को लेकर भिक्षक्षक्षुणी बन जाती है और अंततः रमेश भी बौद्ध धर्म का स्वीकार करता है। वैसे यह रचना मार्क्स की विचारधारा पर अधिक गयी है चूँकि समाज में समानता लाने के संदर्भ में कर्दम जी के इस उपन्यास में वर्णित विचार मार्क्स के विचारों से सामिप्य दर्शाते हैं।

रचना में आतंक की कोई गुंजाइश नहीं होती यह अब पुरानी बात हो गयी है। कल्याणी उपन्यास का मुख्य किरदार रमेश पहले अहिंसावादी होता है लेकिन जब वह देखता है कि समाज में इतने हिंसक लोग हो गए हैं कि उन्हें शांति की भाषा ही समझ नहीं आती। ऐसे में वह भी हिंसा के पक्षक्षक्ष में सोचने लगता है।

वैसे उनकी बाद की रचनाओं के पात्र आक्रोश से भरे लगते हैं लेकिन पहले-पहल वह भी रमेश की भाँति ही अहिंसावाद के पक्षधर्ता दिखाई देते हैं लेकिन जब स्थिति जद से बाहर हो जाती है तो हाथ में हथियार थमा लेते हैं। खासकर उनकी कहानियों के पात्रों में प्रतिरोध का रवैया अधिक मुखर दिखाई देता है।

छप्पर उपन्यास के लगभग सभी पात्र विरोध तो करते हैं लेकिन उनके विरोध में अभी भीरूपन स्पष्ट झलकता है। केवल शिक्षित लोगों में यह भीरूपन पूर्णतः नदारद पाया जाता है। वैसे अपढ़ पात्रों में भी चेतनता, सजगता का अंकुर पल्लवित हुआ है और तभी तो सुक्खा सम्पूर्ण गाँव के सवर्ण समाज के निर्णय के खिलाफ जाकर अपने बेटे को ऊँची तालिम देने का निश्चय लेता है। विरोध का साहस दलित समाज में उभरता हुआ दिखाई देता है। संविधान सम्मत समाज की अपेक्षा तथा उत्तम व बराबरी वाले जीवन की तलाश इन पात्रों के जीवन का मुख्य ध्येय जान पड़ता है।

कर्दम जी ने अपने किसी भी रचना में अपने जातिगत हीनता-बोध को हावी नहीं होने दिया है। प्रत्येक रचना का पात्र स्वाभिमान के साथ स्थिति का सामन करता है। इस प्रकार कर्दम जी की रचनाएँ अनूठे किन्तु यथार्थ का बेबाकी से चित्रण करने वाली श्रेष्ठ रचनाएँ साबित होती हैं।

पंचम अध्याय

दलित आंदोलन : डॉ. जयप्रकाश कर्दम का अन्य साहित्य

प्रस्तावना

5.1. 'इक्कीसवीं सदी में दलित आन्दोलन' –
दलित आंदोलन की चुनौतियों का विश्लेषण

5.2. 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा' –
परिवर्तनकामी चेतना का दस्तावेज

5.3. 'धर्मांतरण और दलित' –
भ्रामक अवधारणा का मूल्यांकन

5.4. 'चमार' –
चमार जाति की दयनीय स्थिति का सांख्यिकीय दस्तावेज

5.5. 'बौद्ध धर्म के आधार स्तम्भ' –
बौद्ध परिव्राजकों का इतिहास

5.6. 'जाति : एक विमर्श' –
परंपरागत जाति-व्यवस्था पर एक महत्वपूर्ण दस्तावेज

5.7. 'रागदरबारी का समाजशास्त्रीय अध्ययन' –
वास्तविकता के अनपहचाने एवं अपरिचित पहलू

दलित आंदोलन : डॉ. जयप्रकाश कर्दम का अन्य साहित्य

प्रस्तावना :-

दलित आंदोलन की तमाम गतिविधियों का जायजा लेते हुए यह देखा गया कि दलितों में चेतना धीरे-धीरे विकसित हुई है और आज दलित अपने अधिकारों को लेकर जागृत हुआ है। इतना ही नहीं वह समाज का नेतृतेव भी करने लगा है। फूले-अम्बेडकर के दिखाए मार्ग पर चलते हुए दलितों के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन हुआ है। इस चेतना को विकसित करने का श्रेय दलित रचनाकारों को भी जाता है। दलित रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से दलित समाज को यह अहसास दिलाया कि जब तक दलित स्वयं अपने अधिकारों को लेकर सजग नहीं होता तब तक समाज में उसे समानता प्राप्त नहीं होती। समाज में सत्ता पिपासु वर्ग के एकाधिकार के खिलाफ लड़ना ही दलित धर्म था, जिसे साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से अधिक उभार दिया है।

कर्दम जी की रचनात्मक कृतियों के बरक्स उनकी आलोचनात्मक कृतियों का भी अपना अलग महत्व है। कर्दम जी की लगभग छह आलोचनात्मक ग्रंथ हैं। क्रमवार रूप में यदि इनके रचनाक्रम पर दृष्टिपात करें तो 'वर्तमान दलित आंदोलन' अस्सी एवं नब्बे के दशक में प्रचलित दलितवादी आन्दोलन के रवैये पर आलोचनात्मक रूप से कटाक्ष करती हुई रचना है।

'इक्कीसवीं सदी में दलित आन्दोलन' में विगत दशकों के दौरान प्रचलित दलितवादी साहित्यिक प्रणाली का सन्दर्भोचित विवेचन किया गया है, साथ ही मार्क्सवादी विचारधारा की भ्रांतियों पर प्रकाश डाला गया है। मार्क्सवाद पिछड़े वर्ग का हिमायती बनकर आगे आता है किन्तु वह वर्ण व्यवस्था पर प्रहार करने के बजाय वर्ग-संघर्ष को ही प्रधानता देता है। दलितों का दलन करते हुए वर्ण-व्यवस्था की नींव रखी गयी। अतः दलितों का संघर्ष वर्ग संघर्ष न होकर जाति-उन्मुलन, समाजार्थिक समानता का संघर्ष है। इसके अतिरिक्त इस पुस्तक में धर्मांतरण की मिथ्या अवधारणा, दलितों के प्रति मीडिया की उदासीनता आदि प्रमुख बिन्दुओं की आलोचना की

है।

वहीं 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा' एक ऐसी रचना है जिसमें जयप्रकाश जी ने गौतम बुद्ध से लेकर कबीर, रैदास आदि महान विभूतियों के चिंतन का ज़िक्र करते हुए अम्बेडकर के विचारों का विवेचन किया है। डॉ. अम्बेडकर ने वर्ग-भेद की अपेक्षा जाति-भेद को मिटाने पर अधिक बल दिया और इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा कि जाति-विहीन एवं वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होनी चाहिए। जबकि मार्क्स वर्ग-विहीन समाज की स्थापना के पक्षधर्ता थे। अम्बेडकर सही मायने में समाज में समता-बंधुता के समीकरण के पक्ष में थे। इस रचना में डॉ. अम्बेडकर के विचारों की पुनः प्रतिष्ठापना की गयी है और शोषण-रहित समाज की स्थापना पर बल दिया गया है। डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी ना तो परंपरावादी दलितवाद को उचित मानते हैं और ना ही समझौतावादी बल्कि उनके विचार क्रांतिकारी स्वर से भरपूर है। अतः उक्त उल्लिखित रचना में उनका रवैया परिवर्तनगामी चेतना लिए हुये है।

ठीक इसी तर्ज पर किन्तु एक आशा और विश्वास के साथ कि लिखने से समाज का कायापालट हो सकता है। इसी ठोस धारणा के साथ उन्होंने आरक्षण, दासता, मानसिक उत्पीड़न, संत्रास इत्यादि विषयों को लेकर रचना कर्म हुआ है। इस दृष्टि से उनकी काव्य-कला में एक सपाट बयानीपन है किन्तु व्यवस्था की नींव में सेंध लगाने में ऐसी शब्दावली का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक हो गया है।

'धर्मांतरण और दलित' में लेखक ने धर्मांतरण के संबंध में समाज में प्रचलित विविध भ्रांतियों को दूर करने का प्रयास किया है। धर्मांतरण दलितों के बीच एक भ्रामक अवधारणा बनी हुयी है, अतः लेखक ने अपने संपादन के माध्यम से इन भ्रांतियों के उजागर किया है। और धर्णांतरण को सकारात्मक दृष्टि से देखने की आवश्यकता बताया है।

वहीं 'चमार' एक ऐसी रचना है जो चमार जाति की दयनीय स्थिति का चित्रण करती है। चमारों में बुनियादी त्रुटी उनकी अशिक्षा है और यही वजह है कि वे अन्धविश्वास के शिकार रहे हैं। वर्तमान में कर्म को ही आधार मान लें तो कोई भी परंपरागत व्यवसाय से जुड़ा नहीं है। अर्थात् ब्राह्मण अब होटल चलाते, चप्पल दुकान इत्यादि का व्यवसाय करते दिखाई देंगे। ठीक कुछ ऐसा

ही अन्य जातियों के साथ भी है किन्तु एक 'चमार' ऐसी जाति है जो आज भी अपने परंपरागत पैतृक व्यवसाय से जुड़ी हुई है। आधुनिक युग की चकाचौंध में भी उसके पुरातन विचार, कुछ मान्यताएँ एवं विश्वास अड़िग हैं। शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने नवीन पीढ़ी में कुछ नवीन जोश व उमंग भर दिया है। बहरहाल जयप्रकाश जी की यह अनुदित पुस्तक चमार जाति का एक तरह से 'तथ्यपरक सांख्यिकीय' अध्ययन है।

लेखक की अन्य रचना 'बौद्ध धर्म के आधार स्तम्भ' एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज है जिसमें महात्मा गौतम बुद्ध के जन्म से लेकर वर्तमान बौद्ध परिव्राजक दलाई लामा तक की परम्परा का विवेचन मिलता है। ये सभी बौद्ध के आधार स्तम्भ हैं। बौद्ध धर्म का देशकाल से बाहर निकलकर विश्वरूप बन जाने के पीछे उसके सिद्धान्तों का व्यापक स्तर पर मानवता का पक्षधर्ता होना है। लेखक ने धर्म की विशेषता बताते हुए आधार-स्तम्भों का अनुशीलन किया है।

वहीं 'जाति : एक विमर्श' परंपरा से चली आ रही जाति व्यवस्था पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। जाति का दम्भ समाज में विभेद का वातावरण बनाये रखता आया है और पिछड़ी जातियों के उद्धार में सदैव रोड़ा बनता रहा है। भारतीय जाति व्यवस्था ने निम्न वर्ग की तथाकथित दलित जातियों का कभी विकास होने ही नहीं दिया। जाति-व्यवस्था ने यदि किसी के विकास को अवरूद्ध किया है तो वह है दलित वर्ग। इस अव्यवस्था ने मनुष्य के साथ कभी मनुष्यता का व्यवहार ही नहीं किया। अतः जाति भारतीय समाज में सबसे बड़ा 'मिथ' है जिसे तोड़ना और उसका टूटना विशाल जन समुदाय के सामाजिक हित में है। यह पुस्तक जाति के परंपरागत ढाँचे पर प्रहार करती है। आचार्य भीमसेन ने डॉ. अम्बेडकर के वक्तव्य को उद्धृत करते हुए लिखा है कि गुलाम को गुलाम होने का अहसास दिलाइये, वह उसके प्रतिरोध में भड़क उठेगा। दलित साहित्य दलितों को उनके दलित होने का अहसास दिला रहा है। इसके ऐतिहासिक और वर्तमान कारणों से अवगत करा रहा है तथा इससे मुक्ति के रास्ते भी बता रहा है। अतः दलित साहित्य को और भी अधिक पुख़्ता बनाने में जाति विमर्श का अपना विशेष योगदान होगा।

इसके अतिरिक्त जयप्रकाश कर्दम जी 'दलित साहित्य' वार्षिक पत्रिका का संपादन कार्य में लगे हुए हैं। इस वार्षिकी की माध्यम से वे दलित जन चेतना को बृहद प्लैटफार्म मुहैया करना चाहते हैं। डॉ. अम्बेडकर ने साहित्यकारों से अपील करते हुए कहा है कि मुझे साहित्यकारों से अपनी सारी शक्ति लगाकर कहना है कि आप अपने साहित्य निर्माण द्वारा उदात्त जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित करें। अपने विचार संकुचित और सीमित न रखें, उन्हें विशाल बनाएँ, अपनी वाणी को चहार दीवारी से बाहर निकलने दो। अपनी लेखनी का प्रकाश अपने आँगन में ही न रोक लें। उसका तेज गाँव-गाँव के गहन अंधकार को दूर करने के लिये और दुःखियों का अपना संसार है, उनके दुःख, उनकी व्यथा समझें और अपनी सृजन शक्ति उनके जीवन को उन्नत करने के लिए होम दें यही सच्ची मानवता होगी।

अम्बेडकर के उक्त विचारों को जन मन में प्रचारित करने का कार्य 'दलित साहित्य' के ज़रिए हो रहा है।

इस प्रकार डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की रचनाएँ दलित जनमानस को आंदोलित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती रही हैं। उनकी भाषा-शैली ओजस्वी है और सीधे जीवनानुभूति को शाब्दिक वाणी प्रदान करने का अहम कार्य करते हुए उन्होंने दलितों को जागृत होने का संदेश सुनाया है। इस दृष्टि से जयप्रकाश जी की रचनाएँ वर्तमान संदर्भ में दलित समस्याओं का विवेचन करती हैं।

जयप्रकाश जी का शोध-प्रबंध 'रागदरबारी का समाजशास्त्रीय अध्ययन' इसी श्रृंखला में आनेवाली किन्तु एक संश्लिष्ट रचना है। अब तक अनेक नामवर आलोचकों ने 'रागदरबारी' को आंचलिक उपन्यास की कोटि में रखा किन्तु जयप्रकाश जी इसे आंचलिक उपन्यास न मानकर देश की अंदरुनी व्यवस्था का सजीव प्रतिरूप के रुप में देखते हैं। वास्तविकता भी यही है कि यह उपन्यास सम्पूर्ण देश की व्यवस्था के यथार्थ को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त करता है। यदि शिवपालगंज का समाजशास्त्र देखें तो मानो लगता है यहाँ की चुनाव की प्रणालियाँ, संस्थाओं पर नियंत्रण करने के कुटिल दांव पेंच, विविध संस्थाओं का स्वरूप, अख़बार, विज्ञापन, सरकारी अधिकारी इन सबके माध्यम से शिवपालगंज का समाजशास्त्र ही तो अंकित हुआ है।

मैनेजर पाण्डेय ने साहित्य के समाजशास्त्र के संबंध में लिखा है कि साहित्यिक समाजशास्त्र का लक्ष्य कृति की केवल व्यख्या नहीं। यह काम दूसरी आलोचना पद्धतियों में भी होता है। उसका लक्ष्य साहित्यिक कृति की सामाजिक संदर्भ और सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है।

इस लिहाज से जयप्रकाश जी ने रचना के सामाजिक संदर्भों और उसके सामाजिक अस्तित्व की पड़ताल भली-भाँति की है। एल. बी. राम 'अनंत' ने इस शोध-प्रबंध के संबंध में लिखा है - धर्म, सम्प्रदाय, राजनीति आदि सभी आर्थिक हित, एकाधिकार, शोषण आदि के लिये परिचालित रहते हैं। श्रीलाल शुक्ल ने शिवपाल गंज के जीवन के रूप में जिस भारतीय जीवन को चित्रित किया है, वह पूरे भारत का एक सही नमूना है। इस चित्र को प्रस्तुत करके श्रीलाल शुक्ल ने इसके सुधार का कोई मार्ग नहीं सुझाया है। उन्होंने तो जानलेवा फोड़ा, कैंसर या अन्य भयंकर रोग के रूप में भ्रष्टाचार और अनैतिकता को उसके यथार्थ रूप में अभिधा शक्ति द्वारा नहीं अपितु लक्षणा-व्यंजना शक्तियों द्वारा प्रस्तुत कर दिया है। वे प्रत्येक को प्रेरणा देते हैं कि वह पूरी शक्ति और दृढ़ता से इसका ऑपरेशन करने में जुट जाय नहीं तो देश तो मरेगा ही वह भी रोने के लिये नहीं बचेगा। डॉ. जयप्रकाश कर्दम का यह अध्ययन इस प्रेरणा को बल देकर प्रखर करेगा, आशा यही है।

जयप्रकाश जी ने डॉ. अनंत की आशा को व्यर्थ जाने नहीं दिया है। वे 'रागदरबारी' की रचनात्मकता में छिपे उन तमाम तत्वों की खोज की है जिससे पाठक अनभिज्ञ रहा है। डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर के शब्दों में "वास्तविकता के अनपहचाने, अपरिचित पहलू" को अन्वेषित करते हुए समाज के पक्ष में सही रूपाकार दिया है। इसमें केवल जातिवादी दृष्टिकोण नहीं है बल्कि नवीन अर्थों में जनोन्मुख दृष्टिकोण की सकारात्मक अभिव्यक्ति है। 'राग दरबारी' की अब तक की गयी व्याख्या से अतिशय भिन्न किन्तु तथ्यपरक एवं रोचक और कई विवादों को अनावृत्त करने की क्षमता से भरपूर।

इस प्रकार डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की समग्र रचनाओं में एक पारदर्शिता और समाज में बुनियादी परिवर्तन के लिए आवश्यक चहल-पहल सहजवत दृष्टिगोचर होती है। मेरे शोध का उद्दश्य कर्दम जी की रचना विशेषताओं की गहरी छानबीन रही है और शोध के दौरान मैंने देखा

है कि समाज में आमुलचुल परिवर्तन के लिए विशेष रूप से लेखक की पहल भी बहुत हद तक मायने रखती है। अम्बेडकर की यही आकांक्षा थी कि लेखक वर्ग एकजुट होकर सामले आये और दलितोद्धार का जिम्मा उठाये। कर्दम जी की रचनाओं के पात्र अन्याय सहन करनेवालों में से नहीं है, वे जानते हैं कि अन्याय सहने वाला अन्याय करने वालों से अधिक गुनेहगार होता है। अन्याय का उन्मुलन करने के लिए स्वयं आगे आना और परिवर्तन का जिम्मा उठाना आवश्यक है। शोध के दौरान प्रयास यही रहा है कि रचनाओं की अंतस में कैसा स्वर विद्यमान है, मैंने उसी स्वर की तलाश की है।

5.1. 'इक्कीसवीं सदी में दलित आन्दोलन' - दलित आंदोलन की चुनौतियों का विश्लेषण

कर्दम जी की प्रस्तुत रचना दलित साहित्य के विभिन्न मुद्दों को उजागर करने वाली आलोचनात्मक कृति है। दलितों के रोजमर्रा के जीवन को अभिव्यक्ति देने वाली इस कृति में लेखक ने साहित्य में जातिवाद, दलित साहित्य के प्रति मार्क्सवादी दृष्टिकोण, दलित साहित्य में बौद्ध धर्म की अवधारणा, भाषा, संस्कृति और राष्ट्रीयता का सवाल, सामाजिक न्याय के प्रति मीडिया की भूमिका, जातिवाद के विरोध में धर्मांतरण का विरोध तथा वर्तमान सदी में दलित आन्दोलन की चुनौतियाँ आदि विषयों पर तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

मैक्सिम गोर्की, मुन्शी प्रेमचन्द की साहित्य के प्रति अवधारणा को उजागर करते हुए साहित्य एवं साहित्यकार के दायित्व को रेखांकित किया है। इसीके साथ तुलसीदास तथा रामायण, महाभारत के कुछ आपत्तिजनक अंशों को उजागर करते हुए समाज का निम्न वर्ग के प्रति उनके 'फिक्स नज़रिया' का पर्दाफाश किया है। वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सवर्ण मानसिकता का भी उल्लेख करते हुए साहित्य में जातीय अहं तथा सवर्ण रचनाकारों के मनोविज्ञान पर कटाक्ष किया है।

गौरतलब है कि साहित्य में भी दलितों को लेकर लेखकों-आलोचकों में जातीय अहं काफ़ी गहरा दिखाई देता है। वास्तव में किसी भी इतिहासकार ने सवर्ण लेखकों द्वारा जाति-व्यवस्था के पोषण की प्रवृत्ति को रेखांकित नहीं किया है। लेखक इस बात से इन्कार नहीं करता है कि दलितों के पक्ष में कुछ चुनिंदा लेखकों ने सुलझे हुए विचार प्रस्तुत किए हैं।

लेखक ने लिखा है कि, *"समाज में एक सहज, समान और भ्रातृत्वपूर्ण वातावरण का निर्माण कौन करेगा? इसकी जिम्मेदारी यदि अन्य एजेंसियों की है तो साहित्य की भी है। जब सहज और सामान्य वातावरण मिलेगा तो दलित अपने हीनता-भाव से मुक्त हो सकेगा। उसमें चेतना का संचार होगा और वह अफने हित और उत्थान के प्रति भी जागरूक होगा। इसमें सन्देह नहीं कि दलितों में सामाजिक चेतना का संचार हो जाने पर आर्थिक औ राजनीतिक क्षेत्रों में बहुत बड़ा बदलाव आ सकता है। यह बदलाव देश और समाज के दूरगामी हितों की दृष्टि से बहुत शुभ होगा। इसलिए*

इस बदलाव को लाने में साहित्य को अपनी भूमिका का निर्वाह करना होगा अन्यथा उसकी सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगा रहेगा।"[1] यह तभी संभव होगा जब सवर्ण लेखक अपने जातीय अहं को त्यागकर दलितों के हित की वकालत करेंगे।

लेखक ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि अमूमन हिन्दी साहित्य की औसतन रचनाएँ पुरातन विचारों की ही वकालत करती हैं। आरम्भिक उपन्यासों में वर्णित दलित पात्रों के प्रति हीन भाव तथा सवर्ण पात्रों के प्रति आदरसूचक संबोधन मिलते हैं। लेखक ने प्रेमचन्द की रचनाओं में चित्रित दलित पात्रों की स्थिति को भी रेखांकित किया है। उन्होंने लिखा है कि, *"प्रेमचन्द, गांधी के समकालीन और उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। राजनीति के क्षेत्र में जो हैसियत गांधी की थी, हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कमोबेश वही हैसियत प्रेमचन्द की थी। प्रेमचन्द ने कई उपन्यास और कई सौ कहानियाँ लिखीं। दलित जीवन पर भी कई रचनाएँ उन्होंने लिखी हैं। 'रंगभूमि' उपन्यास का नायक सूरदास चमार है। वह जन्म से अन्धा है, लोगों की दया पर उसकी आजीविका चलती है। 'कायाकल्प' में एक समुदाय के रूप में दलित पात्र आए हैं जो ठाकुर हरिसेवक द्वारा अमानुषिक अत्याचार के शिकार होते हैं। इन दोनों उपन्यासों के पात्र दीन-हीन हैं। 'कर्मभूमि' गूदड़ चौधरी चमार है। विषमता के प्रति उसके मन में असन्तोष है किन्तु उसका असन्तोष कोई विस्फोट नहीं करता। 'गोदान' की सिलिया चमारी का मातादीन पण्डित दैहिक शोषण करता है। उसे एक बच्चे की माँ भी बना देता है किन्तु उसे अपनाता नहीं है। वह उसे रखैल बनाकर रखता है किन्तु पत्नी बनाकर अपने घर नहीं ले जाता है।"*[2] ठीक यही बात पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के उपन्यास 'बुधुआ की बेटी' की राधिका के साथ भी है। यद्यपि गोदान में चमार जाति के लोग मातादीन के मुँह में हड्डी ठुँसकर उसका शूद्रीकरण कर देते हैं लेकिन इससे सिलिया के जीवन में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

---

[1] 'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १९

[2] 'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २१

वास्तव में दलित साहित्य दलित चेतना को विकसित करने एवं उनकी स्थिति में परिवर्तन की बुनियाद पर लिखा जाने वाला साहित्य है। 'बुधुआ की बेटी' में भंगी अपनी मजदूरी बढवाने तथा छोटी-मोटी सुविधा के लिए संघर्ष करते हैं और उसमें उन्हें यश भी प्राप्त होता है। कर्दम जी ने लिखा है कि, *"दलित-चेतना के हित में इसे एक बड़ी या क्रान्तिकारी उपलब्धि कहा जा सकता है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या भंगी लोग सफाईगीरी का घृणित कार्य छोड़ने को कतई तैयार नहीं है? क्या वे मैला ढोने और सफाई करने का कार्य छोड़कर सम्मानजनक कार्य करना नहीं चाहेंगे? क्या उनकी अधिकार चेतना में ये बातें नहीं होंगी? फिर भंगियों के अधिकार संघर्ष के चित्रण में यह चेतना क्यों नहीं हैं? भंगियों का हित इसमें नहीं है कि अपनी मजदूरी बढ़वाने के लिए या कोई अन्य छोटी-मोटी सुविधा पाने के लिए वे एक दिन कूड़ा या मल मूत्र साफ न करें और अपनी बात मनवाकर अगले दिन फिर झाडू-टोकरी हाथ में उठाकर सफाई करने के लिए निरल पड़ें बल्कि उनका हित इसमें है कि वे इस घृणित पेशे को छोड़ें और दूसरे सम्मानजनक कार्यों की ओर प्रवृत्त हों। किन्तु यह चेतना उपन्यास में नहीं है। इसके विपरीत गांधीजी के विचार का पोषण ही इसमें मिलता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना पैतृक धन्धा या पेशा ही अपनाना चाहिए।"*[1]

लेखक दलितों के मंदिर प्रवेश को एक समझौता से अधिक कुछ नहीं मानते। उन्होंने अन्य कई रचनाओं यथा - जगदीशचन्द्र माथुर का उपन्यास 'धरती धन न अपना', भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'सीधी-सच्ची बातें', 'भूले बिसरे चित्र' बाला दुबे का उपन्यास 'मकान-दर-मकान', श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'रागदरबारी', अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल', गोपाल उपाध्याय का उपन्यास 'एक टुकड़ा इतिहास', गिरिराज किशोर का उपन्यास 'यथाप्रस्तावित' आदि का उदाहरण देते हुए यह साबित किया है कि इन रचनाओं में दलित चेतना के अन्य कई आयामों का जिक्र किया जा सकता था लेकिन लेखकों ने अपनी रचनाओं को दलितों की समास्य को उजागर भर किया किन्तु व्यवस्था परिवर्तन का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया।

---

[1] 'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन', जयप्रकाश कर्दम, पृ. २३

बावजूद इसके कर्दम जी ने लिखा है कि, *"बीसवीं शताब्दी के हिन्दी कथा-साहित्य का यह उज्ज्वल पक्ष है कि कुलीनता औ अभिजात्यता की परिधि से बाहर निकलकर उसने समाज के हाशिए पर पड़े मनुष्य की पीड़ा और दर्द को समझने की चेष्टा के साथ-साथ अपनी अस्मिता के लिए उसके संघर्ष को भी अभिव्यक्ति दी है।"*[1]

लेखक ने उन दस्तावेजों का जिक्र किया है जो २० वीं शताब्दी के आरम्भ में दलित लेखकों द्वारा लिखे गए हैं। ऐसी रचनाओं में हिन्दी की पहली दलित कविता हीराडोम की 'अछूत की शिकायत' जो १९१३ में सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई थी का उल्लेख मिलता है। साथ ही लेखक ने भारतेन्दु के समकालीन दलित कवि मार्कण्डे का भी जिक्र किया है जो चिरंजीत के नाम से लिखते थे - जाति से मोची थे। और इलाहाबाद निवासी कवि परसन भी दलित कविताएँ लिखा करते थे। इसी क्रम में लेखक ने अछूतानन्द हरिहर का भी जिक्र किया है जिन्होंने १९१७ में 'हरिहर भजनामाला' नामक रचना लिखी थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि दलित साहित्य की परम्परा काफी पुरानी तथा सुदृढ़ रही है। कर्दम जी के अनुसार *"दलित साहित्य का खजाना आज हर विधा की पुस्तकों से भरा है और जिस तरह से पिछले दो दशकों में हिन्दी में उसने अपनी जड़ों को पुख्ता किया है उसको देखते हुए यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होना चाहिए कि इक्कीसवीं सदी में दलित साहित्य का सूरज अपने आलोक से दुनिया को न सही देश के बहुत बड़े जन-भाग को आलोकित और आन्दोलित करेगा। विरोध के बादल उसे आच्छादित करके नहीं रख सकते।"*[2]

वास्तव में यदि देखा जाए तो *"किसी समाज की प्रगतिशीलता उसकी शिक्षा पर तथा उसका अस्तित्व उसके साहित्य पर निर्भर करता है। साहित्य ही समाज को सचेत और सक्रिय रखता है तथा उसे प्रेरणा और दिशा भी देता है। साहित्य से समाज को ऊर्जा और ताकत मिलती है। साहित्य के अभाव में किसी भी समाज की पहचान और अस्तित्व संकटग्रस्त रहता है। बौद्ध धर्म का उदाहरण हमारे सामने है। भारत से बौद्ध धर्म के उच्छिन्न होने का प्रमुख कारण यही था कि उसका साहित्य नष्ट हो गया था। 'मुर्दा है वह देश जहाँ साहित्य नहीं है' ये शब्द निरर्थक नहीं हैं। इनका अर्थ*

---

[1] 'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३३

[2] 'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ४५

है दलित समाज सदियों से इसीलिए शोषित, उपेक्षित और पिछड़ा रहा क्योंकि उसके पास प्रेरणा और दिशा देने वाला साहित्य नहीं था। इसलिए जितना ज्यादा और सार्थक साहित्य होगा दलित समाज को असमानता, अन्याय और अज्ञानता के अन्धकूप से बाहर निकलने में उतनी ही सरलता होगी। पिछले दो दशकों से जिस तेजी से दलित साहित्य ने हलचल पैदा की है उससे इस दिशा में आश्वस्ति बँधती है। हाँलाकि बहुत से दलित लेखक सेवयं दिग्भ्रमित और दिशाहीन होने के कारण समाज को मुक्ति और प्रगति की सही राह दिखाने की बजाय उलझाने-भटकाने का काम ज़्यादा कर रहे हैं किन्तु अधिसंख्य लेखक सही दिशा में सक्रिय हैं। इसलिए यह उम्मीद रखना बेवजह नहीं होना चाहिए कि साहित्य के मामले में दलित समाज अब दरिद्र नहीं रहेगा।"[1]

इस प्रकार कर्दम जी ने 'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन' में अपनी सुलझे विचारों का परिचय दिया है। उन्होंने चुनिंदा हिन्दी फ़िल्मों का जिक्र करते हुए दलित चेतना को विकसित करने में फ़िल्मों के योगदान पर भी कटाक्ष किया है। 'आक्रोश', 'अंकुर', 'मंथन', 'बेंडिट क्वीन' आदि को उल्लेखनीय तथा दलित चेतना को वाणी देने वाली फ़िल्में बताया है। इस दृष्टि से यह रचना दलित आंदोलन के प्रत्येक पक्ष को उजागर करने का सचेष्ट प्रयास है।

[1] 'इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन', जयप्रकाश कर्दम, पृ. १५१

5.2. 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा' - परिवर्तनकामी चेतना का दस्तावेज

कर्दम जी की प्रस्तुत कृति डॉ. अम्बेडकर के जीवन दर्शन को तथा भारतीय इतिहास में दलितों की स्थिति को रेखांकित किया है। ध्यातव्य है कि भारतीय ही नहीं विश्व के इतिहास में द्वन्द्व का कारण असमानता रहा है। फिर दुनिया की किसी भी क्रांति की बात की जाए उसकी बुनियाद मे यही दिखाई देगा। जबकि इतिहासकारों ने भारत के इतिहास को स्वर्णिम इतिहास कहा है लेकिन दलितों पर हुए अत्याचार का उल्लेख किसी भी इतिहास में दिखाई नहीं देता। भारत में प्राचीन युग से यदि दलितों ने कभी प्रतिकार नहीं किया इसका तात्पर्य यह नहीं कि भारत में शोषण, अन्याय तथा असमानता नहीं रही है। भारत में जितनी असमानता रही है शायद ही किसी अन्य देश में रही हो। कर्दम जी ने लिखा है - *"यह एक त्रासदी है कि सदियों से इस देश का दलित अपमान, परतंत्रता और आर्थिक दरिद्रता का जीवन जीता रहा है। यह जीवन उसने स्वयं स्वीकार नहीं किया बल्कि वर्ण-व्यवस्था के द्वारा उसको ऐसा जीवन जीने के लिए बाध्य किया जाता रहा है। ऐसा नहीं है कि उसने अपने जीवन में बदलाव के लिए प्रयास न किये हों अथवा अपनी सामाजिक स्वतंत्रता के लिए आवाज़ न उठाई हो लेकिन उच्च वर्ग के लोगों द्वारा हमेशा उनके प्रयासों को कुचला गया है, उसकी आवाज़ को दबाया गया है।"*[1]

कर्दम जी ने भारतीय समाज के प्राचीन काल से चले आ रहे रवैये को उक्त पंक्तियों में व्यक्त किया है। इस रचना में कर्दम जी ने भगवान गौतम बुद्ध को दलितों के पक्ष में खड़े होने वाले महापुरुष के रूप में रेखांकित किया जो कि यथोचित भी है। गौतम बुद्ध ही पहले महापुरुष थे जिन्होंने दलितों को समाज में बराबरी का अधिकार देने के लिए समाज के सभी वर्गों से अपील की थी। सही मायने में यदि देखा जाए *तो 'सामाजिक लोकतंत्र'*[2] बुद्ध के समय ही विद्यमान था। लेखक ने इस संदर्भ में विस्तार से चर्चा की है। लेखक ने इसी संदर्भ को उजागर करते हुए लिखा है कि, *"भारत के इतिहास में यह सर्वप्रथम घटना थी कि जब भगवान बुद्ध ने भंगी कहे जाने वाले उपालि जैसे समाज द्वारा उपेक्षित, तिरस्कृत और नीच समझे जाने वाले लोगों को सद्धर्म में*

---

[1] 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ६

[2] 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ७

प्रवृजित किया तथा उन्हें सद्धर्म में दीक्षित कर उनको समता का अधिकार दिया। तदुपरान्त कनिष्क, अशोक और हर्षवर्द्धन प्रभृति इतिहास प्रसिद्ध सम्राटों ने मानवोद्धार हेतु जो महान कार्य किया वह सब 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' की लोककल्याणकारी भावना से ही प्रेरित था।"[1]

साथ ही कर्दम जी ने कार्ल मार्क्स के दर्शन पर भी कटाक्ष किया है। गौरतलब है कि मार्क्स वर्गविहीन समाज के हिमायती थे। और इसी विचारधारा ने रूस में १९१७ में व्यापक पैमाने पर क्रांति को जन्म दिया। लेकिन भारत के संदर्भ में स्थिति भिन्न थी। जहाँ पाश्चात्य देशों में आर्थिक शोषण बुनियादी समस्या थी वहीं इसके विपरीत भारत में सामाजिक शोषण। यही कारण है कि रूस की महान क्रांति के बाद रूस में पिरिस्थितियाँ बदलीं लेकिन भारत में हाल-हाल तक परिस्थितियाँ यथावत बनी रहीं। इन परिस्थितियों को उलटने में अम्बेडकर को अथक परिश्रम करना पड़ा। ध्यातव्य है कि अम्बेडकर मार्क्स के विचारों के बरक्स वर्ग विहीन समाज की अपेक्षा जाति-विहीन समाज की स्थापना के हिमायती थे।

गांधी जी का दलितों के लिए दिया हुआ नाम 'हरिजन' इस बात का प्रमाण था कि गांधी अछूतोद्धार के नाम पर केवल सद्‌भावना व्यक्त कर रहे थे जबकि वे उसी समाज के हिमायती थे और वर्ण-व्यवस्था में विश्वास करते थे। कर्दम जी ने गांधी जी की साजिश को अत्यंत कटु शब्दों में आलोचना की है।

लेखक ने विस्तार से डॉ. अम्बेडकर के विचारों को अपनी इस रचना में उजागर किया है जिसका विवेचन हमने अपने प्रथम अध्याय में किया है।

---

[1] 'अम्बेडकरवादी आन्दोलन : दशा और दिशा', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ८

5.3. 'धर्मांतरण और दलित' - भ्रामक अवधारणा का मूल्यांकन

हाँलाकि कर्दम जी की यह संपादित रचना है लेकिन इस रचना के माध्यम से दलितों के धर्मांतरण के संदर्भ में भारतीय समाज में जो भ्रामक अवधारणाएँ प्रचलित हैं उनका सही मायने में मूल्यांकन किया जा सकता है। लेखक ने अपने संपादकीय में लिखा है कि, *"अभी तक दलित समाज वर्ण-व्यवस्था की परिधि से बाहर (अंत्यज) रहते हुए भी स्वयं को हिन्दू मानकर हिन्दू धर्म से जुड़ा रहा है।"*[1] लेकिन हिन्दू धर्म के तथाकथित अनुयायियों ने इस वर्ग के साथ कभी समानता का व्यवहार ही नहीं किया बल्कि इसके विपरीत उनका शोषण व उत्पीड़न ही किया। समाज व धार्मिक व्यवस्था में उसे समानता, सम्मान का तो दूर मनुष्यत्व का भी दर्जा प्राप्त नहीं हुआ है। आधुनिक काल में बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक तक दलितों के लिए मंदिर प्रवेश निषिद्ध था। ऐसे में दलितों को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता महसूस हुई जहाँ पर उन्हें बराबरी का दर्जा मिले। अतः दलित वर्ग के बहुतायत लोगों ने पहले तो बौद्ध धर्म में फिर इस्लाम व तद्नंतर ईसाई धर्म में धर्मांतरण किया जहाँ पर उन्हें बराबरी का दर्जा मिला।

डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं बोद्ध धर्म में दीक्षा ली थी और अपने साथ कई अनुयायियों को बोद्ध धर्म में परिवृजित किया था। लेखक ने धर्मांतरण की धारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है - *"धर्म एक सामाजिक व्यवस्था है। समाज की संरचना और नियंत्रण में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वस्तुतः धर्म का अभिप्राय एक जीवन-पद्धति या आचरण की एक संहिता से है जो व्यक्ति के रूप में और समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति की क्रियाओं को नियंत्रित करती है। चूँकि धर्म एक सामाजिक व्यवस्था का नाम है और अनेक धार्मिक व्यवस्थाएँ दुनिया में मौजूद है, ऐसे में व्यक्ति उसी व्यवस्था को अपनाएगा अपवाद को छोड़कर अपनाना चाहेगा जो उसके अनुकूल हो। धर्म मनुष्य की सामाजिक आवश्यकता है। वह धर्म-विहीन होकर समाज में नहीं रह सकता। समाज में जीने के लिए उसे धर्म का आलम्ब चाहिए ही। इसलिए दलितों को भी अपने लिए किसी न किसी धर्म का आलम्ब चाहिए।"*[2] इसी आलम्ब की तलाश में दलितों ने हिन्दू धर्म का त्याग

---

[1] 'धर्मांतरण और दलित', जयप्रकाश कर्दम, देखिए संपादकीय वक्तव्य।

[2] 'धर्मांतरण और दलित', जयप्रकाश कर्दम, देखिए संपादकीय वक्तव्य।

कर दूसरे धर्म की पनाह ली है।

भारत की धरती में उपजे धर्मों में सिख धर्म की बात की जाती है लेकिन इस धर्म में भी भेदभाव दृष्टिगोचर होता है। मानव-प्रेम, मानव-कल्याण, मानव-करूणा और मानवीय समता के आधार पर इस धर्म की स्थापना हुई थी लेकिन व्यावहारिकता में दलितों के लिए कोई साम्य नहीं है।

कहना न होगा कि, *"भारत में अस्तित्वमान इन सभी धर्मों में से कोई भी धर्म दलितों को मनुष्य का समान अधिकार और सम्मान नहीं देता जो कि उनकी सबसे पहली आवश्यकता है। प्रत्येक धर्म में उनके साथ उपेक्षा और अपमान का व्यवहार होता है और कम या ज़्यादा प्रायः सभी धर्मों में विवेक और विज्ञान की बजाए आडम्बर और विश्वासों पर जोर है।"*[1] ऐसे में दलितों के पास धर्मांतरण के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं रह जाता है। यदि वे इन्हीं धर्मों का पल्ला पकड़े रहें तो जीवनपर्यंत ठोकरें और गुलामी करनी पड़ती। अतः कर्दम जी ने प्रस्तुत पुस्तक में विविध विद्वानों के आलेखों को संकलित कर धर्मांतरण के सकारात्मक पहलुओं को उजागर किया है। डॉ. अम्बेडकर ने भी जाति-भेद को धर्मांतरण का सबसे बड़ा निशाना बनाया था।

कर्दम जी ने लिखा है - *"धर्मांतरण के पीछे मुक्ति की चाह है और केवल धर्मांतरण करने मात्र से दलितों की मुक्ति होने वाली नहीं है। यह मान लेना बहुत बड़ी भूल होगी कि धर्मांतरण करने मात्र से सामाजिक, आर्थिक विषमताओं के दल-दल में फंसे दलितों की सारी समस्याओं का समाधान हो जाएगा और वे प्रगति और विकास के पथ पर सरपट दौड़ना शुरू कर देंगे। धर्मांतरण तभी कारगर होगा जब चेतना विकसित होगी। इनमें से किसी एक के भी अभाव में दलित वह नहीं पा सकते हैं जो उनका लक्ष्य है।"*[2]

स्वामी विवेकानन्द ने धर्मांतरण को अनुचित करार देते हुए कहा है कि, *"यदि हिन्दू समाज का एक सदस्य धर्मान्तरित होता है तो समाज की एक संख्या ही कम नहीं होती बल्कि हिन्दू समाज*

---

[1] 'धर्मांतरण और दलित', जयप्रकाश कर्दम, देखिए संपादकीय वक्तव्य।

[2] 'धर्मांतरण और दलित', जयप्रकाश कर्दम, देखिए संपादकीय वक्तव्य।

का एक शत्रु बढ़ जाता है।"[1]

वहीं एक प्रश्न यह उठता है कि यदि हिन्दू समाज में समानता की भावना हो तो फिर दलित धर्मांतरण के पक्ष में क्योंकर खड़े होंगे। तभी तो रघुवीर सिंह लिखते हैं कि, *"भूमंडलीकरण एवं विश्व बन्धुत्व की धारणा से प्रभावित इस वैज्ञानिक युग में मानव को उन्हीं मूल्यों की आवश्यकता है जो उसे धर्म जाति के किसी संप्रदाय रूपी पाश से मुक्त कर आदमी को आदमी समझने में सहायक हों। प्रश्न दलित अदलित का न होकर मानव का है। परन्तु नैसर्गिकता को ध्यान में रखते हुए, किसी मानवतावादी धर्म, समता, समानता, बन्धुत्व जैसे मानवीय मूल्य, साक्षरता, सहयोग की उन्हें अधिक आवश्यकता है जिन्हें धर्म एवं जाति के नाम पर शोषित बनाकर रखा गया है, जिन्होंने हज़ारों वर्षों से अत्याचार, असमानता, विषमता, निरक्षरता व शोषण को झेला है।"*[2]

कहना न होगा कि कर्दम जी ने अपनी इस संपादित रचना के माध्यम से धर्मांतरण की अवधारणा का सही मूल्यांकन किया है तथा इस बात पर ज़ोर दिया है कि दलितों के लिए धर्मांतरण मुख्य नहीं बल्कि समानता, सदाचार, सम्मान तथा समान अधिकारों की आवश्यकता है। हिन्दू समाज ने इस वर्ग को इन्हीं बुनियादी बातों से वंचित रखा, अतः मजबूरन दलितों के एक प्रचंड वर्ग ने अन्य धर्म को अपनाया जो कि उनके मानवीय हितों की उपेक्षा नहीं करता है।

---

[1] 'धर्मांतरण और दलित', जयप्रकाश कर्दम, देखिए पृ. ६५ पर ईश कुमार गंगानिया का आलेख 'धर्मांतरण : समाज और हिन्दू मानस'।

[2] 'धर्मांतरण और दलित', जयप्रकाश कर्दम, देखिए पृ. ७३ पर रघुवीर सिंह का आलेख 'धर्मांतरण एवं दलित समाज'।

5.4. 'चमार' - चमार जाति की दयनीय स्थिति का सांख्यिकीय दस्तावेज

यह रचना मूलतः जी.डब्लू. ब्रिग्गस द्वारा लिखित 'दि चमार्स' का कर्दम जी द्वारा हिन्दी अनुवाद है। इस रचना के संदर्भ में लेखक ने लिखा है - *"इस पुस्तक को लिखने का उद्देश्य चमारों की स्थिति का यथार्थ एवं न्यायपूर्वक पूर्ण विवरण प्रस्तुत करना रहा है। इसके लिए अनेक जातियों ती सामान्य विशेषताओं तथा कुछ भिन्नताओं सहित पर्याप्त सामग्री शामिल की गई है।.... इस अध्ययन का आधार संयुक्त प्रांत के चमार रहे हैं, किन्तु बारत के अन्य भोगों के चमार और चर्मकारों के विषय में भी जानकारी दी गई है।"*[1]

पुस्तक के विवेचन में यह दिखाई देता है कि उत्तर-पश्चिम के चमार पंजाब के मिथ्या विश्वासों से प्रभावित रहे हैं, जबकि पूर्व के चमारों पर विंध्यावासियों के अनोखे विश्वासों की छाप है। पुस्तक में जिस समय का उल्लेख आया है उससे यह पता चलता है कि चमार जाति तथा उसकी सभी उपजातियाँ अंधश्रद्धा के शिकार थे। अतः अंधविश्वासों को लेकर तरह-तरह के उदाहरण भी मिलते है। आत्मा-प्रेत, भूत-पिशाच्च इत्यादि का वर्णन भी दिखाई देता है। वहीं चमार जाति के रीति-रिवाज तथा समाजार्थिक जीवन का यथार्थपरक विवेचन मिलता है।

चमार जाति प्राचीन काल से ही चमड़ी का कार्य करती आयी है और इसलिए भी इन्हें दलितों में शामिल किया गया। मृतक प्राणियों की चमड़ी उतारकर ये लोग पादत्राण इत्यदि बनाया करते थे जो कि कर्माधारित समाज से लेकर आज तक निम्न कोटि का कार्य माना जात रहा है। लेखक ने उनकी दशा का भी विवेचन किया है।

अध्ययन के दौरान एक तथ्य सामने आता है कि चमारों में बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित थी। लेखक ने लिखा है - *"उपपत्नी अथवा रखैल रखने तथा बहुपत्नी प्रथा के सिद्धांतों के तहत एक से अधिक पत्नियाँ रखने की प्रथा आम बात है।"*[2] लेकिन यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इसमें महिलाओं की सलाह भी ली जाती थी। अर्थात् महिलाओं को घर के अंदर गुलाम का जीवन व्यतीत नहीं करना पड़ता था।

---

[1] 'चमार', जी. डब्लू.ब्रिग्गस, अनु. जयप्रकाश कर्दम, देखिए लेखकीय पृष्ठ।

[2] 'चमार', जी. डब्लू.ब्रिग्गस, अनु. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ३१

वहीं अंधविश्वास को लेकर लेखक ने लिखा है - *"भूत-प्रेत या आत्माओं आदि में विश्वास की भावना तो चमारों में जैसे कूट-कूट कर भरी है। उनके लिए निर्जीव वस्तुएँ, पेड़-पौधे, जानवर यहाँ तक कि मरे हुए आदमियों की आत्माएँ भी पूजा के योग्य हैं जो उनके दिलो-दिमाग पर छाई हुई हैं। प्रकृति में घटने वाली साधारण घटनाओं को भी रहस्यमय तरीके से कहा व सुना जाता है। इतना ही नहीं, जीवन के हर मोड़ पर होने वाले अनुभव को भी किसी अदृश्य शक्ति के चमत्कार के रूप में बताया जाता है। इन अशिक्षित लोगों के लिए मानो जिंदगी के हर उतार-चढ़ाव उस अदृश्य शक्ति की माया/विलक्षण शक्ति पर निर्भर करते हैं।"*[1]

इस प्रकार इस रचना में चमारों में व्याप्त तमाम सकारात्मक एवं नकारात्मक बातों का बेबाक वर्णन मिलता है। वैसे यह रचना दलित चेतना के संदर्भ में कुछ खास मायने रखने वाली रचना सिद्ध नहीं होती। हाँ चमारों के जीवन का पूरा सजीव तथा तथ्यपरक-तर्कसंगत चित्रण इस रचना की महत्वपूर्ण विशेषता कही जा सकती है।

[1] 'चमार', जी. डब्लू.ब्रिग्गस, अनु. जयप्रकाश कर्दम, पृ. १०१

5.5. 'बौद्ध धर्म के आधार स्तम्भ' - बौद्ध परिव्राजकों का इतिहास

प्रस्तुत पुस्तक में बौद्ध धर्म की महान विभूतियों की जीवनियों का उल्लेख मिलता है। इस पुस्तक के संदर्भ में प्रकाशक ने लिखा है - *"ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भगवान गौतम बुद्ध द्वारा सारनाथ में धम्मचक्र प्रवर्तन दुनिया के धार्मिक इतिहास की एक महान घटना थी। इस घटना से भारत के धार्मिक-सामाजिक जीवन में एक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ जिसने दुनिया के बहुत बड़े मानव-समुदाय को प्रभावित किया और कुछ ही शताब्दियों के भीतर बौद्ध धर्म भारत की सीमा से बाहर निकलकर पूरी दुनिया में फैल गया। बौद्ध धर्म के इस सम्यक् आन्दोलन को आगे बढ़ाने तथा इसके विकास को एक आयाम देने में बहुत से विद्वानों, दार्शनिकों, उपदेशकों, सम्राटों और दानी श्रेष्ठियों का स्तुत्य योगदान रहा है। ये विभूतियाँ बोद्ध धर्म के आधार स्तम्भ हैं। इनमे से कुछ को छोड़कर, बहुत कम लोग इनके विषय में जानते हैं। बौद्ध धर्म और दर्शन के कुशल अध्येता और प्रख्यात लेखक डॉ. जयप्रकाश कर्दम ने पहली बार बौद्ध धर्म के इन आधार स्तम्भों के परिचय इस पुस्तक में दिए हैं।"*[1]

इस पुस्तक में गौतम बुद्ध, सारिपुत्र, महामोदगल्यायन, महाकश्यप, आनन्द, उपालि, भद्रा कुण्डलकेश, भद्रा कपिलायनी, विशाखा, पटाचारा, कृशा गौतमी, आम्रपाली, जीवक, नागसेन, नागार्जुन आर्यदेव, मोग्गलिपुत्र तिष्य अशोक, अश्वघोष, बुद्धयश, कुमारजीव, बुद्धघोष, असंग, वसुबन्धु, फाह्यान, दिग्नाग्, परमार्थ, धर्मकीर्ति, चन्द्रकीर्ति, हवेन्सांग, इत्सिंग, शान्तिदेव, शान्तिरक्षित, श्रीज्ञान दीपंकर 'अतिश', बुस्टोन, लामा तारानाथ, अनागरिक धर्मपाल, शेरबात्स्की, डॉ. अम्बेडकर, राहुल सांक्रत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, भिक्षु जगदीश कश्यप औ दलाई लामा आदि का परिचय दिया गया है जो दलित साहित्य के अध्येताओं के लिए ही नहीं बल्कि सभी बोद्ध धर्म के संदर्भ मे रुचि रखने वाले विद्वानों के लिए महत्वपूर्ण साबित होगी।

---

[1] 'बोद्ध धर्म के आधार स्तम्भ', जयप्रकाश कर्दम, पृ. देखिए फ्लैप।

5.6. 'जाति : एक विमर्श' - परंपरागत जाति-व्यवस्था पर एक महत्वपूर्ण दस्तावेज

यह रचना भी अनुदित एवं संपादित है। इसमें लेखक ने जाति के संदर्भ में कुछ उल्लेखनीय आलेखों को संपादित कर पुस्तक आकार में प्रकाशित किया है। इसमें लेखक ने जाति के परम्परागत ढ़ाँचे को भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में विवेचित करने का प्रयास किया है। उल्लेखनीय है कि भारतीय परिवेश में जाति एक ऐसा फैक्टर है जिसके बिना भारत की पूर्णतः व्याख्या संबव नहीं बन पड़ती।

यहाँ का समाज कई जातियों तथा उप जातियों में बँटा हुआ है। सामाजिक सौहार्द तथा भाईचारे, प्रेम के विकास में यही घटक अक्सर बाधक बनकर सामने आया है। भारत हिन्दू धर्म बहुल राष्ट्र है और इस धर्म में जितनी जातियाँ व उपजातियाँ हैं उतनी शायद ही किसी राष्ट्र में होंगी।

हिन्दू धर्म में 'सो कॉल्ड' ब्राह्मण जाति जो अल्पसंख्यक होने के बावजूद भी बहुसंख्यक पर अपना दबदबा कायम कर अपना लोहा मनवाते आयी है। और जाति-व्यवस्था को और अधिक पुख्ता करती आयी है। कर्दम जी ने अपने संपादकीय वक्तव्य में लिखा है कि, *"जाति तोड़ने की दिशा में पहला बड़ा प्रयास आर्य समाजी नेता संतराम, बी.ए., भाई परमानन्द और उनके सहयोगियों ने 'जाति-पांत तोड़क मंडल' की स्थापना करके किया।"*[1] इसके बाद तो फूले-अम्बेडकर तथा अन्य समाज सुधारक संस्थाओं ने भारत की जाति आधारित छवि में परिवर्तन करने के लिए लगातार प्रयास किए।

कर्दम जी ने इस पुस्तक में आदिम काल से लेकर रामायण-महाभारत, वेद-उपनिषद, गीता आदि में जाति-व्यवस्था के स्वरूप को उजागर किया है। एच. एल. भास्कर ने अपने आलेख में जाति की आड़ में की जानेवाली राजनीति को जाति-व्यवस्था को बनाए रखने में जिम्मेदार माना है तथा लिखा है कि, *"कास्ट डिसएबीलिटीज रिमूवल एक्ट १८५० से लेकर वर्तमान संवैधानिक आरक्षणों तक सभी प्रयत्न आंसू पोंछने के लिए पर्याप्त थे मगर दशा सुधारने में अक्षम। जिस*

---

[1] 'जाति : एक विमर्श', सं. जयप्रकाश कर्दम, पृ. संपादकीय वक्तव्य।

व्यवस्था की जड़ें जन-मानस में अमरबेल की भाँति छा गई हो उन्हें कानून और राजनीति की कैंची दूर नहीं कर सकती। आप एक ओर काटते रहिए दूसरी ओर फैलती रहेगी। उसके फैलाव को रोकने के लिए तो वृक्ष गुल्मों और ग्रंथियों से आच्छादित हो जाएगा।"[1]

पूरी पुस्तक में संकलित आलेखों में जाति के परम्परागत स्वरूप की जमकर आलोचना की गयी है। डॉ. डी. आर. जाटव ने जातिवाद को खत्म करने की अपील करते हुए शोषित वर्ग के पक्षधर्ता चिंतकों को उद्धृत किया है और लिखा है कि, *"चार्वाक, महावीर, बुद्ध, कबीर, नानक, अछूतानन्द, फूले, आगरकर, लोहिया, अम्बेडकर आदि ने छुआछूत की सम्पूर्ण धारणा पर प्रहार किया। इनके विचारों का केन्द्र-बिन्दु यही था कि वर्ण, जाति एवं छुआछूत को साथ-साथ समाप्त किया जाए अन्यथा मात्र जाति या छुआछूत मिटाने की बात अधूरी है। ध्यान रहे वर्ण विध्वंसकों को सदैव हिन्दू धर्म एवं समाज की मुख्य धारा से पृथक् करने का प्रयास किया गया है। वर्णगत जातिवाद का विद्रोही बनने का भय यदि किसी के मन में है, तो वह जाति तोड़ो अभियान में रंचमात्र भी योगदान नहीं दे सकता।"*[2]

वहीं सन्तराम बी.ए. ने लिखा है - *"भारत की सबसे महान व्याधि जो इसे ले डूबी है, हिन्दुओं की जन्ममूलक ऊँच-नीच की दुर्भावना अर्थात् जात-पांत। एक समय था जब खश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक सारा देश हिन्दू होता था। इतना ही क्यों, नौवीं शताब्दी में काबुल में भी पाल वंश के हिन्दू राजा राज करते थे। परंतु आज हम देखते हैं कि आधा पंजाब मुसलमान हो गया, आधा बंगाल मुसलमान हो गया है और आधा मद्रास ईसाई हो गया है। अनंत छोटी-छोटी जातियों में बंटे होने के कारण सब हिन्दू मिलकर विदेशी आक्रामकों का सामना नहीं कर सके। हिन्दू ऊपर से चाहे एक राष्ट्र दिख पड़ते हों, परंतु भीतर से झांका जाए तो इनकी जितनी जातियाँ*

---

[1] 'जाति : एक विमर्श', सं. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ५३ पर एच. एल. भास्कर का आलेख 'जतिवाद और नवोदित अभिजात्य के विरुद्ध अखिल भारतीय आंदोलन की दिशा और रूप-रेखा'।

[2] 'जाति : एक विमर्श', सं. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ७१ पर डॉ. डी. आर. जाटव का आलेख 'जातिवाद के उन्मूलन में सुधारवादी सामाजिक संस्थाओं का योगदान'।

औ उपजातियाँ हैं उतने ही अलग-अलग राष्ट्र हैं।"[1] इस प्रकार प्रस्तुत रचना में संकलित आलेखों में चौंका देने वाले उदाहरण मिलते हैं जो जाति की पुरातन परम्परावादी सोच से लेकर आधुनिक विचारधारा तक का विस्तार से वर्णन करते हैं।

---

[1] 'जाति : एक विमर्श', सं. जयप्रकाश कर्दम, पृ. ९७ पर सन्तराम बी.ए. का आलेख 'इस महाव्याधि को मिटाइए'।

5.7. 'रागदरबारी का समाजशास्त्रीय अध्ययन' - वास्तविकता के अनपहचाने एवं अपरिचित पहलू

प्रस्तुत रचना जयप्रकाश जी का शोध-प्रबंध है किन्तु समाज की नूतन व्याख्या करकने वाली रचना शैली की श्रृंखला में आनेवाली किन्तु एक संश्लिष्ट रचना है। अब तक अनेक नामवर आलोचकों ने 'रागदरबारी' को आंचलिक उपन्यास की कोटि में रखा किन्तु जयप्रकाश जी इसे आंचलिक उपन्यास न मानकर देश की अंदरुनी व्यवस्था का सजीव प्रतिरूप के रुप में देखते हैं। वास्तविकता भी यही है कि यह उपन्यास सम्पूर्ण देश की व्यवस्था के यथार्थ को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त करता है। यदि शिवपालगंज का समाजशास्त्र देखें तो मानो लगता है यहाँ की चुनाव की प्रणालियाँ, संस्थाओं पर नियंत्रण करने के कुटिल दांव पेंच, विविध संस्थाओं का स्वरूप, अख़बार, विज्ञापन, सरकारी अधिकारी इन सबके माध्यम से शिवपालगंज का समाजशास्त्र ही तो अंकित हुआ है।

मैनेजर पाण्डेय ने साहित्य के समाजशास्त्र के संबंध में लिखा है कि साहित्यिक समाजशास्त्र का लक्ष्य कृति की केवल व्यख्या नहीं। यह काम दूसरी आलोचना पद्धतियों में भी होता है। उसका लक्ष्य साहित्यिक कृति की सामाजिक संदर्भ और सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है।

इस लिहाज से जयप्रकाश जी ने रचना के सामाजिक संदर्भों और उसके सामाजिक अस्तित्व की पड़ताल भली-भाँति की है। एल. बी. राम 'अनंत' ने इस शोध-प्रबंध के संबंध में लिखा है - *"धर्म, सम्प्रदाय, राजनीति आदि सभी आर्थिक हित, एकाधिकार, शोषण आदि के लिये परिचालित रहते हैं। श्रीलाल शुक्ल ने शिवपाल गंज के जीवन के रूप में जिस भारतीय जीवन को चित्रित किया है, वह पूरे भारत का एक सही नमूना है। इस चित्र को प्रस्तुत करके श्रीलाल शुक्ल ने इसके सुधार का कोई मार्ग नहीं सुझाया है। उन्होंने तो जानलेवा फोड़ा, कैंसर या अन्य भयंकर रोग के रूप में भ्रष्टाचार और अनैतिकता को उसके यथार्थ रूप में अभिधा शक्ति द्वारा नहीं अपितु लक्षणा-व्यंजना शक्तियों द्वारा प्रस्तुत कर दिया है। वे प्रत्येक को प्रेरणा देते हैं कि वह पूरी शक्ति और दृढ़ता से इसका ऑपरेशन करने में जुट जाय नहीं तो देश तो मरेगा ही वह भी रोने के लिये नहीं बचेगा। डॉ. जयप्रकाश कर्दम का यह अध्ययन इस प्रेरणा को बल देकर प्रखर करेगा, आशा*

यही है।"[1]

जयप्रकाश जी ने डॉ. अनंत की आशा को व्यर्थ जाने नहीं दिया है। वे 'रागदरबारी' की रचनात्मकता में छिपे उन तमाम तत्वों की खोज की है जिससे पाठक अनभिज्ञ रहा है। डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर के शब्दों में "वास्तविकता के अनपहचाने, अपरिचित पहलू" को अन्वेषित करते हुए समाज के पक्ष में सही रूपाकार दिया है। इसमें केवल जातिवादी दृष्टिकोण नहीं है बल्कि नवीन अर्थों में जनोन्मुख दृष्टिकोण की सकारात्मक अभिव्यक्ति है। 'राग दरबारी' की अब तक की गयी व्याख्या से अतिशय भिन्न किन्तु तथ्यपरक एवं रोचक और कई विवादों को अनावृत्त करने की क्षमता से भरपूर।

---

[1] 'रागदरबारी का समाजशास्त्रीय अध्ययन', जयप्रकाश कर्दम, पृ. ६-७

निष्कर्ष

कर्दम जी की उपरोक्त रचनाओं का विवेचन करते हुए यह महसूस होता है कि लेखक में रचनात्मकता के साथ-साथ संपादन एवं अनुवाद में भी दक्षता का परिचय दिया है। बहरहाल उक्त रचनाओं में कर्दम जी ने जाति, समाज तथा व्यवस्था के संबंध में सधे हुए विचार प्रस्तुत किए हैं। कर्दम जी ने समाज को जो अच्छा लगे वही नहीं लिखा है बल्कि जो सत्य है उसे वाणी दी है। समाज में जब मान-मर्यादा की पुरातन धारा प्रवाहित हो तो क्या नैतिक ऐर क्या अनैतिक भेद करना कठिन हो जाता है।

कर्दम जी ने जातिगत बुराइयों को हर तरह से चित्रित किया है और उनके सहयोगी रचनाकारों के आलेख भी बखूबी दो टूक बयान करते हैं। जहाँ भय हो उस समाज का कभी भी काया पालट नहीं हो सकता तथा यदि दलित-पीड़ित अपनी स्थिति को उजागर करने से चूक गये तो आनेवाली कई सदियों तक भी उनको समानता का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। लेखक ने इस बात कीओर भी इंगति किया है।

इस प्रकार कुल मिलाकर कर्दम जी की रचनाएँ दलितवादी चेतना को विकसित करने में मिल का पत्थर साबित होती हैं। दलित आंदोलन और दलित चेतना को विकसित करने मं कर्दम जी की प्रत्येक रचना उतनी ही महत्वपूर्ण है जितना कि फूले-अम्बेडकर के विचार।

उपसंहार

हिन्दी में दलित साहित्य की परिभाषा को लेकर भ्रम की स्थिति है, जो कि काफ़ी हद तक प्रायोजित है। जबकि मराठी में ऐसी स्थिति नहीं है, उसका दलित साहित्य काफ़ी समृद्ध है। ज्योतिबा फुले तथा डॉ. अम्बेडकर जैस महान विभूतियों के युग प्रवर्तक विचारों से वह पल्लवित हुआ है तथा समाज सुधारकों के सान्निध्य-संरक्षण में पल्लवित-पुष्पित मराठी का दलित साहित्य इस तरह के सभी विवादों से ऊपर उठ चुका है। हिन्दी में जो वर्ग लम्बे समय से दलित-साहित्य की ज़रूरत व अस्तित्व को नकार रहा था, उसी का एक हिस्सा आज के बदले हुए परिस्थिति में दलित साहित्यकार बन उसकी दिशा को भ्रमित कर रहा है।

अमूमन यह कहा जाता है कि दलित शब्द नया है, परन्तु दलितपन पुराना है। ज़ोर देकर कहना चाहूँगा कि एक विशेष वर्ग का शोषण एवं उत्पीड़न सदियों से चला आ रहा है। हर युग में साहित्यकार उस पर अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते आये हैं। लेकिन आज दलित जीवन की व्यथा-कथा को वाणी देने वाली जो रचनाएँ आ रही हैं, उसकी भले हा एक सुदीर्घ-लम्बी परम्परा नहीं है लेकिन इसकी असीम संभावनाएँ अवश्य हैं। कर्दम जी की रचनाएँ इस बात के लिए प्रमाण सिध्द होती हैं कि दलित साहित्य का फलक काफ़ी चौड़ा है। दलित साहित्य की सबसे अन्यतम विशेषता है उसका भावबोध और उसके अभ्यंतर से प्रस्फुटित होने वाली शाब्दिक अभिव्यक्ति। दलित साहित्य में भोगे हुए यथार्थ को ही अभिव्यक्ति मिली है जो कि दलित साहित्य की माँग है और जो रचना दलित साहित्य के दायरे में रहकर स्वानुभूत यथार्थ को अभिव्यक्त नहीं करती वह दलित साहित्य के दायरे में नहीं आती।

इसीलिए एक बात बारंबार उठती है कि दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य कहलाया जाना चाहिए। दलितेतर रचनाकार द्वारा लिखित दलितों के जीवन को उद्बोधित करने वाली रचना को इस कोटि में न रखा जाए। वास्तव में यह मांग भी जायज है। क्योंकि दलितों

ने जो सदियों से भोगा है वह दलितेतर रचनाकार ने भोगा नहीं है। जिन परिस्थितियों का सामना दलितों ने किया है उसे केवल दलित ही बयान कर सकता है। अतः रचना दलित रचनाकार की परिस्थितयों को वाणी देती है, जो कि अन्य रचनाकारों के साथ संभव नहीं।

कोई भी रचना या रचनाकार अपनी परिस्थिति की उपज होता है। जीवन के कड़वे अनुभव को वह अपनी वाणी के माध्यम से व्यक्त करता है। सृजन की बुनियाद ही रही - दर्द, पीड़ा, दुःख एवं त्रासदी इत्यादि। इस दृष्टि से यदि देखा जाए तो डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की हर रचना स्वानुभूत यथार्थ की अभिव्यक्ति है। उनकी हर रचना समाजगत कालबाह्य रुढ़ियाँ, जीवन यथार्थ को बयान करती हैं और दलित संत्रास को एक ऐसा धरातल प्रदान करती है जहाँ आकर दलित वर्ग की समस्याएँ स्वयं बोलने लगती हैं। समाज में व्याप्त न केवल जातीय बल्कि आर्थिक एवं मूलभूत अधिकारों की असमानता, संसाधनों का असंतुलित बँटवारा, राजनीतिक दम्भ इत्यादि यथार्थ निरुपण उनकी साहित्यिक विशेषता मानी जा सकती है। रचना में अंतःसलिला की भाँति एक अंडरटोन प्रवाहमान है, सुविधाभोगी वर्ग के प्रति एक आक्रोश है जो सहज दृष्टिगोचर होता है।

डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी ने मैक्सिम गोर्की और मुंशी प्रेमचंद को बारंबार पढ़ा है। उनके अनुसार मैक्सिम गोर्की का उपन्यास 'माँ' और उसे पढ़कर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। गोर्की की तीन खंड़ों में प्रकाशित आत्मकथा 'मेरा बचपन', 'मेरा विश्वविद्यालय' एवं 'जीवन की राहों पर' को पढ़कर उन्हें लगा कि यदि गोर्की का जीवन समर इतना भयावह होते हुए भी वे मिसाल कायम कर सकते हैं तो हम भी जीवन में कोई-न-कोई बेहतर पहल कर सकते हैं। मुंशी प्रेमचंद से तो वे इतने प्रभावित थे कि उनका अनुकरण करते हुए उन्होंने भी दर्शनशास्त्र विषय का चयन किया। ऐसे महान लेखकों को पढ़ते-पढ़ते उनकी भाव प्रवणता ने अपना रंग दिखाया और इस प्रकार सन् १९८३ ई. में उनकी पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'वर्तमान दलित आंदोलन' प्रकाशित हुई। इसके बाद इनका रचनाकर्म अविरत जारी है और कई महत्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

कर्दम जी ने अपने जीवन का वो हर पहलू रचना के ज़रिए अभिव्यक्त किया है जो उन्होंने अपने बाल्यकाल से झेला है। दलितों के लिए डॉ. अम्बेडकर द्वारा किये गये विशाल जनांदोलन

का एख परिणाम हुआ कि अरसे से अपने दलितपन में जीवन जीने वाले दलितों में चेतना उत्पन्न हुई और वे अपने अधिकारों के प्रति सजग हो गए। कर्दम जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से उसी जागरूकता अभियान को जारी रखने का अथक एवं बेबाक प्रयास किया है। उनकी रचना का हर पात्र इस बात पर ज़ोर देता है कि समाज में समानता होनी चाहिए। 'कल्याणी' का रमेश, 'छप्पर' का सुक्खा, हरिया, चन्दन, 'साँग' की चम्पा, 'मूवमेन्ट' की सुनीता अथवा 'मोहरे' का सत्यप्रकाश या 'तलाश' का रामबीर सिंह दलित चेतना को उभार देने में कहीं से कोई कसर नहीं छोड़ते।

यद्यपि इनमें से कुछ पात्र दलित न होते हुए भी दलितों के पक्षधर्ता हैं जैसे 'तलाश' का रामबीर सिंह। लेकिन वह यह समझ गया है कि समय के साथ-साथ मूल्य भी कालबाह्य सिद्ध होते हैं अतः दलितों के साथ भेदभाव करना न्यायोचित नहीं है। ठीक उसी प्रकार 'छप्पर' में ठाकुर की पुत्री रजनी में इस चेतना को देखा जा सकता है। इसी चेतना को जगाने के लिए डॉ. अम्बेडकर ने अथक प्रयास किए थे। आज आज़ादी के साठ वर्षों के बाद कहा जा सकता है कि फूले-अम्बेडकर के परिश्रम व्यर्थ नहीं गए। इसी बात को कर्दम जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। दलित साहित्य की लहर ने समाज में नूतन चेतना को डंके की पीट पर विकसित किया है। मराठी से उपजा यह आंदोलन आज अखिल भारतीय साहित्यांदोलन का रूप ग्रहण कर चुका है। दलित चिंतक डॉ. एन. सिंह ने बखूबी लिखा है कि, *'किसी भी प्रकार की नूतन चेतना अब साहित्य में अभिव्यक्ति पाती है।'*[1]

इसमें कोई दोहमत नहीं कि समाज में दलितों को लेकर सवर्णों के विचारों में काफ़ी परिवर्तन आया है। कर्दम जी ने इस बदलाव को भी अभिव्यक्त किया है। अन्यथा अमूमन यह देखा गया है कि कुछ लेखक आज भी ठीक उसी समाज के चलन को अभिव्यक्त करते हैं जो ९० के दशक में हुआ करता था। २१ वीं सदी में आकर भारतीय समाज की रुढ़ मानसिकता में परिवर्तन सहजवत देखा जा सकता है।

---

[1] 'अंगूत्तर', अप्रैल-जून १९९५, पृ. ६१

डॉ. अम्बेडकर द्वारा किये गये चवदार तालाब या कालाराम मंदिर प्रवेश सत्याग्रह के सीधे परिणाम आज दूर-दराज के गाँवों में भी देखे जा सकते हैं। पहले दलितों के लिए अलग से कुएँ या बोअरवेल हुआ करते थे और सवर्ण वर्ग के लोग उन्हें अपने कुएँ और बोअरवेल से दूर रखा करते थे वहीं आज सभी एकत्रित एक ही जगह का पानी पीते हुए दिखाई देते हैं। अतः पुनः वही ९० के दशक का अलाप समाज हित में नहीं है। अब लेखन की विषय-वस्तु अधिक विस्तृत होनी चाहिए। इस बात का जायजा कर्दम जी की रचनाओं में मिलता है। लेखक ने अपने उपन्यास 'छप्पर' के अंत तक आते-आते ठाकुरों के विचारधारा में जो परिवर्तन दर्शाया है वह इस बात का प्रमाण है कि समाज मे काफ़ी जागृति आ गई है।

दलित आंदोलन जिन बातों के विरोध में उपजा था वे बातें समाज से १०० प्रतिशत न सही लेकिन औसतन रूप में समाप्त हो चुकी हैं। यदि यह कहा जाए कि आज दलित आंदोलन सफलता के कगार पर है तो अत्युक्ति नहीं होगी। फूले दम्पत्ति ने दलित समाज को सुशिक्षित करने का जो सपना देखा था और स्वयं अपने बूते पर शिक्षा का प्रसार किया था वह आज सफल हुआ है। कर्दम जी जैसे अनेकानेक लोग आज सुशिक्षित होकर दलित समाज का नेतृत्व कर रहे हैं। फूले-अम्बेडकर की मेहनत ज़ाया नहीं गयी बल्कि आज उनकी बदौलत समाज का एक नवीन तथा संतुलित रूप देखने को मिल रहा है।

आज समाज से बदनी जाट की उद्दण्डता, ठाकुरों-जमींदारों का आतंक और पण्डे-ब्राह्मणों की कुटिलता लगभग घटी है। आज़ादी से पूर्व और आज़ादी के बाद तथा ८०-९० के दशक के बाद के भारतीय समाज में जमीं-आसमाँ का अंतर दिखाई देता है। सम्पूर्ण विश्व में दलित आंदोलन जैसा शायद ही ऐसा कोई आंदोलन हुआ हो जिसने समाज की धारा को नवीन मोड़ दिया हो। प्रायः नामवर आलोचक इस बात का दावा करते आए हैं कि भारत में समाजिक परिवर्तन के नाम पर कभी भी आमूलचूल परिवर्तन सम्भव नहीं लेकिन कहना न होगा कि दलित आंदोलन ने भारतीय परिवेश में जो परिवर्तन किया है वह कुछ कम नहीं है। आज हम जब प्राचीन भारत के इतिहास

पर कटाक्ष करते हैं तो संज़ीदगी से महसूस करते हैं कि दलित आंदोलन ने भारतीय समाज के बद्धमूल स्वरूप को एक नवीन आकार दिया है। आज दलित वर्ग के नेता भी दलितों की अगुवाई करते हुए नज़र आते हैं। आज हर बड़े ओहदे पर दलित ब्यूरोक्रेट दिखाई देते हैं। कर्दम जी ने अपनी प्रत्येक रचना में भारत के इस अखिल भारतीय दलित आंदोलन के माध्यम से उपजी दलित चेतना को व्यापक परिदृश्य में प्रस्तुत किया है।

हांलाकि किसी भी भाव की प्रथम अभव्यक्ति काव्य के ज़रिए ही होती है। ठीक इसी तर्ज़ पर यदि कहें तो दलित साहित्य का आविर्भाव भी कविता से ही हुआ है, यद्यपि हिन्दी में मराठी जैसी समृद्ध दलित साहित्य की परम्परा नहीं है, किन्तु आज हिन्दी दलित साहित्य किसी मायने में कम नहीं है।। डॉ. एन. सिंह ने हिन्दी दलित साहित्य के संदर्भ में लिखा है - *'किसी भी प्रकार की नूतन चेतना अब साहित्य में अभिव्यक्ति पाती है, तो उसका स्वाभाविक स्वरूप कविता ही होती है। लेकिन उसकी चरम परिणति उपन्यास में होती है। हिन्दी में दलित चेतना की अभिव्यक्ति भी पहले कविता में ही हुई। इसे चाहे रैदास से माने, चाहे उससे पूर्व, जो हीरा-डोम से होती हुई वर्तमान समय तक आती है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के साथ ही कथा-साहित्य में भी दलित चेतना की अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर होने लगी। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के दो लघु उपन्यास - 'बिल्लेसुर बकरिहा' तथा चतुरी चमार, प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ - 'सद्गति', 'ठाकुर का कुँआ', 'घासवाली', 'मंत्र', 'मंदिर और बाबा का भोग' आदि। अमृतलाल नागर का उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल', गिरिराज किशोर के दो उपन्यास - 'परिशिष्ट' तथा 'यथा प्रस्तावित' के अतिरिक्त हरिसुमन बिष्ट का उपन्यास 'आसमान झुक रहा है' मे बाकायदा दलित उत्पीड़न, शोषण अभिव्यक्त हुआ ही दलितों के सामाजिक, आर्थिक, मानसिक शोषण के भी कई सजीव चित्र यहाँ उपस्थित हैं।'*[1]

कर्दम जी ने भी कविता के माध्यम से दलित चेतना को उजागर किया है और उनके लेखन की चरम परिणति भी कथा-साहित्य में ही दिखाई देती है। न केवल कर्दम जी बल्कि अन्य दलित रचनाकारों ने कथा-साहित्य में दलित चेतना के ठोस उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। वास्तव में यदि देखा

[1] 'अंगूत्तर', अप्रैल-जून १९९५, पृ. ६१

जाए तो आज के कथा-साहित्य में बाकायदा दलित शोषण, उत्पीड़न तथा दलितों के समाजार्थिक एवं मानसिक शोषण के कई श्लाघनीय चित्र उपस्थित हैं। मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि इत्यादि दलित लेखकों का योगदान भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

बहरहाल, डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की रचनाएँ दलित जनमानस को आंदोलित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती रही हैं। उनकी भाषा-शैली ओजस्वी है और सीधे जीवनानुभूति को शाब्दिक वाणी प्रदान करने का अहम कार्य करते हुए उन्होंने दलितों को जागृत होने का संदेश सुनाया है। इस दृष्टि से जयप्रकाश जी की रचनाएँ वर्तमान संदर्भ में दलित समस्याओं का विवेचन करती हैं।

इस प्रकार डॉ. जयप्रकाश कर्दम जी की समग्र रचनाओं में एक पारदर्शिता और समाज में बुनियादी परिवर्तन के लिए आवश्यक चहल-पहल सहजवत दृष्टिगोचर होती है। मेरे शोध का उद्दश्य कर्दम जी की रचना विशेषताओं की गहरी छानबीन रही है और शोध के दौरान मैंने देखा है कि समाज में आमुलचुल परिवर्तन के लिए विशेष रूप से लेखक की पहल भी बहुत हद तक मायने रखती है। अम्बेडकर की यही आकांक्षा थी कि लेखक वर्ग एकजुट होकर सामले आये और दलितोद्धार का जिम्मा उठाये। कर्दम जी की रचनाओं के पात्र अन्याय सहन करनेवालों में से नहीं है, वे जानते हैं कि अन्याय सहने वाला अन्याय करने वालों से अधिक गुनेहगार होता है। अन्याय का उन्मुलन करने के लिए स्वयं आगे आना और परिवर्तन का जिम्मा उठाना आवश्यक है। शोध के दौरान प्रयास यही रहा है कि रचनाओं की अंतस में कैसा स्वर विद्यमान है, मैंने उसी स्वर की तलाश की है।

आधार ग्रंथ

क्र.सं. आधार ग्रंथ	लेखक का नाम	प्रकाशक	संस्करण
१. अंबेडकरवादी आंदोलन : दशा और दिशा	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	संगीता प्रकाशन, ३०/६४, गली नं.८, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-३२	प्र.सं.१९९१
२. इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन (साहित्य एवं समाज-चिंतन)	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	पंकज पुस्तक मंदिर, ७७/१, ईस्ट आजाद नगर, दिल्ली-५१	प्र.सं.२००४
३. करुणा (बौद्ध पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास)	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	भारत सावित्री प्रकाशन, मेरठ रोड, गाजियाबाद (उ.प्र.)	प्र.सं.१९८६
४. गूंगा नहीं था मैं	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	अतिश प्रकाशन, पॉकेट, एफ-१, ९-बी, डी.डी.ए (एम.आई.जी) फ्लैट जी-८ एरिया, हरिनगर, दिल्ली-६४	---
५. चमार	जी.डब्लू.ब्रिग्गस अनु. जयप्रकाश कर्दम	समता प्रकाशन, ३०/६४, गली नं. ८, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-३२	प्र.सं.१९९७
६. छप्पर	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	राहुल प्रकाशन, विश्वास नगर, दिल्ली-३२	द्वि.सं.२००७
७. जाति : एक विमर्श	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	नवभारत प्रकाशन, डी-६२६, गली नं. ८, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली -३२	द्वि.सं.२००४
८. तलाश	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	विक्रम प्रकाशन, ई-११/५, कृष्णनगर, दिल्ली-५१	प्र.सं.२००५
९. तिनका तिनका आग	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	विक्रम प्रकाशन, ई-११/५, कृष्णनगर, दिल्ली-५१	प्र.सं.२००४

१०. दलित साहित्य (वार्षिकी)	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	सी. १९, डीडीए फ्लैट, ईस्ट ऑफ लोदी रोड, दिल्ली - ९३	---
११. धर्मांतरण और दलित	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	अतिश प्रकाशन, ९ बी, पॉकेट एफ-१, जी-८ एरिया, हरिनगर, दिल्ली-६४	प्र.सं.२००२
१२. बौद्ध धर्म के आधार स्तंभ	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	डब्ल्यू.जेड.ए, गली नं. ८, कृष्णा पार्क, तिलक नगर, दिल्ली - १८	प्र.सं.१९९९
१३. रागदरबारी का समाज-शास्त्रीय अध्ययन	डॉ. जयप्रकाश कर्दम	अतिश प्रकाशन, ९बी, पॉकेट, एफ-१, जी-८ एरिया, हरिनगर, दिल्ली-६४	प्र.सं.२०००

संदर्भ ग्रंथ सूची

क्र.सं.	संदर्भ ग्रंथ	लेखक का नाम	प्रकाशक	संस्करण
०१.	अपने-अपने पिंजरे	मोहनदास नैमिशराय	वाणी प्रकाशन, २१ ए, दरियागंज, नई दिल्ली-०२	प्र.सं.१९९५
०२.	अम्बेडकर मेमोरियल लेक्चर्स	बी.आर.के.अय्यर	नई दिल्ली	प्र.सं.१९७६
०३.	अम्बेडकरवादी विचार-धारा और समाज	सं. तेज सिंह	स्वराज प्रकाशन, दिल्ली-८५	प्र.सं.२००८
०४.	अस्पृश्यता एवं दलित चेतना	डॉ. पूरणमल	श्रीमती शशि जैन जयपुर, राजस्थान - ३०२ ००३	---
०५.	अस्मिता की तलाश	रूपा सिंह	अयन प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली	प्र.सं.१९९९
०६.	आज़ादी और इंक़लाब	जी. पी. मिश्र	'उज्ज्वल ध्रुवतारा' प्रकाशन, ११/४, बाई का बाग, इलाहाबाद	प्र.सं.२०१०
०७.	आदिवासी भारत	योगेश डाटल	अभिनव प्रकाशन, दिल्ली,	प्र.सं.१९८०
०८.	आधुनिकता के आइने में दलित	अभय कुमार दुबे	वाणी प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.२००२
०९.	आधुनिक भारत में जातिवाद	एम. एन. श्रीनिवास	मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल (म.प्र.)	प्र.सं.१९८१
१०.	आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन	एम. एन. श्रीनिवास	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., ८ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-०६	प्र.सं.१९७५
११.	इक्कीसवीं सदी में अम्बेडकर	रघुवीर सिंह	अतिश प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं.२००१

१२. २१ वीं सदी में दलितों की सत्ता में भागीदारी	कमलकान्त प्रसाद	उत्तर प्रदेश	प्र.सं.२००३
१३. उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य	कृष्णदत्त पालीवाल	वाणी प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.२००८
१४. ओरिजिन एंड ग्रोथ ऑफ कास्ट इन इंडिया	एन.के.दत्त	कलकत्ता	प्र.सं.१९६८
१५. कला, साहित्य और संस्कृति	ई.एम.एस.नंबुदि (अनु. शशिबाला शर्मा)	नेशनल बुक सेंटर, नई दिल्ली	प्र.सं.१९८२
१६. कौटिल्य का सामाजिक वैर	डॉ. धर्मवीर	संगीता प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.१९९६
१७. गांधी-अम्बेडकर-हरिजन	शौराज सिंह बेचैन	समता प्रकाशन, नई दिल्ली	---
१८. गिरवी है जनतंत्र	सोहन शर्मा	उज्ज्वल ध्रुवतारा प्रकाशन, वाराणसी	प्र.सं.२००७
१९. जाति और वर्ग	बी. टी. रणदिवे	नेशनल बुक सेंटर, दिल्ली	प्र.सं.१९८३
२०. जाति धर्म और सांप्रदायिकता	शैलेन्द्र शैली	लोकजतन प्रकाशन, भोपाल	प्र.सं.२००३
२१. जाति वर्ग और व्यवसाय	गोविंद सदाशिव धुर्ये	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली	प्र.सं.१९७८
२२. जूठन	ओमप्रकाश वाल्मीकी	राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., जी-१७, जगतपुरी, दिल्ली-५१	---
२३. झोपड़ी से राजभवन	माता प्रसाद	नमन प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली-२	प्र.सं.२००२
२४. डॉ. अम्बेडकर : जीवन और आदर्श	रामलाल विवेक	मालिक एण्ड कंपनी, जयपुर	---
२५. डॉ. अम्बेडकर और दलित आंदोलन	डॉ. धर्मवीर	शेष साहित्य प्रकाशन, ३०/६४, गली नं.८, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२	प्र.सं.१९९०
२६. डॉ. अम्बेडकर : संपूर्ण वाङमय (खण्ड-१४)	उमराव सिंह	डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली	प्र.सं.१९९८

२७. डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर रायर्टिंध्रैं एण्ड स्पीचेज-१३	डॉ. अम्बेडकर	महाराष्ट्र सरकार प्रकाशन, मुंबई	प्र.सं.१९९४
२८. तिरस्कृत	सूरजपाल चौहान	अनुभव प्रकाशन, साहिबाबाद, गाजियाबाद, (उ.प्र.)	प्र.सं.२००२
२९. तेलुगु साहित्य में दलित दस्तक	सं. रमणिका गुप्ता एवं डॉ. वी. कृष्णा	नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग	प्र.सं.२००१
३०. दलित कहाँ जाए	विजयलाल आर्य	संस्था प्रकाशन, दयानंद भाग, दरियागंज, दिल्ली	---
३१. दलित क्रांति दर्शन	रामलाल विवेक	संघी प्रकाशन, हजारीबाग	प्र.सं.१९९१
३२. दलित चेतना	रमणिका गुप्ता	नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग	प्र.सं.१९९८
३३. दलित चेतना एवं अस्पृश्यता	डॉ. पुरणमल	पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर	प्र.सं.१९९९
३४. दलित चेतना का साहित्य	रमणिका गुप्ता	नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग	---
३५. दलित चेतना की कहानियाँ : बदलती परिभाषाएँ	राजमणि शर्मा	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं.२००८
३६. दलित चेतना : नए शहर की तलाश में	डॉ. एन. सिंह	नई दिल्ली	प्र.सं.१९९७
३७. दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार	रमणिका गुप्ता	शिल्पायन, शाहदरा, दिल्ली	प्र.सं.२०००
३८. दलित पीड़ा	डॉ. पी. एस. वर्मा	विमुक्त जाति प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं.१९९२
३९. दलित युवकों का परिवर्तित दृष्टिकोण	डॉ. जगदीश सिंह राठौड	सुमन प्रकाशन, अशोक नगर, शाहदरा, नई दिल्ली	प्र.सं.१९९४
४०. दलित राजनीति की समस्याएँ	राज किशोर	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं.२००६
४१. दलित लेखन	मुद्राराक्षस	उत्तर प्रदेश	प्र.सं.१९९७

४२. दलित विमर्श की भूमिका	कंवल भारती	इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद	प्र.सं.२००२
४३. दलित साहित्य चिंतन के विविध आयाम	डॉ. एन. सिंह	आम प्रकाशन, मुंबई-६७,	प्र.सं.१९९६
४४. दलित साहित्य और सामाजिक न्याय	डॉ. पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी	समता प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.१९९७
४५. दलित साहित्य : सृजन के संदर्भ	डॉ. पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी	कामना प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.१९९९
४६. दलित साहित्य का सौर्न्दयशास्त्र	शरण कुमार लिंबाले	वाणी प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.२०००
४७. दलित साहित्य का सौर्न्दयशास्त्र	ओमप्रकाश वाल्मीकी	राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., जी- १७, जगतपुरी, नई दिल्ली	प्र.सं.२००१
४८. दलित समस्या जड़ में कौन?	इन्तिजाम नईम	सौरभ प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं.२००१
४९. दलितों के रूपांतरण की प्रक्रिया	डॉ. नरेन्द्र सिंह	राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली	प्र.सं.१९९३
५०. दूसरी दुनिया का यथार्थ	रमणिका गुप्ता	नवलेखन प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.१९९७
५१. दोहरा अभिशाप	कौसल्या बैसंत्री	परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीत विहार दिल्ली-०९	---
५२. प्राचीन भारत की संस्कृतिऔर सभ्यता	डॉ. कोसाम्बी	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नयी दिल्ली	प्र.सं.१९७७
५३. प्रेमचन्द के उपन्यास	तुलसीनारायण सिंह	समानान्तर प्रकाशन, ७/७, दरियागंज, नई दिल्ली-०२	प्र.सं.१९९७
५४. बस्स! बहुत हो चुका	ओमप्रकाश वाल्मीकि	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली	प्र.सं.१९९७
५५. भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या	जगजीवन राम	राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली	प्र.सं.१९८१
५६. भारतीय दलित आंदोलन	मोहनदास नैमिशराय	बुक्स फॉर चेंज, नई दिल्ली-४९	प्र.सं.२००४

५७. भारतीय दलित समस्या एवं समाधान	रामगोपाल सिंह	प्रियंका प्रिंटर्स, कस्तुरबा नगर, भोपाल	प्र.सं.१९८६
५८. मेरा सफर मेरी मंजिल	डी. आर. जाटव	समता साहित्य सदन, ४०, मीना कॉलोनी जयपुर	प्र.सं.२०००
५९. युग पुरुष बाबासाहेब अंबेडकर (संघर्ष गाथा)	हिमांशु राय	समता प्रकाशन, शाहदरा, नयी दिल्ली	प्र.सं.१९९३
६०. वर्ण और जाति धर्म	पं. फूलचंद्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, लोधी रोड, दिल्ली	प्र.सं.१९८४
६१. शूद्रों का प्राचीन इतिहास	रामशरण शर्मा	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नयी दिल्ली	प्र.सं.१९८६
६२. शूद्रों का प्राचीन इतिहास	डॉ. रामशरण शर्मा	ज्ञान-विज्ञान प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.२०००
६३. सदियों का संताप	ओमप्रकाश वाल्मीकि	समता प्रकाशन, दिल्ली	प्र.सं.१९९०
६४. संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर	उदयाचल प्रकाशन, पटना	प्र.सं.१९७७
६५. सांप्रदायिकता और भारतीय राजनीति	रजनी कोठारी	रेनबो पब्लिशर्स लिमिटेड, दिल्ली	प्र.सं.१९९८
६६. हिन्दी साहित्य में दलित चेतना	आनन्द भास्कर	विद्या विहार, कानपुर	प्र.सं.१९८६

पत्र-पत्रिकाएँ

क्र.सं.	*पत्रिका का नाम*	*संपादक*	*स्थान*
०१.	अपेक्षा (त्रैमासिक)	सं. तेजसिंह	---
०२.	अन्यथा (मासिक)	सं. कृष्ण किशोर	लुधियाना
०३.	आदिवासी सप्ताह	सं. परदेशी राम वर्मा	छत्तीसगढ़
०४.	आलोचना	अरुण कमल	नई दिल्ली
०५.	आश्वस्त	सं. तारा परमार	उज्जैन
०६.	तद्भव (दलित विशेषांक)	सं. अखिलेश	लखनऊ
०७.	दलित साहित्य (वार्षिकी)	सं. जयप्रकाश कर्दम	नई दिल्ली
०८.	नया ज्ञानोदय	सं. रवीन्द्र कालिया	नई दिल्ली
०९.	युद्धरत आम आदमी (त्रैमासिक)	सं. रमणिका गुप्ता	नई दिल्ली
१०.	वागर्थ	सं. विजय बहादुर सिंह	कोलकाता
११.	समयांतर	सं. पंकज बिष्ट	नई दिल्ली
१२.	हंस	सं. राजेन्द्र यादव	नई दिल्ली